Dynamic RELIGIOUS SERIES

नारदस्मृति

DYNAMIC
Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

डा. राम कुमार वर्मा "शास्त्री"

कृष्णा समूह

भारत के लब्ध प्रतिष्ठ प्रकाशन समूहों में से एक कृष्णा समूह आज किसी परिचय का मोहताज नहीं है। इस समूह ने स्वतंत्र भारत के 6 दशकों में अपनी गौरव-गरिमा के शानदार पड़ाव तय किये हैं। आज भारत भर में शैक्षिक उन्नयन व विकास के लिए कृष्णा की भूमिका को अत्यंत सम्मान के साथ देखा जाता है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं के माध्यम से देश के शीर्षस्थ पदों पर विराजमान अधिकारी अपनी कामयाबी का संपूर्ण श्रेय कृष्णा प्रकाशन की उत्कृष्ट पुस्तकों को देते हैं। भारत के कोने-कोने में इस प्रकाशन समूह की उच्चस्तरीय कृतियों की अनुगूंज है। कृष्णा प्रकाशन समूह एक ऐसा समूह है जिससे आज प्रत्येक प्रतिष्ठित लेखक जुड़ने को उत्सुक है जबकि प्रत्येक मेधावी युवा इसकी पुस्तकों को अंगीकार करना चाहता है।



नई दिल्ली के प्रगति मैदान में '15वें विश्व पुस्तक मेले' के अवसर पर 'डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लि. के समारोह को सम्बोधित करते उप प्रधानमंत्री श्री लाल कृष्ण आडवाणी।

इस समूह की संपूर्ण सफलता का श्रेय समूह के चेयरमैन श्री सत्येन्द्र कुमार रस्तौगी को जाता है, जिनकी अद्वितीय प्रतिभा, विलक्षण अनुभव, दूरदर्शिता, सटीक निर्णय तथा रचनात्मक व सृजनात्मक व्यक्तित्व के कुशल मार्गदर्शन की छत्र-छाया में कृष्णा रूपी पौधा अत्यधिक पुष्पित-पल्लवित हो रहा है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री रस्तौगी भारत में एक नई सृजनात्मक क्रांति को फलीभूत होते देखने के इच्छुक हैं। वे कागज तथा कलम की सकारात्मक उपलब्धियों के पृष्ठ पोषक हैं। **डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लि.** कृष्णा समूह की नवोदित प्रकाशन संस्था है जहां से प्रकाशित पुस्तकें लोकप्रियता के नये आयाम स्पर्श कर रही हैं। निश्चित रूप से वो दिन दूर नहीं जब भारत की सरहद के उस पार अन्य देशों में भी कृष्णा समूह की कीर्ति पताका पूरी आन-बान-शान से फहरा रही होगी।

('मीडिया फीचर्स ऑफ इण्डिया' के जनरल से साभार)

नारदस्मृति

'आज उपलब्ध स्मृतियों में 'नारद स्मृति' का अपना अलग ही महत्व है। इसमें जैसा संक्षिप्त, तर्कसंगत, उपयोगी, व्यावहारिक एवं आवश्यक विवेचन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नारदस्मृति में आचार संहिता, व्यवहार-पद, दण्ड-प्रणाली तथा राजधर्म का जैसा उत्कृष्ट, वैज्ञानिक, तर्कयुक्त, युक्तिसंगत, सरल एवं संक्षिप्त परिचय दिया गया है, वह अपने आप में अनुपम एवं अद्वितीय है।'

DYNAMIC

Read Dynamic !
To Be Dynamic !!

Dynamic Religious Series

नारदस्मृति

रूपान्तरकार

डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री

एम.ए. (हिन्दी-संस्कृत) एम.ओ.एल. पी.एच.डी.

DYNAMIC

डायनेमिक पब्लिकेशंस (इण्डिया) लि॰

11, शिवाजी मार्ग, मेरठ (उ.प्र.)

Dynamic Religious Series

नारदस्मृति

Code No. : Q 3-1
ISBN-81-7933-116-4

डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री

Price : **Rs.90.00**

Published by : S.K. Rastogi for KRISHNA PRAKASHAN MEDIA (P) LTD.
11, Shivaji Road Meerut. Pin : 250001 (U.P.)
Ph : 0121-2642946, 2644766, Fax : 0121-2645855
E-mail : sk_kpm@yahoo.com

Type Setting by : P.M. Books, Meerut 0121-2531788

Cover Designed by : Zius Graphic Arts, Meerut. 0121-2510493

Printed at : Chawla Offset Printers, Meerut. 0121-2650274, 2661646

Cover Printed at : Dharmesh Art Process, Delhi. 011-5708762, 5708662

प्राक्कथन

'साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है और स्मृतियां अपने युग में प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओं, मान्यताओं, धार्मिक रूढ़ियों तथा आचार-विचारों का संकलन है।' इस सन्दर्भ में देखने पर प्राचीन भारत के गौरवमय होने, अतीत के उज्ज्वल होने तथा मनु की गर्वोक्त—विश्व के लोग भारतीयों से आदर्श व्यवहार का प्रशिक्षण प्राप्त करें—पर सहसा विश्वास नहीं होता।

जिस युग में स्त्रियों और शूद्रों को व्यक्ति न समझ कर वस्तु समझा जाता हो, उनका क्रय-विक्रय किया जाता हो, उन्हें बन्धक रखा जाता हो, उनसे किसी भी प्रकार की सेवा—देह-शोषण ही नहीं, देह-व्यापार तक करने—लेने की पुरुष को स्वच्छन्दता-स्वतन्त्रता हो, उन पर क्रूरतापूर्ण अत्याचार को भी अधिकार माना जाता हो, उस युग को स्वर्णिम युग मानने में हमें तो औचित्य दिखायी नहीं देता।

जिस युग में न्याय-व्यवस्था तथा दण्ड-प्रणाली भेद-भावपूर्ण हो, एक ही अपराध के लिए विभिन्न वर्णों के लोगों को मृदु, मध्यम और कठोर दण्ड देने का विधान हो, उस युग को स्वर्णिम युग कैसे माना जा सकता है?

जिस युग में समाज वर्ण-व्यवस्था को महत्त्व देता हो और वर्ण-व्यवस्था केवल जन्म पर आधृत हो, ब्राह्मण को उचित-अनुचित कुछ भी करने की छूट हो, राजा को उसे दण्ड देने का अधिकार तक न हो, उस युग को स्वर्णिम युग मानना क्या अटपटा नहीं लगता?

हमारे विचार में आर्य लोग जब ईरान (ईरानम्-आर्याणाम्) से भारत (दक्षिण भारत) पहुंचे होंगे, तो उस समय आर्यों में दो प्रकार के लोग रहे होंगे—गुरु तथा शिष्य। गुरु केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं, अपितु शस्त्र-विद्या में भी पारंगत थे। राम को धनुर्विद्या सिखाने वाले विश्वामित्र थे, भीष्म और कर्ण के शिक्षक परशुराम ब्राह्मण ही थे, भृगु ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ की रक्षा की थी। वाल्मीकि ने लव-कुश को धनुर्विद्या की शिक्षा दी थी। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, वसिष्ठ और भरद्वाज सभी दोनों—शास्त्र और शस्त्र—विधाओं में निष्णात थे, परन्तु मूलतः वे सभी शिक्षक ही थे, सामान्य स्थिति में वे युद्ध-संघर्ष से दूर रहकर तप-साधना और शास्त्र-चिन्तन करते थे। शिष्य ही सभी गतिविधियों में सक्रिय रहते थे। आगे चलकर गुरुओं को ब्राह्मण और शिष्यों को क्षत्रिय कहा जाने लगा। आर्य विजेता थे और भारत की

जलवायु को अनुकूल पाकर वे स्थायी रूप से यहां बस गये थे। अतः उन्हें यहां के मूल निवासियों से सम्पर्क बनाना ही पड़ा होगा।

आर्यों ने अपनी कूटनीति और चतुराई का आश्रय लेकर यहां के लोगों को दो वर्गों (आगे चलकर वर्ग ही वर्ण बन गया) में बांट दिया। समृद्ध और प्रबुद्ध वर्ग को विपन्न, अशिक्षित और दरिद्र वर्ग से तोड़कर अपने साथ मिला लिया, उन्हें यज्ञोपवीत धारण करने, वेदाध्ययन करने और यज्ञ-यागादि करने का अधिकार देकर वैश्य (विशः = प्रजाः ऋग्वेद) के रूप में अपने साथ मिला अवश्य लिया, परन्तु आर्यों ने वैश्य के रूप में परिगणित लोगों को सदैव अपने से नीचे रखा। जिस प्रकार गुरु-रूप में मान्य ब्राह्मण ने शिष्य (क्षत्रिय) से अपने को ऊपर बनाये रखा, उसी प्रकार आर्यों ने अपने को वैश्यों से ऊपर बनाये रखा। जिस प्रकार ब्राह्मण की वरीयता को स्वीकार करना क्षत्रियों की विवशता थी, उसी प्रकार विजेता आर्यों की वरीयता को स्वीकार करना पराजित द्रविड़ों की भी विवशता थी। वस्तुतः पराजित को विजेता की सधारण उदारता भी वरदान के समान प्रतीत होती है। इतिहास में अकबर की उदारता की प्रशंसा इसका एक सजीव उदाहरण है।

यहां इस तथ्य की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा कि आर्यों ने भारत में अपने पैर जमाते समय आपस में सौहार्द-सौमनस्य का अद्‌भुत परिचय दिया। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग में विभक्त आर्यों ने अनार्यो के विषय में मतैक्य बनाये रखा और '**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**' के कथन को यथार्थ में ही चरितार्थ कर दिखाया। इसी से उनकी उन्नति और प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

द्रविड़ों में विभाजन का बीज बोने में सफल आर्यों ने शूद्रों का जमकर शोषण किया, जिसे पढ़-सुनकर किसी का भी सिर लज्जा से झुके बिना नहीं रहता।

आर्यों ने भारत में अपने पैर दृढ़ता से जमा लेने के उपरान्त जिस समाज-व्यवस्था, न्याय-प्रणाली, दण्ड-संहिता, आचार-परम्परा तथा रीति-नीति का प्रवर्तन किया, उन्हीं का लिपिबद्ध रूप स्मृतियां हैं।

स्मृतियों की रचना के पीछे एक अन्य मान्यता यह भी है कि जब आदिम मानव यायावरी जीवन से ऊब गया होगा व स्थायी निवास बनाने को उत्सुक हुआ होगा, तो उसके मन में अपनी आजीविका के स्थायी साधनों को खोजने की, सञ्चय की, सम्पत्ति बनाने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया होगा। इसी के साथ उसने प्राणों की, सम्मान की तथा सुरक्षा की आवश्यकता भी अनुभव की होगी। इसी तथ्य को महाभारत के शान्तिपर्व में इस प्रकार स्वीकार किया गया है—

राजा चेना भवे लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः॥

अर्थात् राजा के भय से समाज में बड़ी मछली छोटी मछली को नहीं निगल

पाती। इस प्रकार सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही शासन-प्रणाली का जन्म तथा दण्ड-संहिता का प्रवर्तन हुआ होगा, जिसका लेखा-जोखा स्मृति ग्रन्थ हैं।

स्मृति ग्रन्थों में कतिपय उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—

भगवान् शंकरकृत—वैशालाक्ष, देवराज इन्द्रककृत—बाहुदन्तक, देवगुरु बृहस्पतिकृत नीतिशास्त्र, दैत्यगुरु शुक्राचार्य द्वारा रचित नीतिशास्त्र, महर्षि वैशम्पायन कृत नीतिशास्त्र आदि। आज उपलब्ध स्मृतियों में प्रमुख हैं—मनुस्मृति, याज्ञवल्क्वय-स्मृति, विष्णुस्मृति, नारदस्मृति आदि।

स्वयं देवर्षि नारद ने निम्नोक्त पूर्ववती स्मृतिकारों का उल्लेख इस प्रकार से किया है—

उपलब्ध स्मृतियों के सभी स्मृतिकारों ने समान रूप से मनु महाराज को अत्यन्त महत्त्व और गौरव दिया है। मनुस्मृति की सर्वाधिक प्रसिद्धि तथा प्रचलन भी इसकी सर्वाधिक लोकप्रियता का प्रमाण है, परन्तु 'नारदस्मृति' को देखने पर हमें अपनी धारणा को बदलना पड़ा है। इसमें जैसा संक्षिप्त, तर्कसंगत, उपयोगी, व्यावहारिक एवं आवश्यक्त विवेचन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें आचार-संहिता, व्यवहार-पद, दण्ड-प्रणाली तथा राज-धर्म का जैसा उत्कृष्ट, वैज्ञानिक, तर्कपरक, युक्तियुक्त, सरल एवं संक्षिप्त परिचय दिया गया है, वह अपने आप में अनुपम एवं अद्वितीय है। स्मृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर पाठकों को हमारे कथन की सत्यता का ज्ञान स्वतः हो जायेगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक महोदय ने इस बहुमूल्य (दुर्लभ) ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित करके न केवल हिन्दी जानने वालों का, अपितु इस ग्रन्थ से अपरिचित संस्कृत के ज्ञाताओं का भी महान् उपकार किया है। आशा है कि प्राचीन साहित्य के अनुरागी प्रकाशक महोदय के इस प्रयास का अभिनन्दन करेंगे और उन्हें दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना में संलग्न रहने के लिए उत्साहित करेंगे।

—रामचन्द्र वर्मा

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

इस संसार के सभी प्राणियों का व्यवहार के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन करने के रूप में कल्याण करने के लिए तथा आचार-परम्परा की सुरक्षा के लिए[1] भगवान्[2] मनु ने सर्वप्रथम 'मनुस्मृति' के रूप में लोकप्रसिद्ध धर्मशास्त्र की रचना की।

इस प्रकार स्मृतिकार नारद मनु को प्रथम स्मृतिकार मानते हैं और स्मृति-रचना के दो उद्देश्य स्वीकार करते हैं—प्रथम, लोगों का पथ-प्रदर्शन करना, अर्थात् करणीय-अकरणीय का बोध कराकर उन्हें सत् के ग्रहण और असत् के परित्याग का दिशा-निर्देश करने के रूप में उनका कल्याण करना तथा द्वितीय, आचार-परम्परा को संरक्षण प्रदान करना, अर्थात् ऋषियों की धरोहर को लुप्त होने से बचाने के रूप में उसे भावी पीढ़ी को सौंपना।

मनुस्मृति की अनुक्रमणिका का परिचय देते हुए नारदजी कहते हैं—उस ग्रन्थ में एक लाख श्लोकों और एक हजार आठ अध्यायों में निबद्ध निम्रोक्त चौबीस प्रकरण हैं—(1) विश्व की उत्पत्ति, (2) प्राणियों का विभाजन, (3) उत्तम देश (आर्यावर्त्त) का प्रमाण—विस्तार, सीमाएं आदि, (4) राज्य परिषद् का लक्षण—गठन, स्वरूप तथा महत्त्व आदि, (5) वेदों तथा वेदांगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष के अनुसार विभिन्न यज्ञों—अश्वमेध आदि—तथा यागों के अनुष्ठान का विधान, (6) आचार, अर्थात् सदाचार, (7) लोक-व्यवहार, (8) कण्टकशोधन (शत्रुनाश), (9) राजा के लिए धर्म-रूप में आचरणीय नियमों का विधान, (10 - 11) वर्ण तथा आश्रम का विभाग, (12) विवाह, (13) न्याय, (14) स्त्रियों तथा पुरुषों के वैकल्पिक—असामान्य स्थिति में किये

---

1. धर्म की रक्षा किये जाने पर वह रक्षक और हिंसा किये जाने पर वह हिंसक बन जाता है—''**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**''

2. भगवान् शब्द का अर्थ है भग—ऐश्वर्य+वान् (ऐश्वर्य वाला)। ऐश्वर्य के अन्तर्गत विष्णु पुराण में छह विशेषताएं परिगणित हैं। एक अन्य ग्रन्थ में भी छह अन्य विशेषताओं का उल्लेख हुआ है। **उत्पत्ति** और **प्रलय**, सभी प्राणियों की **गति** और **अगति** तथा **विद्या** और **अविद्या**। इन्हीं विभिन्न विशेषताओं का अर्थ देने वाले भगवान् शब्द का प्रयोग परमपिता परमात्मा के लिए किया जाता है। **वीर्य** (सात्त्विक बल) **यश** (शुभकर्मों से अर्जित), **श्री** (रूप-सौन्दर्य), **ज्ञान**, **वैराग्य** (अनासक्ति) तथा **समग्रता** (पूर्णता)।

जाने वाले—धर्म, (15) दाय-भाग, (16) श्राद्ध-कर्म, (17) शौच तथा आचार की वैकल्पिक—संकटकालीन—व्यवस्था, (18) भक्ष्य-अभक्ष्य विवेचन, (19) विक्रेय-अविक्रेय पदार्थों की मीमांसा, (20) पातक-भेद, (21-22) स्वर्ग तथा नरक का वर्णन, (23) प्रायश्चित्त-विधान तथा (24) उपनिषदों का रहस्य स्थान।

नारदजी के अनुसार इतना विशाल ग्रन्थ जब उनके हाथ में आया, तो उन्होंने इसका अध्ययन करने के उपरान्त सोचा कि इतने बड़े ग्रन्थ को संभाल पाना तो मनुष्यों की शक्ति-सीमा के बाहर है। इसके अतिरिक्त इसे समझ पाना भी सरल नहीं। यह सब सोचकर महात्मा नारद ने लोगों की सुख-सुविधा की दृष्टि से सम्पूर्ण ज्ञान का बारह हज़ार श्लोकों में समाहार करके महर्षि मार्कण्डेय[1] को सौंप दिया।

महर्षि मार्कण्डेय ने भी कलियुग के जीवों की आयु और शक्ति की सीमा को ध्यान में रखते हुए बारह हज़ार श्लोकों का आठ हज़ार श्लोकों में समाहार करके महर्षि भार्गव को प्रदान किया। विवेकशील महर्षि भार्गव ने आठ हज़ार श्लोकों वाले स्मृति-ग्रन्थ का अध्ययन किया और उन्हें लगा कि छोटी आयु और रोग-शोक से ग्रस्त तथा शक्तिहीन लोगों के लिए आठ हज़ार श्लोकों वाले ग्रन्थ को संभाल पाना भी सम्भव नहीं। अत: उन्होंने लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर आठ हज़ार श्लोकों का चार हज़ार श्लोकों में समाहार कर दिया। इस प्रकार देवों और गन्धर्वों के लिए एक लाख श्लोकों में निबद्ध स्मृति-ग्रन्थ को मनुष्यों की अल्प आयु और सीमित शक्ति के सन्दर्भ में चार हज़ार श्लोकों में समेट दिया गया।

चार हज़ार श्लोकों में समाहरित स्मृति-ग्रन्थ का प्रथम पद्य है—

आसीदिदं तमो[1] भूतं न प्राज्ञायत किंचन।
ततः स्वयंभूर्भगवान् प्रादुरासीच्चतुर्मुखः॥

प्रलयकाल में चारों ओर घना अन्धकार घिरा हुआ था। न कहीं प्रकाश का कोई चिह्न था और न ही कहीं कोई इस सम्बन्ध में कुछ जानने वाला था। इस स्थिति का अन्त करने के लिए सर्वसमर्थ चतुरानन भगवान् ब्रह्मा का आविर्भाव हुआ।

ब्रह्माजी के आदेश-निर्देशानुसार—चार हज़ार श्लोकों वाले स्मृति-ग्रन्थ में निरूपित विषय को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप देने के लए 'प्रकरण' बनाये गये। इन्हीं प्रकरणों में प्रथम प्रकरण में व्यवहार-विषय के निरूपण को स्थान दिया गया और देवर्षि नारद ने प्रस्तुत ग्रन्थ—'व्यवहारमातृका'—की रचना की। इसके प्रथम अध्याय के चौहत्तर (74) पद्य हैं।

---

1. महाभारत के अनुशासन पर्व के एक उल्लेख से यह संकेत मिलता है कि देवर्षि नारद का ग्रन्थ महर्षि मार्कण्डेय के लिए उपजीव्य ग्रन्थ रहा है।

"धर्मसंकटे पतितो मार्कण्डेयो नारदं पृष्ट्वाधर्मं निश्चिनोति।" अर्थात् मार्कण्डेय जब कभी धर्म के निर्णय में संकटग्रस्त हो जाते हैं, तो समाधान के लिए 'नारदस्मृति' की शरण लेते हैं।

टिप्पणी—समाहार करने वाले ऋषियों की गणना में नारद का नाम दो बार आया है। सर्वप्रथम, एक लाख श्लोकों को बारह हज़ार श्लोकों में समेटकर महर्षि मार्कण्डेय को सौंपने वाले महात्मा नारद हैं तथा सभी समाहर्ताओं के अन्त में भार्गव के चार हज़ार श्लोक वाले स्मृति-ग्रन्थ के आधार पर 'व्यवहारमातृका' के रचयिता भी नारद हैं। इन दोनों स्थानों पर नाम के साथ देवर्षि जुड़ा हुआ है—

भगवान् मनुरूपनिबद्ध्य देवर्षये नारदाय प्रायच्छत् 1/2

यत्रेमामादौ देवर्षि नारदः सूत्रीयां मातृकां चकार॥ 1/6

अब यहां विचारणीय यह है कि यह देवर्षि नारद एक ही व्यक्ति है अथवा दो भिन्न व्यक्ति हैं। भण्डारकर शोध संस्थान, मुम्बई विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर सदाशिव के अनुसार—आश्चर्यजनक तो यह है कि नारद मनु को प्रथम स्मृतिकार मानते हैं और मनु अपने से पूर्ववर्ती दस स्मृतिकारों में नारद के नाम का उल्लेख करते हैं—

"Manu refers to Narada while according to Manu Narada is one of the ten prajapatis, some of whom appear as law-givers."

—Preface 10-11

प्रोफ़ेसर भण्डारकर के अनुसार—याज्ञवल्क्य ने तो नारद का उल्लेख ही नहीं किया।

जगन्नाथपुरी संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ. श्रद्धाकर सूपकर ने नारदस्मृति के रचयिता को देवर्षि नारद से भिन्न तथा मनु और याज्ञवल्क्य से परवर्ती माना है।

डॉ. सूपकर ने स्मृतिकार नारद को भारत के प्राचीन धर्म-शास्त्रकारों में अग्रणी, प्रतिष्ठित, प्रामाणिक एवं योग्यतम न्यायशास्त्री मानते हुए लिखा है—

"Narada is one of the most Prolific writers and one of the foremost authorities on ancient Indian Dharmshastras. Narada seems to be a Pseudonym of a brilliant jurist of ancient India."

—Foreward

धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः।
तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः॥ 1॥

जब इस पृथ्वीतल के सभी निवासी धर्मनिष्ठ तथा सत्यवादी थे, तब लोगों में न तो ईर्ष्या-द्वेष का भाव था और न ही किसी की, किसी के द्वारा, किसी के प्रति किये गये अनुचित व्यवहार एवं अन्याय के विरुद्ध कोई शिकायत थी। जब सभी लोग न्यायपरायण, आचारवान्, उदार तथा शुद्ध व्यवहार करने वाले थे, तब न तो दुहाई थी और न ही न्याय के लिए गुहार थी। इस प्रकार उस युग में मुक़द्दमेबाज़ी के अस्तित्व का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था।

अभिप्राय यह है कि एक समय ऐसा भी था, जब न अन्याय होता था और न उस अन्याय के विरुद्ध विवाद अथवा दावा-मुक़द्दमा डाला जाता था। इस प्रकार न प्राड्विवाक (वकील) थे, न न्यायाधीश, न न्यायालय और न ही वादी-प्रतिवादी थे।

टिप्पणी—हमारे विचार में ऐसे किसी युग-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेष की कल्पना—जहां सभी लोग सदाचारी एवं सत्यवादी हों—असम्भवप्राय ही है। सभ्यता के विकास का, तन्त्र व्यवस्था के उद्गम का तथा नियम-विनियम विधायिका का तथा स्मृतियों के अस्तित्व का मूल तत्त्व ही सबलों द्वारा निर्बलों का उत्पीड़न है। हां, मात्रा अथवा परिमाण की न्यूनता-अधिकता का होना अवश्य सर्वत्र सम्भव है। लोगों द्वारा आपसी विवादों को पञ्चों द्वारा निपटाने के प्रमाण अवश्य मिलते हैं। यदि इसे ही सत्ययुग अथवा कल्पित युग मान लिया जाये, तो बात अलग है। मनुष्यों में द्वेष, मात्सर्य तथा वैर-विरोध का न होना भी अविश्वसनीय लगता है, अन्यथा नीतिकारों को यह न मानना पड़ता—

मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः।
त्रयस्तत्र प्रजायन्ते मित्रोदासीन शत्रवः॥

अर्थात् किसी से, किसी भी प्रकार का, कोई सम्बन्ध न रखने वाले तपोलीन एकान्तवासी मुनि के भी प्रशंसक, निन्दक और उपेक्षक बन ही जाते हैं।

नष्टे धर्मे मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते।
द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः॥ 2॥

लोगों में धर्म के प्रति आस्था घट जाने पर उनमें राग-द्वेष, ईर्ष्या-मात्सर्य तथा वैर-विरोध के भाव पनपते हैं और फिर समर्थ पुरुषों द्वारा असमर्थों को दबाया जाता है, उनके प्रति अन्याय किया जाता है। अन्याय का शिकार बने पीड़ित व्यक्ति न्यायतन्त्र से गुहार करते हैं। इसी न्याय-याचना का नाम व्यवहार अथवा मुक़द्दमा है। उस व्यवहार में सत्य की जांच-परख का, वादी-प्रतिवादी के वक्तव्यों को सुनने-परखने का, दोष की खोज और निर्णय का तथा अपराधी को दण्ड देने के रूप में अन्याय के शिकार बने प्रार्थी को न्याय देने का कार्य राजा का अथवा उसके द्वारा नियुक्त उसके प्रतिनिधि का होता है। अपराधियों को दण्ड देने का अधिकारी होने के कारण ही राजा को 'दण्डधर' कहा जाता है।

राजा को इन्द्र का प्रतिनिधि माना गया है। इन्द्र का एक नाम 'सहस्राक्ष' है, जिसका अभिप्राय है कि राजा सर्व-समर्थ ईश्वर का रूप होने से सब कुछ देखता, सुनता, समझता, पहचानता है और धर्मसम्मत न्याय करता है। अपराधियों को दण्डित करके और धर्म की स्थापना में सहायक बनकर ही राजा अपने 'दण्डधर' विशेषण को सार्थक करता है। निस्सन्देह धर्म का पालन करने पर बुराइयों को पनपने का अवसर नहीं मिलता।

लिखितं साक्षिणश्चैव द्वौ विधी परिकीर्त्तितौ।
सन्दिग्धार्थविशुद्ध्यर्थं द्वयोर्विवदमानयोः ॥ 3 ॥

किसी भी विवाद में दोनों पक्षों—वादी तथा प्रतिवादी—द्वारा अपने-अपने पक्ष में प्रस्तुत तर्कों और युक्तियों को सुनने के उपरान्त सत्य के निर्णय के लिए न्यायाधिकरण के पास दो ही साधन हैं—लिखित सामग्री तथा साक्ष्य का परीक्षण। इन दोनों में से किसी एक के भी उपलब्ध होने पर ही विशुद्ध पक्ष पर पहुंचना सम्भव होता है।

टिप्पणी—वसिष्ठ, विष्णु तथा याज्ञवल्क्य प्रभृति स्मृतिकारों ने तथ्य-निर्णय के लिए प्रमाण के रूप में तीन साधन माने हैं—लिखित, साक्ष्य और भोग, अर्थात् विवादित सम्पत्ति वर्तमान में किसके अधिकार में है—

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।

—वसिष्ठ

तस्य च भाववास्चित्रो भवन्ति लिखितम्, साक्षिणः समयक्रियाच।

—विष्णु

प्रमाणं लिखितं भुविनः साक्षिणश्चेति कीर्त्तितम्।

—याज्ञवल्क्य

सोत्तरोऽनुत्तरश्चैव स विज्ञेयो द्विलक्षणः।
सोत्तरोऽभ्यधिको यत्र विलेखापूर्वकः पणः ॥ 4 ॥

प्रत्येक व्यवहार के दो रूप-भेद होते हैं—प्रथम **सोत्तर**, अर्थात् वादी द्वारा लगाये गये आरोप-आक्षेप का प्रतिवादी द्वारा उत्तर देने को प्रस्तुत होना। ऐसा व्यवहार **सोत्तर** कहलाता है।

द्वितीय **अनुत्तर**, अर्थात् वादी द्वारा लगाये गये आरोप का प्रतिवादी द्वारा किसी भी कारण—कलह को आगे न बढ़ाने की, अर्थात् समझौते की इच्छा, खण्डन के आधार का न होना अथवा उत्तर देने में अपनी हीनता समझना आदि—से उत्तर न देना। ऐसा व्यवहार **अनुत्तर** कहलाता है।

सोत्तर व्यवहार में तो सत्य-असत्य के निर्धारण की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु अनुत्तरित व्यवहार तो वहीं समाप्त हो जाता है। इसे अपराध-स्वीकृति भी माना जा सकता है और उपेक्षा-भाव भी। दोनों ही अवस्थाओं में उपयुक्त दण्ड का विधान करते हुए व्यवहार को तत्काल निपटाया जा सकता है।

सोत्तर के पुनः दो प्रकार होते हैं—**सपण** तथा **अपण**।

सपण—उत्तर देने वाले के अपने अपराधी सिद्ध होने पर, पणों का दण्ड भुगतने के लिए तैयार होने के साथ ही वादी के मिथ्या सिद्ध होने पर उसे दण्डित करने की शर्त पर किया जाने वाला उत्तर **सपण** कहलाता है।

अपण—बिना किसी पूर्व शर्त अथवा आग्रह आदि के सामान्य रूप से दिया जाने वाला उत्तर—वादी द्वारा लगाये गये आरोप का खण्डन—**अपण** कहलाता है।

स्मृतिकार नारद के अनुसार वादी-प्रतिवादी का व्यवहार एवं उत्तर आदि लिखित रूप में ही होना चाहिए, मौखिक कदापि नहीं होना चाहिए।

विवादे सोत्तरपणे द्वयोर्यस्तत्र हीयते।
स एव हि पणं दाप्यो विनयं च पराजये॥ 5॥

प्रतिवादी द्वारा पण लगाकर उत्तर दिये जाने वाले तथा वादी द्वारा पण स्वीकार किये गये व्यवहार में पराजित होने वाले को न केवल निर्धारित पणों का भुगतान करना होता है, अपितु न्यायाधिकरण द्वारा निर्धारित दण्ड भी भुगतना पड़ता है।

सारस्तु व्यवहाराणां प्रतिज्ञा समुदाहृता।
तद्धानौ हीयते वादी तरस्तामुत्तरो भवेत्॥ 6॥

किसी भी व्यवहार में प्रतिज्ञा-रूप में जो लिपिबद्ध कर लिया जाता है, वही सार वस्तु है। उदाहरणार्थ, धन छीनने की बात लिखी जाती है, तो वही प्रतिज्ञा है। मार-पीट अथवा अंग-भंग करने की शिकायत की जाती है, तो वही प्रतिज्ञा है, पराजित होने वाला विजेता को प्रतिज्ञात ही देता है, उससे भिन्न नहीं, अर्थात् यदि धन की शिकायत की गयी है, तो जीतने वाले को पराजित होने वाले से धन ग्रहण करना होता है। यदि शरीर के किसी अंग—हाथ, पैर आदि—को क्षतिग्रस्त करने की शिकायत की गयी है, तो पराजित होने वाले को उस अंग-विशेष की क्षति-पूर्ति करनी होती है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शिकायत के सत्य सिद्ध होने पर ही वादी को विजयी माना जाता है, परन्तु शिकायत के असत्य सिद्ध होने पर वादी को पराजित माना जाता है।

अभिप्राय यह है कि न तो प्रतिज्ञात से भिन्न किसी अन्य वस्तु की मांग की जा सकती है और न ही किसी भिन्न वस्तु पर विवाद किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जय-पराजय का एकमात्र आधार प्रतिज्ञात वस्तु की सत्यता-असत्यता का सिद्ध होना है।

न्याय-प्रक्रिया के पांच स्वर अथवा सोपान हैं—

कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्॥ 7॥

कुल—परिवार का मुखिया अथवा प्रमाणित पुरुष।

श्रेणी—विभिन्न स्थानों पर समान कार्य करने वाले व्यक्तियों—अध्यापक, श्रमिक, चिकित्सक आदि—के समुदाय का प्रमुख।

गण—एक ही जाति अथवा सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाला श्रेष्ठ पुरुष।

मनोनीत—आज के नियमित नियुक्ति पाने वाले न्यायाधीशों के समान ही राजा द्वारा नियुक्त योग्य न्यायविद्।

स्वयं राजा—इनमें पूर्व से ऊपर-ऊपर वरीय हैं, अर्थात् कुल से श्रेणी, श्रेणी से गण, गण से अधिकृत न्यायाधीश तथा उससे ऊपर राजा है। प्रत्येक ऊपर वाला न्यायाधिकरण नीचे वाली न्यायिक संस्था के निर्णय पर पुनः विचार करने में, यहां तक कि उसके निर्णय को निरस्त करने में सक्षम है।

टिप्पणी—इसी तथ्य का समर्थन याज्ञवल्क्यस्मृति में भी हुआ है—

नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरुं ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥

नारद के गण शब्द के स्थान पर ही याज्ञवल्क्य ने 'पूग' शब्द का प्रयोग किया है।

आजकल भी न्याय-व्यवस्था के पांच स्तर हैं—कनिष्ठ न्यायाधीश (सब जज), वरिष्ठ न्यायाधीश (सीनियर जज), मण्डल न्यायाधीश (सेशन जज), उच्च न्यायालय (हाई कोर्ट) तथा सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट)।

राजा का स्थान आज के राष्ट्राध्यक्ष के समकक्ष समझना चाहिए। आज जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को पलटने-क्षमायाचना को स्वीकार करने आदि का अधिकार राष्ट्रपति को है, नारद वही स्थिति राजा की घोषित करते हैं।

स चतुष्पाच्चतुः स्थानश्चतुः साधन एव च।
चतुर्हितश्चतुर्व्यापी चतुष्कारी च कीर्त्यते॥ 8॥
अष्टाङ्गोऽष्टादशपदः शतशाखस्तथैव च।
त्रियोनिर्द्व्यभियोगश्च द्विद्वारो द्विगतिस्तथा॥ 9॥

यह विवाद-मुकद्दमा—चतुष्पाद, अर्थात्—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राज-शासन, चतुः स्थानीय, अर्थात्—सभ्य-साक्षी, पुस्तक, रण तथा राजा की आज्ञा, चतुः साधन, अर्थात् चार साधनों—साम, दान, भेद और दण्ड, चतुर्हित, अर्थात् चारों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—का हितसाधक, चतुर्व्यापी, कर्ता, साक्षी, सभ्य तथा राजा को प्रभावित करने वाला, धर्म, अर्थ, यश तथा लोकरञ्जन का साधक होने से चतुष्कारी—चार कार्यों का सम्पादक, राजा के अष्ट अंगों—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संशय, द्वैधीभाव से सम्बन्धित होने के कारण अष्टांग (आठ अंगों वाला), ऋणदान आदि अठारह विषयों वाला होने से अष्टादशमुखी, शत-प्रतिशत शाखाओं वाला, काम, क्रोध और लोभ से उत्पन्न होने के कारण त्रियोनि है। भीतर और बाहर भयोत्पादक होने से द्विमुख, वादी-प्रतिवादी के सम्बन्ध से द्वि-द्वार तथा सत्य और छल से समन्वित रहने के कारण द्विःगति कहा जाता है।

इस प्रकार नारदजी ने व्यवहार के निम्नोक्त तत्त्वों का उल्लेख किया है—पाद, स्थान, साधन, हित, व्यापकता, कार्य, अंग, पद, शाखा, अभियोग, योनि (उत्पत्ति स्थान), द्वार तथा गति।

धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन को चरण माना गया है; क्योंकि इन्हीं से यह चलता-आगे बढ़ता है। इसकी स्थिति के चार स्थान हैं—सज्जन का साक्ष्य, लिखित प्रमाण, कलह-संघर्ष तथा राज्याज्ञा। इसे निपटाने के चार साधन—समझाना-बुझाना, कुछ देना-दिलाना, फूट डालना तथा दण्ड देना—चारों वर्णों के लोगों के हितसाधक हैं। एक साथ चारों—मुक़द्दमा करने वाला, साक्षी, समाज तथा प्रशासन—को प्रभावित करने वाला होने से यह चतुर्व्यापी—चारों ओर व्यापक—है। सत्यनिर्णय देने के रूप में यह धर्म, अर्थ और यश की प्रतिष्ठा तथा लोकरञ्जन आदि चारों उद्देश्यों (कार्यों) का पूरक (चतुष्कारी) है। प्रत्येक विवाद की उत्पत्ति काम से अथवा क्रोध से मानी जाती है। राजा के सन्धि, विग्रह आदि आठ अंगों के समान अभियोग भी आठ अंगों वाला होता है। इसके ऋण, दान आदि अठारह भेद हैं व सैकड़ों शाखाएं हैं। यह न केवल शारीरिक कष्ट को उत्पन्न करता है, अपितु मानसिक क्लेश-उद्वेग को भी जन्म देता है। इस प्रकार ये दो रूपों में अभियुक्त—आक्रान्त करने वाला—है। वादी-प्रतिवादी दो द्वार कहे जाते हैं तथा सत्य और छल का प्रयोग होने से इसकी दो गतियां (चालें) मानी गयी हैं।

इस प्रकार प्रत्येक मुक़द्दमे के तेरह अंग होते हैं, जिनका विवरण अगले पद्यों में प्रस्तुत किया गया है।

धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
चतुष्पाद् व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः॥ 10॥

लेन-देन के चार रूप-भेद हैं—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजाज्ञा। धर्म से व्यवहार को, व्यवहार से चरित्र को और चरित्र से राजाज्ञा को वरीयता प्राप्त है। उदाहरणार्थ, धर्म किसी विषय—नियोग, कन्याहरण तथा द्यूत आदि—की अनुमति देता है, परन्तु फिर भी व्यक्ति उसके विरुद्ध न्यायालय में प्रार्थना करता है, तो व्यवहार चलेगा। धर्म के विरुद्ध की गयी याचना की भी सुनवाई होगी। इसी प्रकार जिसके विरुद्ध आरोप लगाया गया है, यदि उसका चरित्र निष्कलंक है और अभियोग लगाने वाले के पास प्रमाण का अभाव है, तो चरित्र को प्रबलता प्राप्त होगी, परन्तु राजाज्ञा अन्तिम प्रमाण है। उसके सामने अन्य सभी कुछ गौण है।

तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम्॥ 11॥

धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन को निम्नोक्त रूप से परिभाषित किया गया है—

धर्म—प्रतिवादी द्वारा अपने ऊपर वादी द्वारा लगाये गये आरोप को स्वीकार करना। किसी प्रकार से उसका खण्डन अथवा उसके विरुद्ध तर्क-वितर्क न करना, अर्थात् समर्पण करना, अपने को अपराधी मान लेना और दण्ड ग्रहण करने को प्रस्तुत होना।

व्यवहार—वादी द्वारा लगाये गये आरोप को प्रतिवादी द्वारा नकारना और साक्षियों द्वारा वादी के कथन की पुष्टि होना।

चरित्र—वादी द्वारा प्रस्तुत विषय की पुष्टि के लिए लिखित प्रमाण की अपेक्षा करना।

शासन—राजा द्वारा दिया गया निर्णय।

टिप्पणी—नारदजी ने इन चारों में—'उत्तर: पूर्वबाधक:' कहा है, अर्थात् धर्म से व्यवहार को, व्यवहार से चरित्र को और चरित्र से भी राजा को और देश को प्रबल माना है, परन्तु हमारे विचार में तो यह उलटी गंगा बहाना है। जहां प्रतिवादी अपने ऊपर लगाये गये आरोपों का विरोध ही नहीं करता, दण्ड के लिए अपने को प्रस्तुत कर देता है, उससे उत्तम स्थिति भला और क्या हो सकती है? यहां न तो साक्ष्य की, न लिखित प्रमाण की और न ही राजा (न्यायाधिकरण) के हस्तक्षेप की आवश्यकता है। यह तो सर्वोत्तम स्थिति मान्य होनी चाहिए। हां, सत्य को नकारने पर साक्ष्य का और साक्ष्य की अपेक्षा लिखित प्रमाण का सापेक्ष महत्त्व अवश्य है। राजाज्ञा तो सदैव अन्तिम रूप से सर्वमान्य रही है। इस प्रकार धर्म को नकारने पर ही तीनों की भूमिका प्रारम्भ होती है, धर्मपालन करने पर तो इनकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

असहाय भाष्यकार ने इन चारों—धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन—को इस प्रकार परिभाषित किया है—

धर्म—उत्तमर्ण और अधमर्ण (ऋण देने-लेने वाले) द्वारा एकान्त में लेन-देन करने पर भी दोनों का सत्य से विचलित न होना, अर्थात् ऋणकर्ता लिये गये ऋण से मुकरता तो नहीं है, परन्तु दे पाने में अपनी असमर्थता को प्रकट करता है।

व्यवहार—दोनों—धनिक और ऋणकर्ता—द्वारा किसी भी समय, किसी के मन में, किसी प्रकार के दोष के आ जाने की आशंका से बचने के लिए, किसी विश्वस्त व्यक्ति को साक्षी के रूप में मध्यस्थ बनाकर लेन-देन करना।

चरित्र—दोनों—लेन-देन करने वालों—द्वारा निर्धारित शर्तों और लेन-देन की राशि आदि को काग़ज़, भोजपत्र, वस्त्र अथवा काष्ठखण्ड पर अंकित करना।

शासन—न्यायालय-परिसर में जाकर अधिकृत लेखक (अर्ज़ीनवीस यानी

Petition Writer) से विधिमान्य शर्तों पर लेन-देन की राशि और शर्तों को सरकारी काग़ज़ पर लिपिबद्ध कराना।

हमारे विचार में असहाय भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएं पूर्णतः व्यावहारिक एवं तर्कसंगत होने से अधिक मान्य होनी चाहिए।

सामाद्युपायसाध्यत्वाच्चतुः साधन उच्यते।
चतुर्णामाश्रमाणां च रक्षणात् स चतुर्हितः ॥ 12 ॥

व्यवहार को चतुःसाधन और चतुर्हित बताते हुए इन दोनों की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—व्यवहार, उपाय कहे जाने वाले चार साधनों से साध्य होने के कारण चतुःसाधन कहलाता है। वे चार उपाय अथवा साधन हैं—साम, दान, भेद और दण्ड। इसी प्रकार चारों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—वर्णों और चारों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—आश्रमों के लोगों के हितों का रक्षक होने से यह चतुर्हित कहलाता है।

टिप्पणी—अपने कार्य की सिद्धि में कुशलता का नाम उपाय है और राजनीति में इनकी संख्या चार बतायी गयी है—

साम—प्रिय-मधुर-वाणी से प्रबोधन।

दान—धन-धरती देना अथवा अपराध क्षमा करना अथवा पुरस्कृत करना, अर्थात् कृपापात्र बनना।

भेद—उपकारी को उसके मित्रों, सहायकों एवं शुभचिन्तकों से अलग-थलग कर देना।

दण्ड—धन-सम्पत्ति छीन लेना, पिटवाना, जेल में डालना अथवा प्राणहरण करना।

'मत्स्यपुराण' में चार के स्थान पर निम्नोक्त सात उपाय बताये गये हैं—

साम भेदस्तथा दानं दण्डं च मनुजेश्वर!
उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च पार्थिव!
प्रयोगाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु।
कर्त्तृनथो साक्षिणश्च सभ्यान् राजानमेव च।
व्याप्नोति पादशो यस्माच्चतुर्व्यापी ततः स्मृतः ॥ 13 ॥

व्यवहार की एक विशेषता उसका चतुर्व्यापी होना है। किसी भी मुक़द्दमे का चार पक्षों से सम्बन्ध बना-जुड़ा रहता है—कर्ता-रूप में वादी और प्रतिवादी, साक्षी (आज की भाषा में ज्यूरी), न्यायाधिकरण, अर्थात् धर्माधिकारियों की संस्था के सदस्य (Jury के सदस्य) तथा स्वयं राजा (न्यायाधीश) प्रत्येक व्यवहार से ये चारों सम्बन्धित रहते हैं। इस प्रकार इन चारों को व्यापने वाला होने से व्यवहार चतुर्व्यापी कहलाता है।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार प्रत्येक मुक़द्दमे के प्रक्रियागत चार चरण होते हैं—

उद्घाटन—वादी-प्रतिवादी मुक़द्दमे का प्रारम्भ करते हैं।

प्रतिष्ठापन—साक्षी मुक़द्दमे को स्थिरता प्रदान करते हैं।

निमालन—न्यायाधिकरण के सदस्य युक्ति-प्रत्युक्ति की जांच-परख करते हैं और अपने-अपने मत प्रस्तुत करते हैं।

निर्णय-विज्ञापन—न्यायाधीश (राज-प्रतिनिधि) निर्णय घोषित करता है।

इस प्रकार मुक़द्दमा चतुष्पाद और चतुर्व्यापी है।

धर्मस्यार्थस्य यशसो लोकपङ्क्तेस्तथैव च।
चतुर्णां करणादेषां चतुष्कारीति चोच्यते॥ 14॥

मुक़द्दमा चतुष्कारी—चार उपकार करने वाला—है। वह धर्म व अर्थ की रक्षा, यश का प्रसार और लोगों के पारस्परिक अनुराग में वृद्धि करता है।

अन्याय के विरुद्ध न्याय का संरक्षण धर्म की रक्षा है। प्राय: प्रत्येक मुक़द्दमा किसी-न-किसी रूप में धन-सम्पत्ति से जुड़ा होता है। धन हड़पने वाले से पीड़ित को धन लौटवाना अर्थ की रक्षा है। मुक़द्दमा जीतने वाला लोक में सम्मानित होता है, उसका यश बढ़ता है। मुक़द्दमे के भय से लोग एक-दूसरे से द्रोह नहीं करते, स्नेह-भाव से रहते हैं। इस प्रकार मुक़द्दमा चार प्रकार से लोगों का हित-साधन करता है।

राजा सत्पुरुषः सभ्याः शास्त्रं गणकलेखकौ।
हिरण्यमग्निरुदकमष्टाङ्गः समुदाहृतः॥ 15॥

मुक़द्दमे के आठ अंग इस प्रकार हैं—आचारनिष्ठ राजा अथवा राजा द्वारा नियुक्त-मनोनीत न्यायाधीश, न्यायाधिकरण (ज्यूरी) के सदस्य, शास्त्र, अर्थात् न्यायसंहिता (पैनलकोड), गणक (लेखाधिकारी), लेखक, हिरण्य, अर्थात् स्वर्ण (कोर्ट-फ़ीस), अग्नि और जल।

टिप्पणी—(1) आज न्यायालय में जिस प्रकार वक्तव्य से पूर्व वादी-प्रतिवादी को गीता, क़ुरान अथवा बाईबल पर हाथ रखवा कर शपथ दिलायी जाती है, प्राचीनकाल में अपने वक्तव्य से पूर्व हाथ में जल लेकर, सत्यभाषण की शपथ ली जाती थी और सत्य की परीक्षा के लिए अग्नि में हाथ डाला जाता था। ऐसी मान्यता है कि सत्यवक्ता के लिए अग्नि शीतल हो जाती थी और इसके विपरीत मिथ्याभाषी के लिए दाहक हो जाती थी।

इसी सन्दर्भ में आठ अंगों में जल और अग्नि परिगणित हैं।

(2) असहाय भाष्यकार ने हिरण्य को हिरण्यगर्भ (ब्रह्म) का प्रतीक मानते हुए हिरण्य, जल और अग्नि को प्रत्यक्ष देवता के रूप में ग्रहण किया है। उनके

अनुसार—'**हिरण्यमग्निरुदकमिति एतान्यपि प्रत्यक्षदेवतास्वरूपाणि।**' हिरण्य का एक अन्य अर्थ राष्ट्रीय मुद्रा—धन की देवी—लक्ष्मी भी लिया जाता है। इन देवों के समक्ष व्यक्ति द्वारा मिथ्याभाषण न करने की सम्भावना बढ़ जाती है—ऐसी प्राचीन परम्परागत मान्यता प्रचलित रही है।

व्यवहार के निम्नोक्त अठारह पद हैं, अर्थात् इन विषयों पर झगड़ा होने की स्थिति में मुक़द्दमा चलाया जा सकता है—

ऋणादानं ह्युपनिधिः सम्भूयोत्थानमेव च।
दत्तस्य पुनरादानमशुश्रूषाभ्युपेत्य च॥ 16॥
वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः।
विक्रियासम्प्रदानं च क्रीत्वानुशय एव च॥ 17॥
समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा।
स्त्रीपुंसयोश्च सम्बन्धो दायभागोऽथ साहसम्॥ 18॥
वाक्पारुष्यं तथैवोक्तं दण्डपारुष्यमेव च।
द्यूतं प्रकीर्णकं चैवेत्यष्टादशपदः स्मृतः॥ 19॥
एषामेव प्रभेदोऽन्यो द्वात्रिंशदधिकं शतम्।
क्रियाभेदान्मनुष्याणां शताशाखो निगद्यते॥ 20॥

1. ऋण के लेन-देन से सम्बन्धित विवाद।
2. उपनिधि—धरोहर को न लौटाने तथा उसमें गड़बड़ी करने से सम्बन्धित।
3. सम्भूयसमुत्थान—संयुक्त श्रम के फल का विभाजन।
4. किसी को दिये गये पदार्थ को उससे वापस मांगना।
5. सेवा का वचन देकर सेवा न करना।
6. वेतन लेकर सेवा न करना अथवा सेवा लेकर वेतन न चुकाना।
7. किसी वस्तु का स्वामी न होने पर भी उसे बेचना।
8. किसी वस्तु को बेचकर क्रेता को न देना।
9. किसी वस्तु को ख़रीदकर (सौदा करके) क्रेता द्वारा मुकर जाना अथवा सामान न उठाना।
10. पाखण्ड-खण्डन।
11. भूमि सम्बन्धी विवाद।
12. स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में दरार सम्बन्धी विवाद।
13. दाय-भाग (भाइयों में पैतृक सम्पत्ति के विभाजन) सम्बन्धी विवाद।
14. साहस—डाका, बलात्कार।
15. दण्डपारुष्य (मार-पीट करना अथवा बन्दी बनाना)
16. वाक्पारुष्य-गाली-गलौच करना।

17. द्यूत—धन दांव पर लगाकर जुआ खेलना।

18. प्रकीर्णक—उपर्युक्त समूह में न आने वाले सभी अन्य विषय—झगड़े पर लिया गया मकान ख़ाली न करना, बन्धक रखी धरती आदि को न लौटाना, दूसरे की सम्पत्ति पर अनधिकृत क़ब्ज़ा करना, किसी की पत्नी को छीन लेना तथा किसी का अपहरण करना आदि।

अठारह प्रकार के इन विवादों के अनेक भेद-प्रभेद हैं। आचार्यों ने इनकी संख्या एक सौ बत्तीस मानी है। वैसे मनुष्यों के साक्ष्य तथा प्रमाण आदि क्रिया के भेद-व्यवहार (मुक़दमे) की सैकड़ों शाखाएं हो जाती हैं।

ऋणादानं पञ्चविंशति षडौपनिधिके स्मृताः।
सम्भूयोत्थे त्रयो भेदाश्चतुर्दत्ताप्रदानके॥ 21॥
नवभेदा अशुश्रूषा वेतनं स्याच्चतुर्विधम्।
अस्वामिविक्रये तु द्वौ विक्रियादानमेकधा॥ 22॥
क्रीत्वा मुक्तं चतुर्भेदं समयाकार्यमेकधा।
क्षेत्रवादो द्वादशधा स्त्रीपुंसोर्भेदविंशतिः॥ 23॥
दायभागे तु एकोना भेदा द्वादश साहसे।
वाग्दण्डपारुष्योस्तु द्वयोर्भेदास्त्रयः स्मृताः॥ 24॥
द्यूताह्वयं चैकभेदं षड्भेदं तु प्रकीर्णकम्।
एवमेषां प्रभेदानां द्वात्रिंशच्छतमेव वै॥ 25॥

विवाद के बहुमुखी होने के तथ्य की पुष्टि करते हुए स्मृतिकार नारद लिखते हैं—उदाहरणार्थ, ऋण के लेन-देन के पच्चीस, धरोहर में गड़बड़ी करने-न करने के सात, संयुक्त श्रम के फल-विभाजन सम्बन्धी विवाद के तीन, किसी वस्तु को देकर वापस मांगने के चार, सेवा करने के नौ, सेवा लेकर पारिश्रमिक न देने के चार, स्वामी न होने पर सम्पत्ति का विक्रय करने के बारह, विक्रय करके क़ब्ज़ा न देने का एक, ख़रीदकर दाम न चुकाने अथवा मुकर जाने के चार, पाखण्ड-खण्डन का एक, क्षेत्र सम्बन्धी विवाद के बत्तीस, स्त्री-पुरुष के आपसी सम्बन्ध के बीस, दाय-भाग के उन्नीस, साहस के बारह, वाक्पारुष्य के तीन, दण्डपारुष्य के तीन, द्यूत का एक और प्रकीर्णक के छह भेद हैं।

इन सभी भेदों के अतिरिक्त न जाने कितने अन्य अज्ञात भेद नित्य-प्रति जन्म लेते और प्रकाश में आते रहते हैं।

कामात् क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात् प्रवर्त्तते।
त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद् विवादकृत्॥ 26॥

सभी प्रकार के विवादों के मूल अथवा उत्पत्ति-स्थल तीन हैं—काम, क्रोध और लोभ। इन तीनों के कारण ही किसी विवाद का जन्म होता है। इसलिए विवाद को त्रियोनि कहा जाता है।

द्वयभियोगस्तु विज्ञेयः शङ्कातत्त्वाभियोगतः।
शङ्का सतां तु संसर्गात्तत्त्वं होढाभिदर्शनात्॥ 27॥

अभियोग दो प्रकार का होता है—

प्रथम, **शंकाभियोग**—असज्जन—न्याय को महत्त्व न देने वाले तथा अन्याय में प्रवृत्त—के सम्पर्क में आने पर हानि की आशंका से किया जाने वाला अभियोग।

द्वितीय, **तत्त्वाभियोग**—किसी को दूसरे के धन को चुराता देखकर अपने धन के चुराये जाने की आशंका से उत्पन्न होने वाला अभियोग।

'स्मृतिचन्द्रिका' में तत्त्वाभियोग को पुनः दो प्रकार का माना गया है—प्रतिषेधात्मक तथा विधेयात्मक।

टिप्पणी—(1) स्मृतिचन्द्रिका व्यवहार के अनुसार—द्यूतकार और स्तेन आदि दुर्जनों के साथ रहने वाले साधु-महात्मा द्वारा भी चोरी आदि किये जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है—'**कितवस्तेनाद्यसद्भिः संसर्गात्साध्वपि स्तेयादिशंका भवति**।' इससे तत्त्वाभियोग का निषेधात्मक रूप भी सिद्ध होता है।

(2) असहाय भाष्यकार ने अपने अधिकार वाले धन को धन तथा दूसरे द्वारा अपहृत अथवा नष्ट धन को 'होढ़' कहा है—'**स्वकीयं द्रव्यं द्रव्यं यन्नष्टं तत् होढमुच्यते**।'

पक्षद्वयाभिसम्बन्धाद् द्विद्वारं समुदाहृतः।
पूर्ववादस्तयोः पक्षः प्रतिपक्षस्तदुत्तरम्॥ 28॥

व्यवहार में दो पक्षों—वादी तथा प्रतिवादी अथवा व्यवहार करने वाला और व्यवहार का केन्द्र, दूसरे शब्दों में शिकायत करने वाला और शिकायत का आधार बनने वाला—की नित्य स्थिति के कारण व्यवहार को दो द्वारों वाला कहा जाता है। वादी अथवा शिकायती को पक्षी और प्रतिवादी अथवा शिकायत का उत्तर देने वाले को प्रतिपक्षी कहा जाता है।

भूतच्छलानुसारित्वाद्द्विगतिः स उदाहृतः।
भूतं तत्त्वार्थसंयुक्तं प्रमादाभिहितं छलम्॥ 29॥

व्यवहार में दो ही पहलू अपनाये जाते हैं—(1) सत्य का पक्ष ग्रहण किया जाता है अथवा (2) छल-कपट को अपनाया जाता है। इस कारण व्यवहार की दो गतियां मानी जाती हैं—भूत और छल।

टिप्पणी—'सरस्वती विलास' में सत्य व्यवहार के सत्रह और छल व्यवहार के प्रकीर्ण के समान अनन्त भेद माने गये हैं—'**भूतच्छलानुरोधेन द्विगतिः समुदाहृता' इति व्यवहारस्य छलानुसरणं तत्त्वानुसरणमिति गतिद्वयमुक्तम्। तत्र तत्त्वानुसरणेन सप्तदश विवादपदान्यनुक्रान्तानि। छलानुसरणेन प्रकीर्णकाख्यं विवादपदमनुक्रान्तमिति**।

दिव्यान्याप्यप्रमाणानि नीयन्ते वाक्यवञ्चकैः।
देशकालप्रमाणादावप्रमादो भवेदतः ॥ 30 ॥

वञ्चक, दुर्जन तथा वाणी-कुशल आदि चतुर पुरुष मानवीय प्रमाणों—साक्षी, लेख तथा अधिकार आदि—के अभाव में अग्नि या जल आदि दिव्य प्रमाणों की उपेक्षा करके अपना पक्ष प्रस्तुत करने लग जाते हैं। अतः विवाद से सम्बन्धित व्यक्तियों को देश, काल और प्रमाण आदि के सम्बन्ध में विशेष सावधान रहना चाहिए, प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिए, अन्यथा उनके द्वारा ठगे जाने की सम्भावना बढ़ जाती है।

तत्र शिष्टं छलं राजा मर्षयेद् धर्मसाधनः।
भूतमेव प्रपद्येत धर्ममूला यतः श्रियः॥ 31॥

राजा की लक्ष्मी और कीर्ति धर्म पर आश्रित होती है, अर्थात् धर्म की रक्षा करने से ही राजा के यश का प्रसार और धन का विस्तार होता है। अतः राजा के लिए न्याय के अनुसार व्यवहार करना आवश्यक है। उसे देखना चाहिए कि वादी का अभियोग मिथ्या है अथवा सत्य है। उसे सत्य के निर्णय के लिए सदैव सत्पथ का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होकर निष्पक्ष दृष्टिकोण अपनाना चाहिए।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार—यदि मिथ्या अभियोग लगाने वाला वादी अपने अपराध को सार्वजनिक रूप से स्वीकार कर लेता है और पश्चात्ताप करता है, तो राजा को उसे दण्डित नहीं करना चाहिए, अपितु क्षमा कर देना चाहिए। भाष्यकार ऐसे छल को प्रमादवश शिष्ट व्यवहार मानने वाले को क्षमा का पात्र घोषित करते हुए लिखते हैं।

यदि वादी स्वकीयं प्रमादाभिहितं वचनं ज्ञात्वा वटपत्रकग्रामं च सम्यक् स्मृत्वा तमेव वटपत्रकग्रामेस्थितसंव्यवहारं कीर्त्तयति, तदा वादिना तत्स्वकीयं प्रमादाभिहितं छलं शिष्टं कथितमित्यर्थः। तं वादिशिष्टच्छलमनमर्षयेद् धर्मसाधनः क्षमयेदित्यर्थः।

धर्मेणोद्धरतो राज्ञो व्यवहारान् कृतात्मनः।
सम्भवन्ति गुणाः सप्त सप्त वह्नेरिवार्चिषः॥ 32॥

अग्नि की सात रश्मियां (ज्योति-किरणें) होती हैं। सूर्य को भी 'सप्तरश्मि' कहा गया है। वस्तुतः जिस प्रकार रंगों की संख्या सात है, उसी प्रकार सूर्य की किरणें तथा अग्नि-शिखाएं भी सप्तवर्ण होती हैं। धर्म के अनुसार व्यवहार देखने वाले राजा को भी अग्नि की सात रश्मियों के समान अगले पद्य में निर्दिष्ट सात गुणों के विकास का लाभ मिलता है।

धर्मश्चार्थश्च कीर्त्तिश्च लोकपङ्क्तिरुपग्रहः।
प्रजाभ्यो बहुमानं च स्वर्गे स्थानं च शाश्वतम्॥ 33॥

धर्म एवं न्यायपूर्वक व्यवहार के द्रष्टा राजा के निम्नोक्त सात गुण विकसित होते हैं—धर्म, अर्थ, कीर्ति, प्रजा का अनुराग, प्रजा की भक्ति-भावना, प्रजा के द्वारा सम्मान तथा मरणोपरान्त स्वर्ग में सुरक्षित स्थान।

टिप्पणी—शिष्टों पर अनुग्रह तथा दुष्टों के निग्रह से धर्म की रक्षा होती है, धर्म से धन की प्राप्ति और उससे सुख मिलता है। दुष्टों को दण्डित करने से प्रजा को निर्भयता और निश्चिन्तता प्राप्त होती है। किसी प्रकार के उत्पातों के होने की आशंका समाप्त हो जाती है। इससे प्रजा अपने कार्य-व्यापार को तन्मयता से कर पाती है। इससे जहां राजा को यश, प्रजा का अनुराग और उसकी श्रद्धा मिलती है, वहां देश की समृद्धि को भी चार चांद लग जाते हैं। प्रजा भी ऐसे राजा की मंगल-कामना करती है और इस प्रकार धर्म-रक्षा से सद्गति सुनिश्चित हो जाती है।

तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः।
समः स्यात् सर्वभूतेषु विभ्रद्वैवस्वतं व्रतम्॥ 34॥

इस प्रकार सिंहासन पर आसीन राजा को धर्म को प्रमुखता देते हुए राग-द्वेष तथा ईर्ष्या-स्पर्धा आदि से सर्वथा मुक्त होकर यमराज के व्रत—व्यक्ति द्वारा कृत शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप ही उन्हें सत्-असत् फल प्रदान करना—का निर्वाह करना चाहिए, अर्थात् उसे सदाचारी धर्मात्माओं पर अनुग्रह और दुराचारी दुष्टों का निग्रह करना चाहिए। उसे प्रजाजनों के आचरण के अनुरूप ही उनसे व्यवहार करना चाहिए, न कि स्वेच्छा बरतनी चाहिए।

टिप्पणी—विष्णु के अनुसार—विवस्वान् यमदेव का ही एक नाम है और वह प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है। यदि उससे व्यक्ति का कोई विवाद-भय आदि नहीं, तो व्यक्ति को आत्मरक्षा के लिए किसी पुण्यानुष्ठान की कोई आवश्यकता ही नहीं है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैव हृदिस्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरुं गम॥

इसी सन्दर्भ में यम की कार्यप्रणाली का परिचय देते हुए आचार्य महोदय का कथन है—**यमो धर्मराजः तस्य व्रतं लोकानां स्वकृत शुभाशुभफलदत्त्वम्।** अर्थात् यम इसीलिए धर्मराज कहलाते हैं; क्योंकि वे व्यक्ति द्वारा किये शुभ-अशुभ कर्मों का शुभ-अशुभ फल देते हैं। अतः राजा के लिए भी उचित है कि वह—**सर्वभूतेषु समः स्यात्**—सभी प्रजाजनों के साथ बिना किसी भेद-भाव के समान व्यवहार करे।

धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात्॥ 35॥

राजा को व्यवहार की परीक्षा करते समय निम्नोक्त तीन तथ्यों को पर्याप्त महत्त्व एवं गौरव देना चाहिए—

प्रथम, धर्मशास्त्र (आचार संहिता Penal Code) में निर्धारित नियम, विनियम एवं विधान।

द्वितीय, क़ानूनवेत्ता न्यायाधिकारियों अथवा वकीलों द्वारा धर्मशास्त्र के आधार पर निर्धारित मत।

तृतीय, अपनी बुद्धि को शान्त-संयत रखते हुए वादी-प्रतिवादियों से पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों से प्राप्त सत्य।

इन्हीं तीन तत्त्वों को आधार बनाकर राजा अथवा राज-प्रतिनिधि को एक के उपरान्त दूसरे व्यवहार को देखना-परखना चाहिए।

टिप्पणी—मनु ने राजा की व्यस्तता को देखते हुए अपने स्थान पर प्रतिनिधि नियुक्त करने का अधिकार दिया है—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्।
यदा नियुञ्ज्याद्, विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने॥
आगमः प्रथमं कार्यो व्यवहारपदं ततः।
चिकित्सा निर्णयश्चैव दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्॥ 36॥

व्यवहार-प्रक्रिया के चार पक्ष होते हैं—

प्रथम, किसी व्यवहार के स्वीकृत (Admit) होने के लिए विषय से सम्बद्ध कोई लिखित प्रमाण होना चाहिए। इसी का नाम **आगम** है। इसी के अन्तर्गत वर्गीकरण है, अर्थात् विवाद किस वर्ग के अन्तर्गत है, अर्थात् क्या वह लेन-देन सम्बन्धी, अर्थात् दीवानी (Civil Suits) अथवा अपराध सम्बन्धी, अर्थात् फ़ौजदारी (Criminal) है। इन सब तथ्यों का निर्धारण भी आगम के अन्तर्गत आता है।

द्वितीय, व्यवहार संज्ञा पाने के उपरान्त व्यवहार का द्वितीय चरण है—उसका लिखित उत्तर-प्रत्युत्तर। आज की भाषा में इसे दावा-जवाबदावा कहा जाता है। इसी का नाम **प्रचलन** है।

तृतीय, वादी अथवा पक्षी द्वारा लिखित दावा—विपक्षी द्वारा जवाब देना—पक्षी द्वारा वापसी जवाबदावा तथा प्रतिरक्षी द्वारा फिर से जवाबदावा आदि प्रक्रिया के उपरान्त मौखिक (face-to-face) प्रश्नोत्तर (बयान) तथा बहस (Argument) आदि तृतीय चरण है—इसी का नाम **क्रिया** अथवा **चिकित्सा** है।

चतुर्थ, चिकित्सा के परिणाम के रूप में दिया जाने वाला निर्णय फ़ैसला (judgment) चतुर्थ चरण है—इसी का पारिभाषिक नाम **दर्शन** है।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार ने इस पद्य के अनुरूप अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है—**आगमः सम्बन्धः। तत्तदृणादानाद्यष्टादशपदानां मध्ये कतमदिदं व्यवहारपदम्, तस्यापि मध्ये कतमोऽयं तदीयशाखाभेद इति व्यवहारस्य नाम करणीयम्। ततस्तस्य चतुष्पादक्रियानिर्वाहादिका व्याधेरेव चिकित्सा करणीया। ततः प्रमाणपरीक्षानुसारेण तस्य व्यवहारस्य निर्णयः कार्य इति व्यवहारदर्शनं स्याच्चतुर्विधम्।**

'व्यवहार कल्पतरु' के अनुसार आगम का अर्थ उत्तर-प्रत्युत्तर को लिपिबद्ध करना तथा चिकित्सा का अर्थ उत्तर-प्रत्युत्तर पर विचार करना है—**आगमः भाषोत्तरयोः श्रुत्वा लेखनम्। चिकित्सा विचारणा।**

धर्मशास्त्रार्थशास्त्राभ्यामविरोधेन यत्नतः।
सम्पश्यमानो निपुणं व्यवहारगतिं नयेत्॥ 37॥

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में निपुण राजा को किसी के प्रति पक्षपात—अनुग्रह अथवा विरोध—का भाव न दिखाते हुए तथा अत्यन्त सावधान होकर और मूल तथ्यों तक पहुंचने के लिए कठोर श्रम करते हुए ही, प्रत्येक व्यवहार का निरपेक्ष भाव से निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार—कभी-कभी कहीं पर धर्मशास्त्रोक्त अर्थशास्त्र के विरुद्ध और अर्थशास्त्रोक्त धर्मशास्त्र के विरुद्ध मिलता है। ऐसी स्थिति में राजा को लोकाचार और अपने विवेक का आश्रय लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त न्यायविदों से भी परामर्श करना चाहिए, परन्तु लोकाचार के विरुद्ध कभी नहीं जाना चाहिए।

किञ्चिद्धर्मशास्त्रोक्तमर्थशास्त्रविरुद्धं भवति। किञ्चित्पुनरर्थशास्त्रोक्तं धर्मशास्त्रविरुद्धं भवति। तयोरितरेतरतारतम्यालोचनेन यथा लोकाचारविरुद्धं न भवति तथा ससभ्योऽपि राजा व्यवहारगतिं नयेत्।

याज्ञवल्क्य ने भी अपनी स्मृति में लोकाचार को महत्त्व देते हुए लिखा है—**यद्यपि शिष्टं लोकविरुद्धं नाचरणीयम् न करणीयम्।**

यथा मृगस्य विद्धस्य व्याधे मृगपदं नयेत्।
कक्षे शोणितपादेन तथा धर्मपदं नयेत्॥ 38॥

जिस प्रकार व्याध अपने बाण से क्षत-विक्षत होकर भाग गये मृग के शरीर से बहते और पृथ्वी पर गिरे रक्त को देखता हुआ उसकी खोज करता है, उसी प्रकार धर्म-व्यवहार के आसन पर प्रतिष्ठित राजा को प्रत्येक व्यवहार के प्रत्येक चरण की गहन समीक्षा-परीक्षा और उपलब्ध प्रमाणों-साक्ष्यों के निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा सत्य पर पहुंचने और वादी को न्याय दिलाने का प्रयास करना चाहिए।

यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ 39॥

व्यवहार का निर्णय करते समय अथवा अपराधी को दण्डित करने के समय अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में मतभेद मिलने की स्थिति में राजा को अर्थशास्त्र के मत की अपेक्षा धर्मशास्त्र के कथन को ही वरीयता एवं मान्यता देनी चाहिए। वस्तुतः अर्थशास्त्र के किसी भी सिद्धान्त की धर्मशास्त्रसम्मत होने पर ही मान्यता एवं प्रामाणिकता है। धर्मशास्त्र के विरुद्ध तो किसी भी अन्य शास्त्र के किसी भी कथन का कोई महत्त्व ही नहीं है।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्य भी इसी मत का समर्थन करते हुए अपनी स्मृति में लिखते हैं—**अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः।**

व्यवहारमातृकाकार का भी यही मत है—**अस्मिन्नप्यर्थशास्त्रे धर्मशास्त्राविरुद्धोर्योऽशः स उपादेयः। इतरस्तु परित्याज्यः।**

असहाय भाष्यकार भी धर्मशास्त्र को वरीयता देते हुए लिखते हैं—

यदा व्यवहारस्य निर्णयदानकाले तथा दण्डनिगमनावसरे सर्वशास्त्रोक्ता महती लघ्वी वा आकोटना दृश्यते। धर्मशास्त्रोक्ता चान्यादृशाकारा दृश्यते। तदा तयोः शास्त्रयोः परस्परं विप्रतिपत्तौ विसंवादे अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमेवाचरेत्।

धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।
व्यवहारो हि बलवान् धर्मस्तेनावहीयते॥ 40॥

विभिन्न धर्मशास्त्रों में परस्पर विरोध अथवा धर्मशास्त्र और लोक-व्यवहार में मतभेद मिलने पर अपने विवेक से युक्ति-युक्त और तर्कसंगत का ग्रहण तथा शेष अयुक्त का त्याग करना चाहिए। तर्क और युक्ति की संगति के लिए लोक-व्यवहार को ही आधार बनाना चाहिए। शिष्ट जनों के आचार-व्यवहार को औचित्य की कसौटी मानना चाहिए; क्योंकि धर्म के निर्णय के लिए इससे अधिक प्रामाणिक और कोई आधार हो ही नहीं सकता। लोक-व्यवहार को शास्त्र से कहीं अधिक गौरव देना चाहिए।

टिप्पणी—'श्रीमद्भगवद्गीता' में श्रेष्ठ पुरुष के आचरण का दूसरे लोगों द्वारा अनुसरण किये जाने का उल्लेख हुआ है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः।
सः यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

शिष्ट जनों के आचरण-रूप लोक-व्यवहार की प्रामाणिकता की पुष्टि करते हुए असहाय भाष्यकार का कथन है—**यत्र पुनस्र्थापत्या विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्म-**

शास्त्रोक्तलोकव्यवहारयोः तत्र धर्मशास्त्रोक्तमुत्सृज्य लोकव्यवहारस्थमाचरेत्। यतः सः एव बलवान्।

इस सम्बन्ध में वे दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

प्रथम, धर्मशास्त्र, अपुत्रा स्त्री के पति खो जाने, मर जाने, संन्यासी बन जाने, जाति से पतित हो जाने तथा नपुंसक सिद्ध होने पर देवर से सम्बन्ध योजना द्वारा पुत्रोत्पत्ति की अनुमति देता है, परन्तु लोक द्वारा स्वीकृत न होने पर आज यह प्रथा अमान्य, अतः लुप्त हो गयी है।

द्वितीय, दक्षिण भारत में मामा-भांजी का विवाह-सम्बन्ध धर्मशास्त्रसम्मत होने पर भी लोकनिन्दित होने से आज अतीत की कथा बनकर रह गया है।

इस प्रकार आचार्य महोदय का स्पष्ट कथन है कि शास्त्र की दुहाई देकर देश, कुल और समाज में परम्परा से प्रचलित प्रथा का अनादर कभी नहीं करना चाहिए—**देशे देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। स शास्त्रार्थ बलान्नैव लंघनीयः कदाचन।**

सूक्ष्मो हि भगवान् धर्मः परोक्षो दुर्विचारणः।
अतः प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहारगतिं नयेत्॥ 41॥

शास्त्र से लोक-व्यवहार की वरीयता के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए देवर्षि नारद कहते हैं—धर्म भगवान् है, अतः वह सूक्ष्म है, उसे देख पाना सहज-सरल कार्य नहीं। इसके अतिरिक्त वह प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष है, दृष्टिगोचर है ही नहीं। साथ ही वह विचार की सीमा से भी बाहर है। इसके विपरीत व्यवहार स्थूल, प्रत्यक्ष एवं सरल-सुबोध है, अतः शास्त्र की अपेक्षा व्यवहार को अपनाने में ही बुद्धिमत्ता है।

यात्यचौरोऽपि चौरत्वं चौरश्चायात्यचौरताम्।
अचौरश्चौरतां प्राप्तो माण्डव्यो व्यवहारतः॥ 42॥

व्यवहार-युक्ति द्वारा विवेचन एवं निर्णय की प्रक्रिया भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। व्यवहार में अचोर को चोर और चोर को अचोर समझ लेना बड़ी बात नहीं। उदाहरणार्थ, माण्डव्य महर्षि ने कोई चोरी नहीं की थी, परन्तु मौनव्रती होने के कारण राजा ने अपने द्वारा पूछे प्रश्नों का उत्तर न देने—मौन—को उनके अपराध की स्वीकृति मानकर उन्हें दण्डित कर दिया। इस प्रकार वे चोर न होते हुए भी चोरी के दण्ड के भागी हुए। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि युक्ति द्वारा तथ्य-निर्णय करने में भी विशेष सावधानी अपेक्षित होती है।

स्त्रीषु रात्रौ बहिर्ग्रामादन्तर्वेश्मन्यरातिषु।
व्यवहारः कृतोऽप्येषु पुनः कर्त्तव्यतामियात्॥ 43॥

निम्नोक्त स्थानों एवं परिवेशों में किया गया व्यवहार सदैव पुनर्वीक्षा (Revision) का विषय होता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि इन स्थानों-स्थितियों में अनुराग, भय तथा प्रमाद का वातावरण रहता है, अतः लिये गये निर्णय को विवेकसम्मत नहीं माना जा सकता।

स्त्रियों की संगति में अथवा स्त्रियों के द्वारा रात्रि के समय, ग्राम के बाहर, वन आदि निर्जन स्थान में, घर के भीतर तथा शत्रुओं की परिषद् ों किये गये व्यवहार को अन्तिम तथा न्यायसंगत नहीं मानना चाहिए।

गहनत्वाद् विवादानामसामर्थ्यात् स्मृतेरपि।
ऋणादिषु हरेत्कालं कामं तत्त्वबुभुत्सया॥ 44॥

अपनी विविधता और जटिलता के कारण एक तो विवाद गहन है, दूसरे मनुष्यों की स्मरणशक्ति सीमित है, कार्य अधिक है और समय व क्षमता अल्प है, अतः व्यस्तता और व्यग्रता है। यही कारण है कि उनके लिए ऋण आदि से सम्बन्धित सभी लेन-देन को स्मरण रख पाना तथा सभी तथ्यों की गहराई में उतरना सम्भव ही नहीं होता।

गोभूहिरण्यस्त्रीस्तेयवागदण्डात्ययिकेषु च।
साहसेष्वभिशापे च सद्य एव विवादयेत्॥ 45॥

निम्नोक्त से सम्बन्धित विवादों का निर्णय (व्यवहार) तत्काल करना चाहिए— गाय, धरती, स्वर्ण, स्त्री, चोरी, गाली-गलौच, मार-पीट, हत्या, डकैती तथा अभिशाप-दुर्भावना। ऋण आदि के लेन-देन से सम्बन्धित मामलों में देर-सवेर की जा सकती है, परन्तु उपर्युक्त मामलों में तो किसी भी कारण से की गयी देरी अनुचित होती है।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्य ने भी अपने स्मृति-ग्रन्थ में चोरी, डाका, गाली-गलौच, गो-हरण, स्त्री-हरण तथा शाप आदि के विवादों को तत्काल सुलझाने का निर्देश दिया है—

साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम्।
विवादयेत् सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः॥

मिताक्षराकार के अनुसार 'विवादयेत्' का अर्थ है—**विवादं समापयेदित्यर्थः**, अर्थात् विवाद को अविलम्ब समाप्त करना।

अनावेद्य तु यो राज्ञे सन्दिग्धेऽर्थे प्रवर्त्तते।
प्रसह्यः स विनेयः स्यात् स चाऽस्यार्थो न सिद्ध्यति॥ 46॥

किसी भी विवाद के उत्पन्न होने पर राजा को आवेदन न करके अपने आप कार्यवाही करने वाले, अर्थात् क़ानून को अपने हाथ में लेने वाले व्यक्ति को विधि के अनुसार न केवल दण्डित करना चाहिए, अपितु उसके द्वारा लिये गये सभी

निर्णयों को भी निरस्त कर देना चाहिए।

वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः।
आसेधयेद् विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम्॥ 47॥

प्रतिवादी द्वारा अपने वक्तव्य पर स्थिर न रहने और पूर्ववक्तव्य से विरुद्ध अथवा भिन्न वक्तव्य देने पर राजा के आदेश होने तक वादी के व्यवहार को निरुद्ध अथवा स्थगित समझना चाहिए; क्योंकि यह निर्णय लेना राजा का कार्य है कि प्रतिवादी के पूर्ववक्तव्य के अतिक्रमण करने वाले नये वक्तव्य को मान्यता दी जाये अथवा नहीं। वादी को तो राजा के आदेश की प्रतीक्षा ही करनी चाहिए।

स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा।
चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत्॥ 48॥

व्यवहार का आसेध—अवरोध, विरोध अथवा स्थगन (Suspension)—चार प्रकार का होता है—स्थानासेध, कालासेध, प्रवासासेध तथा कर्मासेध। आसिद्ध (प्रतिबन्धित) व्यक्ति को इन चारों का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु ।
आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात्॥ 49॥

स्थान-विशेष को न छोड़ने का राजकीय आदेश स्थानासेध कहलाता है। इस सम्बन्ध में यदि नदी-पार के स्थान पर भयानक, दुर्गम वन में भूकम्प आदि उपद्रव-ग्रस्त स्थान पर तथा प्रदूषित-दुर्गन्धित (स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद) स्थान पर रखा गया व्यक्ति स्थान बदल लेता है, तो उसे राजाज्ञा के उल्लंघन का दोषी-अपराधी नहीं माना जाना चाहिए। यदि ऐसा व्यक्ति नदी-पार चला जाता है अथवा दुर्गम-भयंकर निर्जन वन को छोड़कर ग्राम में आ जाता है अथवा किसी निरापद एवं स्वच्छ स्थान पर चला जाता है, तो उसे आज्ञा-भंग नहीं मानना चाहिए।

राजप्रत्यक्षदृष्टानि सुहृत्सम्बन्धिबान्धवैः।
प्राप्तद्विगुणदण्डानि कार्याणि पुनरुद्धरेत्॥ 50॥

स्वयं राजा द्वारा अथवा अपने बन्धु, मित्र अथवा आप्त (प्रामाणिक) पुरुष द्वारा भली प्रकार से सोच-विचार के उपरान्त दिये गये निर्णय के विरुद्ध पुनर्विचार के लिए याचिका प्रस्तुत करने वाले की प्रार्थना को निर्णय के सही पाये जाने पर दुगुना दण्ड भुगतने की शर्त को मानने पर ही स्वीकार करना चाहिए।

आसेधकाल आसिद्ध आसेधं यो व्यतिक्रमेत्।
स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेधा दण्डभाग् भवेत्॥ 51॥

दोनों—आसेध (House Arrest) की अवधि में आसेध का अतिक्रमण करने वाला, अर्थात् अपराधी को समय से पहले छोड़ देने वाला अधिकारी व आसेध के

अन्तर्गत न आने वाले व्यक्ति—को बन्दी बनाकर रखने वाला अधिकारी ही दण्ड के पात्र होते हैं; क्योंकि इन दोनों ही स्थितियों में राजाज्ञा का उल्लंघन तथा विधि की अवमानना होती है।

निम्नोक्त चौदह प्रकार के व्यक्तियों को कभी बन्दी बनाकर नहीं रखना चाहिए। इनके कार्य-व्यापार को देखते हुए राजा इन्हें रोककर रखने का आदेश कभी नहीं देता—

निर्वेष्टुकामो रोगार्त्तो यियक्षुर्व्यसनेस्थितः।
अभियुक्तस्तथान्येन राजकार्योद्यतस्तथा॥ 52॥
गवां प्रचारे गोपालाः शस्यारम्भे कृषीबलाः।
शिल्पिनश्चापि तत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे॥ 53॥
अप्राप्तव्यवहारश्च दूतो दानोन्मुखो व्रती।
विषमस्थश्च नासेध्यो न चैतानाह्वयेन्नृपः॥ 54॥

1. विवाह के लिए वरण किया गया युवक।
2. (असाध्य एवं विषम) रोग-पीड़ित।
3. यज्ञ-यागादि सम्पन्न करने का इच्छुक।
4. (दुर्भिक्ष आदि) विपत्ति-ग्रस्त।
5. किसी अन्य अभियोग में फंसा होने से दूसरे न्यायाधिकरण का सामना कर रहा।
6. राजकार्य में लगा।
7. गो-सेवा में नियुक्त गोपाल।
8. कृषि, शस्यक्षेत्र से जुड़ा (साग-सब्ज़ी और पशुओं का चारा उगाने वाला) किसान।
9. शिल्प-कार्य से जुड़ा शिल्पी।
10. युद्ध में संलग्न सैनिक।
11. अबोध बालक।
12. सन्देशवाहक दूत।
13. दान करने को उद्यत व्यक्ति।
14. विषम स्थान पर रहने वाला।

नाभियुक्तोऽभियुञ्जीत तमतीत्वार्थमन्यतः।
न चाभियुक्तमन्येन न विद्धं वेद्धुमर्हति॥ 55॥

अभियोग के सुनने के समय सम्बद्ध विषय को छोड़कर किसी अन्य विषय की चर्चा नहीं करनी चाहिए और न ही किसी अन्य विषय का उपस्थापन करना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक मामले में उलझे व्यक्ति पर उस मामले के निपटने से

पहले कोई दूसरा मामला नहीं चलाना चाहिए; क्योंकि पहले से ही दुखी प्राणी को और अधिक दुखी नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इस मत का समर्थन किया गया है—

अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्।
अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्॥

अर्थात् जब तक अभियुक्त एक अभियोग में उलझा है, उससे निपट नहीं जाता है, तब तक किसी अन्य द्वारा उसे किसी दूसरे मामले में नहीं फंसाना चाहिए।

यमर्थमभियुञ्जीत न तं विप्रकृतिं नयेत्।
नान्यत् पक्षान्तरं गच्छेद् गच्छन् पूर्वात् स हीयते॥ 56॥

अभियोग को एक बार जिस वर्ग, श्रेणी तथा उपवर्ग में रखा जाता है, उसे कभी बदलना नहीं चाहिए। उसी परिप्रेक्ष्य में उस पर विचार, विवाद, निरीक्षण और निर्णय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अभियुक्त को भी अपने पक्ष को छोड़कर दूसरे पक्ष को ग्रहण नहीं करना चाहिए। एक बार जो स्थिति अपना ली, उसी पर डटे रहना चाहिए। स्थिति बदलते रहने से मामले के प्रति न्याय नहीं हो पाता।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्यस्मृति में इस तथ्य को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—यदि स्वर्ण की चोरी का मामला दर्ज कराया गया है, तो कभी धान्य की चोरी की बात नहीं करनी चाहिए। न ही साक्षियों को स्वर्ण की चोरी से भिन्न कुछ कहना चाहिए। इतना ही नहीं, अभियुक्त ने स्वर्ण के साथ-साथ धान्य भी चुराया है—यह भी नहीं कहना चाहिए। ऐसा न करने वाले को निश्चित रूप से पराजय का मुख ही देखना पड़ता है—'**हिरण्यं लेखयित्वा साक्षिप्रश्नकाले धान्यमिति। नान्यत्पक्षान्तरमिति गच्छेत् साक्षिणमुद्दिश्येत्युक्तम्। नार्थान्तरमुद्दिश्येति। इदमन्यन्मम धारयति तत् तावद् दाप्यतां तिष्ठन्तु साक्षिण इति। स पूर्वोक्तादर्थाद्धीयते। तत्र पराजीयत् इत्यर्थः। तच्च न लभते, ८ण्डश्चेति।**'

न च मिथ्याभियुञ्जीत दोषो मिथ्याभियोगिनः।
यस्तत्र विनयः प्रोक्तः सोऽभियोक्तारमाव्रजेत्॥ 57॥

काम, क्रोध तथा लोभ आदि के वशीभूत होकर कभी किसी पर झूठा अभियोग नहीं चलाना चाहिए। मिथ्या आरोप लगाने वाले को स्मरण रखना चाहिए कि अपराधी को दिया जाने वाला, अर्थात् निर्धारित दण्ड आरोप के झूठा प्रमाणित होने पर मिथ्याभाषी को दिया जाता है।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार किसी निर्दोष पर गुरु-पत्नीगामी का मिथ्या आरोप लगाने वाले को गुरुपत्नीगमन-जैसे जघन्य अपराध के लिए निर्धारित दण्ड से दण्डित करना चाहिए—**अगुरुतल्पगः गुरुतल्पग इत्युक्ते गुरुतल्पगस्य यत्कार्यं तदभियोक्तुः कर्त्तव्यम्।**

सापदेशं हरन्कालमब्रुवंश्चापि संसदि।
उक्ता वाचो विब्रुवंश्च हीयमानस्य लक्षणम्॥ 58॥

न्यायाधिकारी द्वारा न्यायालय में पूछे गये प्रश्नों का सीधे-सीधे और तत्काल उत्तर न देकर टालमटोल करने वाले, बहाना बनाने वाले, मौन खड़े रहने वाले अथवा अपनी ही पूर्वोक्त कथन से मुकर जाने वाले को हीनवादी (दुर्बल पक्ष) समझना चाहिए। वादी के इस व्यवहार को उसकी पराजय का प्रथम लक्षण मानना चाहिए।

पलायते य आहूतः प्राप्तश्च विवदेन्न यः।
विनेयः स भवेद्राज्ञा हीन एव स वादतः॥ 59॥

राजा द्वारा बुलाये जाने पर भाग खड़ा होने वाले (आज की भाषा में समन लेने से इनकार करने वाले अथवा समन लाने वाले को घूस देकर वापस लौटा देने वाले अथवा उसे देखते ही खिसक जाने वाले) तथा यत्न द्वारा बलपूर्वक पकड़े जाने पर निरर्थक कलह करने वाले को न केवल दण्डित करना चाहिए, अपितु ऐसे व्यक्ति को दुर्बल पक्ष समझते हुए हीन (पराजित) वादी भी घोषित कर देना चाहिए।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्यस्मृति में भी दोमुखी बात करने वाले, मनमानी करने वाले तथा राज्य द्वारा बुलाये जाने पर उपस्थित न होने वाले को दण्डनीय और हीन (पराजित) माना गया है—

सन्दिग्धार्थं स्वतन्त्रो यः साधयेद्यश्च निष्पतेत्।
न चाहूतो वदेत् किञ्चिद्धीनो दण्डश्च सः स्मृतः॥

सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्टः सन्नाभिनन्दति।
अपदिश्य च यो देश्यं पुनस्तमनुधावति॥ 60॥

अपने विवाद-विषय को सोच-समझकर और तर्क-युक्ति-संगत बनाकर प्रस्तुत करने वाले, परन्तु न्यायाधिकारियों (ज्यूरी के सदस्यों) द्वारा पूछे जाने पर कभी एक समय अपने पक्ष में किसी लिखित प्रमाण और साक्ष्य आदि के न होने और फिर दूसरे समय प्रमाण और साक्ष्य आदि का होना बताने वाले, अर्थात् अस्थिर बुद्धि और अनिश्चित भाव वाले वादी को भी हीन, झूठा एवं पराजित घोषित करना चाहिए।

सन्ति ज्ञातार इत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः।
एतैस्तु कारणैः सर्वैर्धर्महीनान् विनिर्दिशेत्॥ 61॥

न्यायाधिकरण में अपने विवाद को प्रस्तुत करते समय वादी अपने पक्ष में लिखित प्रमाण और साक्ष्य आदि का उल्लेख तो करता है, परन्तु न्यायालय द्वारा प्रमाण और साक्ष्य दिखाने के आदेश मिलने पर उन्हें उपस्थित नहीं करता, तो ऐसे वादी के व्यवहार को अपुष्ट एवं न्यायविरुद्ध मानते हुए उसे निरस्त कर देना चाहिए।

निर्णिक्तव्यवहारेषु प्रमाणमफलं भवेत्।
लिखितं साक्षिणो वापि पूर्वमावेदितं न चेत्॥ 62॥

व्यवहार-निर्णय से पूर्व लिखित प्रमाण और साक्ष्य आदि प्रस्तुत करने की अनुमति देने के लिए आवेदन न किये जाने पर अथवा आवेदन करने और अनुमति मिलने पर यथासमय लिखित प्रमाण और साक्ष्य आदि उपस्थापित न किये जाने पर, निर्णय घोषित हो जाने के उपरान्त प्रमाणों के उपस्थापित करने की प्रार्थना को निरर्थक मानते हुए निरस्त कर देना चाहिए और घोषित निर्णय को स्थिर बनाये रखना चाहिए।

यथा पक्वेषु धान्येषु निष्फलाः प्रावृषो गुणाः।
निर्णिक्तव्यवहाराणां प्रमाणमफलं तथा॥ 63॥

उपर्युक्त तथ्य—निर्णय घोषित करने के उपरान्त प्रमाणों को देखने की दुहाई की निरर्थकता—के समर्थन में स्मृतिकार का कथन है कि जिस प्रकार धान्य के पक जाने पर वर्षा की कोई उपयोगिता नहीं होती, उसी प्रकार व्यवहार का निर्णय हो जाने के उपरान्त प्रमाण आदि के होने की भी कोई उपयोगिता नहीं होती।

अभूतमप्यभिहितं प्राप्तकालं परीक्षयेत्।
यत्तु प्रमादान्नोच्येत तद्भूतमपि हीयते॥ 64॥

व्यवहार में असत्य प्रतीत होने वाले वक्तव्य अथवा तथ्य की प्रश्न आदि से, साक्ष्य से, लिखित प्रमाण से अथवा अपनी जानकारी से अथवा अन्यान्य किन्हीं विश्वस्त स्रोतों से वास्तविकता का पता लगाने का प्रयास करना चाहिए। इस प्रयास में चूक अथवा प्रमाद अथवा उपेक्षा होने पर सत्य का गला घुट सकता है तथा अन्याय न्याय को दबा सकता है। अतः विशेष सावधानी बरतनी आवश्यक है।

तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्॥ 65॥

विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद के उपरान्त परिणाम पर पहुंचे और घोषित निर्णय—जय-पराजय तथा दण्ड-विधान आदि—वाले व्यवहार के विरुद्ध पुनर्विचार की प्रार्थना करने वाले को पराजित होने पर दुगुना दण्ड भुगतने को सहमत होने की लिखित शपथ लेनी होती है। इसी आधार पर उसकी प्रार्थना स्वीकार की जानी चाहिए।

दुर्दृष्टे व्यवहारे तु सभ्यास्तं दण्डमाप्नुयुः।
न हि जातु विना दण्डं कश्चिन्मार्गोऽवतिष्ठते॥ 66॥

यदि न्यायाधिकरण (ज्यूरी) के सदस्य अज्ञान, प्रमाद अथवा पक्षपात व राग-द्वेष के कारण ग़लत व्यवहार करते हैं, तो उन्हें भी दण्डित करना चाहिए। न्याय के प्रति विश्वासघात को दण्डनीय अपराध ही मानना चाहिए। वस्तुतः दण्ड ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिसके भय से व्यक्ति पापाचरण, अन्याय-प्रवर्तन तथा

कुमार्ग-गमन से अपने को रोकता-बचाता है। दण्ड के भय से ही धर्म और सदाचार की रक्षा हो पाती है।

रागादज्ञानतो वापि लोभाद्वा योऽन्यथा वदेत्।
सभ्योऽसभ्यः स विज्ञेयः तं पापं विनयेन्नृपः ॥ 67 ॥

अनुराग एवं स्नेहवश, अज्ञानवश अथवा घूस लेने आदि लोभ-लालच में फंसकर, सत्य की उपेक्षा करके वक्तव्य देने वाले वादी, प्रतिवादी, साक्षी अथवा न्यायाधिकरण के सदस्य, सभी को समान रूप से दण्डनीय अपराधी समझना चाहिए और राजा को इन्हें यथोचित दण्ड देना चाहिए।

किं तु राज्ञा विशेषेण स्वधर्ममनुरक्षता।
मनुष्यचित्तवैचित्र्यात् परीक्ष्या साध्वसाधुता ॥ 68 ॥

राजा को दण्ड देने का अधिकार तो अवश्य है, परन्तु उसे दण्ड के अनुचित प्रयोग की छूट कदापि नहीं है। अतः धर्म की रक्षा के प्रति सजग राजा को दण्ड-विधान से पूर्व अपराध की प्रकृति, प्रवृत्ति, मात्रा तथा परिस्थिति के साथ-साथ व्यक्ति की मनोवृत्ति की जांच-परख भी अवश्य करनी चाहिए। राजा को दण्ड-निर्धारण से पूर्व यह अवश्य सुनिश्चित करना चाहिए कि अपराध जान-बूझकर किया गया है अथवा अनजाने में और विवशतावश किया गया है। अपराध करने वाला व्यक्ति अपराधी मनोवृत्ति का है अथवा साधु प्रकृति का है। राजा को इस तथ्य को भी अनदेखा नहीं करना चाहिए कि मनुष्य की चित्तवृत्ति परिवर्तनशील है। कभी साधु प्रकृति के व्यक्ति की मानसिकता भी मलिन और कभी पक्के धूर्त व्यक्ति की मनोवृत्ति भी उज्ज्वल हो सकती है।

इन सभी तथ्यों पर विचार किये बिना सबके लिए एक समान दण्ड का निर्धारण, अर्थात् सबको एक ही लाठी से हांकना न्यायसंगत नहीं होता।

पुरुषाः सन्ति ये लोभात् प्रब्रूयुः साक्ष्यमन्यथा।
सन्ति चान्ये दुरात्मानः कूटलेख्यकृतो जनाः ॥ 69 ॥

कुछ लोग ऐसे दुष्ट होते हैं, जो लोभ के वश में होकर नक़ली-जाली लेखपत्र (दस्तावेज़, documents) तैयार कर लेते हैं और कुछ दूसरे दुर्जन झूठी गवाही देने में सिद्धहस्त होते हैं।

अतः परीक्ष्यमुभयमेतद्राज्ञा विशेषतः।
लेख्याचारेण लिखितं साक्ष्याचारेण साक्षिणः ॥ 70 ॥

अतः राजा (न्यायाधिकारी) को लिखित प्रमाणों की सत्यता-असत्यता की तथा साक्षी के चरित्र की भली-भांति जांच-परख करने के उपरान्त ही उनके आधार पर अपना निर्णय देना चाहिए। बिना जांच-परख किये उन्हें कदापि प्रामाणिक नहीं मान लेना चाहिए।

असत्याः सत्यसङ्काशाः सत्याश्चासत्यसन्निभाः ।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम् ॥ 71 ॥

राजा (न्यायाधिकरण के सदस्यों) को इस तथ्य का भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि अनेक सीधे-सादे व्यक्ति सच्चे होने पर भी अपनी सरलता और अकुशलता के कारण झूठे-से प्रतीत होते हैं। उनमें सत्य पर टिके रहने की अपेक्षित दृढ़ता का अभाव होता है। वे यह नहीं जानते कि चतुर वकील उनके मुंह से क्या उगलवा रहा है अथवा उनके सीधे-सादे वचनों का क्या अर्थ निकाला जा रहा है। इसके विपरीत कुछ व्यक्ति बड़े ही धूर्त, चालाक और तिकड़मी होते हैं। वे झूठे होते हुए भी अपने हाव-भावों, चेष्टाओं, गतिविधियों और वचनों से अपने को नितान्त सच्चे और विश्वसनीय स्थापित करने में सफल हो जाते हैं। राजा को इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस तथ्य की उपेक्षा करने पर धूर्तों की चांदी हो जाती है और सीधे-सादे व्यक्ति अन्याय के शिकार हो जाते हैं।

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न तलं विद्यते व्योम्नि न खद्योते हुताशनः ॥ 72 ॥
तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम्।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न धर्मात् परिहीयते ॥ 73 ॥

इसी तथ्य के समर्थन में दो उदाहरण प्रस्तुत करके राजा को सावधान करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार दूर से देखने पर आकाश और पृथ्वी मिलते प्रतीत होते हैं, जिस प्रकार जुगनू में आग की चिनगारी प्रतीत होती है, जबकि वास्तविकता इनसे भिन्न है, न तो आकाश-पृथ्वी का मिलन है और न ही जुगनू में अग्नि-स्फुलिंग है, इसी प्रकार किसी पुरुष के वचन में सत्य का आभास दीखने पर भी सत्य नहीं होता। अतः जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसकी भी गहन परीक्षा किये बिना उसे अन्तिम सत्य नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि यहां भी ग़लती की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार गहरी सूझ-बूझ से काम करने वाला और नितान्त सजग-सतर्क रहने वाला राजा ही धर्म और न्याय की रक्षा करने में समर्थ हो पाता है।

एवं पश्यन् सदा राजा व्यवहारान् समाहितः ।
वितत्येह यशोदीप्तं प्रेत्याप्नोति त्रिविष्टपम् ॥ 74 ॥

इस प्रकार अत्यन्त सजग एवं तटस्थ रहकर यथानिर्दिष्ट विधि से व्यवहार पर विचार करने वाला राजा अपने जीवनकाल में प्रजा के अनुराग और उज्ज्वल यश को प्राप्त करता है तथा मरणोपरान्त उत्तम गति का अधिकारी बनता है।

टिप्पणी—भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को कर्तव्यपालन के लिए प्रेरित करते हुए यश और स्वर्ग की प्राप्ति का प्रलोभन दिया था—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

युद्ध में विजयी होने पर पृथ्वी पर शासन का और मृत्यु हो जाने पर स्वर्ग में वास का अधिकार सुनिश्चित है। यहां कर्तव्यपालक राजा के लिए जीवनकाल में कमनीय कीर्ति और मरने पर परमगति सुरक्षित हो जाती है। इसके अतिरिक्त शास्त्र यह भी कहता है ''**कीर्तिर्यस्य सः जीवति**'' यशस्वी तो अमर हो जाता है।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

द्वितीय अध्याय

सुनिश्चितबलाधानस्त्वर्थी स्वार्थप्रचोदितः।
लेखयेत् पूर्वपक्षं तु कृतकार्यविनिश्चयः॥ 1॥

वादी न्यायाधिकरण को यह आवेदन कर सकता है कि प्रतिवादी साधन-सम्पन्न होने के अतिरिक्त अपने स्वार्थ से प्रेरित है तथा इस व्यवहार को जीतने का दृढ़ संकल्प लिये हुए है, अतः वह लिखित प्रमाणों में गड़बड़ी और साक्ष्य आदि को भड़काने-तोड़ने-जैसा कुछ भी कर सकता है, जिससे मुझे संरक्षण की आवश्यकता है। मुझे सुरक्षा प्रदान की जाये और मेरा प्रतिद्वन्द्वी मनचाहा अनुचित न कर सके, इसे सुनिश्चित किया जाये।

पूर्वपक्षश्रुतार्थस्तु प्रत्यर्थी तदनन्तरम्।
पूर्वपक्षार्थसम्बन्धं प्रतिपक्षं निवेशयेत्॥ 2॥

वादी के आवेदन-पत्र में उल्लिखित आशंका के तात्पर्य को समझकर प्रतिवादी को स्पष्टीकरण के रूप में अपना पक्ष न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करना चाहिए।

श्वो लेखनं वा स लभेत् त्र्यहं सप्ताहमेव च।
अर्थी तृतीयपादे तु युक्तं सद्यो ध्रुवं जयी॥ 3॥

प्रतिवादी को न्यायालय से वादी द्वारा की गयी शिकायत का उत्तर दूसरे दिन, अथवा तीन दिनों में अथवा अधिक-से-अधिक एक सप्ताह के भीतर अवश्य प्रस्तुत कर देना चाहिए। ऐसा न करने पर और व्यवहार के तीसरे चरण लेख-परीक्षा, साक्ष्य-विचार तथा विवाद (Argument) को पार कर लेने पर व्यवहार को निर्णीत और वादी को विजयी घोषित मानना चाहिए।

मिथ्या सम्प्रतिपत्तिर्वा प्रत्यवस्कन्दमेव वा।
प्राङ्न्यायविधिसाध्यं वा उत्तरं स्याच्चतुर्विधम्॥ 4॥

वादी द्वारा प्रतिवादी के विरुद्ध उपस्थापित व्यवहार के प्रतिवादी द्वारा दिये जाने वाले उत्तर के चार प्रकार हो सकते हैं—(1) व्यवहार को मिथ्या बताना, (2) सम्प्रतिपत्ति—आवेदन की भाषा का अस्पष्ट होना, (3) दुर्बोध—कारण-विशेष—का उल्लेख न होने की कहना तथा बताना, अर्थात् (4) इस व्यवहार का अन्य न्यायालय में निरस्त हो गया बताना-प्राङन्याय।

मिथ्यैतन्नाभिजानामि मम तत्र न सन्निधिः।
अजातश्चास्मि तत्काल एवं मिथ्या चतुर्विधम्॥ 5॥

मिथ्या उत्तर के चार प्रकार हो सकते हैं—

प्रथम, वादी द्वारा लगाये गये आरोप को मिथ्या बताना, **द्वितीय,** अभियोग के विषय के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना, **तृतीय,** अभियोग में उल्लिखित घटनास्थल पर अपनी अनुपस्थिति बताना तथा **चतुर्थ,** उल्लिखित घटना के समय अपना जन्म ही न हुआ होना अथवा उस समय अपने को विदेश में या किसी समारोह में उपस्थित बताना।

मिथ्या च विपरीतं च पुनः शब्दसमागमम्।
पूर्वपक्षार्थसम्बन्धमुत्तरं स्याच्चतुर्विधम्॥ 6॥

उपर्युक्त चारों मिथ्या उत्तरों के निम्नोक्त रूप से क्रमशः चार प्रत्युत्तर दिये जा सकते हैं—

प्रथम, प्रतिवादी द्वारा अभियोग को मिथ्या बताना, अर्थात् मिथ्या है।

द्वितीय, प्रतिवादी अभियोग-आरोप के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखता है तथा मेरे अभियोग-पत्र की भाषा पूर्णतः स्पष्ट सरल और सुबोध है।

तृतीय, अभियोग-पत्र में सभी कारणों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

चतुर्थ, यह अभियोग किसी अन्य न्यायालय में कभी निरस्त नहीं हुआ। इस सम्बन्ध में प्रतिवादी का कथन मिथ्या एवं भ्रामक है।

भाषाया उत्तरं यावत् प्रत्यर्थी विनिवेशयेत्।
अर्थी तु लेखयेत्तावद्यावद्वस्तु विवक्षितम्॥ 7॥

वादी को लिखित आवेदन में केवल अत्यावश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य तथ्य लिखने चाहिए और प्रतिवादी के उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। उसका उत्तर न आने तक तथा अभियोग-पत्र की कोई प्रतिलिपि न भेजे जाने तक वादी अपने आवेदन-पत्र में यथेष्ट संशोधन—जोड़ना-छोड़ना—कर सकता है। प्रतिवादी को वादी के अभियोग से परिचित किये जाने के उपरान्त उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं किया जा सकता। हां, प्रतिवादी के उत्तर के प्रत्युत्तर में अपनी बात कहने के लिए वह अवश्य स्वतन्त्र है।

टिप्पणी—स्मृति चन्द्रिकाकार किन्हीं आचार्यों द्वारा प्रतिवादी के उत्तर के आने के उपरान्त भी वादी द्वारा अपने अभियोग-पत्र में संशोधन की अनुमति देने को अनुचित एवं अवाञ्छनीय मानते हैं—**केचिन्निविष्टेऽप्युत्तरे शोधनमिच्छन्ति। तदनवस्था प्रसंगात् पूर्वोक्तवचनविरोधाच्च हेयम्।**

अन्यार्थमर्थहीनं च प्रमाणागमवर्जितम्।
लेख्यं हीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोषास्तूदाहृताः॥ 8॥

वादी द्वारा अपने विरुद्ध प्रस्तुत अभियोग-पत्र में प्रतिवादी निम्नोक्त सात दोष निकाल सकता है—

प्रथम, अन्यार्थ—वाञ्छनीय अर्थ में भिन्न अर्थ की प्रतीति होना।

द्वितीय, अर्थहीनता—अभियोग के आवेदन करने का पात्र ही न होना।

तृतीय, प्रमाण-वर्जित—वादी द्वारा प्रस्तुत अभियोग की पुष्टि में किसी प्रमाण का न होना।

चतुर्थ, आगम-वर्जित—अभियोग-पत्र का न्याय, धर्म आदि शास्त्रों के तथा समाज व देश के विरुद्ध होना।

पञ्चम, हीन—अपेक्षित स्थान पर न होना। उपर्युक्त का अपनेक्षित स्थान पर होना।

षष्ठ, अधिक—विसर्ग, विराम, अल्पविराम, मात्रा तथा स्वर आदि का यथास्थान प्रयोग न होना।

सप्तम, भ्रष्ट—अभियोग-पत्र का स्वच्छ न होना, तेल, मिट्टी आदि से गन्दा तथा पानी से भीगा होना एवं शिष्टता का अभाव।

लब्धव्यं येन यद्यस्मात् स तत्तस्मादवाप्नुयात्।
न त्वन्योन्यमथान्यस्मादित्यन्यार्थमिदं त्रिधा॥ 9॥

सातों दोषों का परिचय इस प्रकार है—अभियोग-पत्र की—प्रथम अन्यार्थ—जो वस्तु जिसको जिससे प्राप्त करनी हो—भाषा से वही अर्थ निकलना चाहिए; क्योंकि अभिमत से भिन्न वस्तु को, वाञ्छित से भिन्न व्यक्ति से तथा अभीष्ट से भिन्न व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अत: सन्दर्भ से भिन्न अर्थ देने वाली भाषा का प्रयोग अन्यार्थ दोष कहलायेगा और यह दोष अभियोग को निरस्त कर सकता है।

मनसाहमपि ध्यातस्त्वन्मित्रेणेह शत्रुवत्।
अतोऽन्यया महाक्षान्त्या त्वमिहावेदितो मया॥ 10॥

किसी दूसरे की ओर से—उसकी अनुमति-सहमति होने अथवा न होने *(पावर ऑफ अटार्नी)* पर—अमुक व्यक्ति मित्रता का ढोंग करता हुआ आपके प्रति शत्रुता का व्यवहार करता है—जो मुझे रुचिकर नहीं—यह कहते हुए सम्बद्ध व्यक्ति के विरुद्ध न्यायालय में अभियोग चलाना अर्थहीन अभियोग कहलाता है। यहां विचारणीय तथ्य यह है कि जब सम्बद्ध व्यक्ति को विरोधी से कोई शिकायत ही नहीं, वह स्वयं कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करता तथा उसके विरुद्ध कोई पग नहीं उठाता, तो किसी दूसरे को क्यों कष्ट हो रहा है ? ऐसे मामले में आजकल इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है—''मुद्दई (वादी) सुस्त, गवाह चुस्त।''

द्रव्यप्रमाणहीनं यत्फलोपाश्रयवर्जितम्।
प्रमाणवर्जितं नाम लेख्यदोषं तदुत्सृजेत्॥ 11॥

प्रमाण-वर्जित दोष वह होता है, जिसमें न तो द्रव्य (रुपया-पैसा अथवा स्वर्ण, रत्न आदि अन्य मूल्यवान् वस्तु) का कोई लिखित प्रमाण होता है और न ही उसके परिमाण की कोई निश्चित जानकारी होती है। इस प्रकार लेख्य-दोष के कारण ऐसा अभियोग भी चलने योग्य नहीं होता।

आगमवर्जितं दोषं पूर्ववादे विवर्जयेत्।
एकस्य बहुभिः सार्धं पुरराष्ट्रविरोधकम्॥ 12॥

आगम-वर्जित दोष का अर्थ है—एक के हित के विरुद्ध बहुतों के हित का जुड़ा होना, अर्थात् व्यक्ति और समष्टि का संघर्ष, दूसरे शब्दों में व्यक्ति के व्यवहार का जाति, समाज, नगर और देश के हितों के विरुद्ध होना। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अभियोग न्यायशास्त्र और लोक-विरुद्ध होने से तत्काल, प्रथम दृष्टि में ही निरस्त होने योग्य होता है।

विन्दुमात्राविहीना वा पदवर्णविदुष्टा वा।
हीनाधिका भवेद् व्यर्थी तां यत्नेन विवर्जयेत्॥ 13॥

हीन और अधिक वे दोष हैं, जब अभियोग-पत्र की भाषा में विसर्ग, मात्रा आदि न लगे हों, अल्पविराम, पद और वर्ण के अभाव हों, जिससे मनमाना अर्थ निकलता हो, ऐसा अभियोग भी महत्त्वहीन हो जाता है। उदाहरणार्थ, 'पुत्री न पुत्रः' को 'पुत्री, न पुत्रः' लिखने में अल्पविराम के स्थान-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है। अभियोग-पत्र में भी इस प्रकार से विराम आदि का यथोचित ध्यान न रखने से अर्थ-भेद हो जाता है। लोक में भी अल्पविराम के स्थान-भेद से अर्थ-भेद का बहुप्रचलित उदाहरण है—'रोको, मत जाने दो', 'रोको मत, जाने दो'।

भ्रष्टं तु दुःखितं यत्स्याज्जलतैलादिभिर्हतम्।
भाषायां तदपि स्पष्टं विस्पष्टार्थं विवर्जयेत्॥ 14॥

भ्रष्ट-दोष से अभिप्राय है—अभियोग-पत्र का तेल आदि चिकने पदार्थों से, रेत-मिट्टी आदि मलिन पदार्थों से दूषित तथा पानी से भीगा होना तथा अक्षरों का कटा-फटा होना, अर्थात् सुवाच्य न रह पाना। ऐसा व्यवहार भी विचारणीय नहीं रह पाता।

सत्या भाषा न भवति यद्यपि स्यात् प्रतिष्ठिता।
बहिश्चेद् भ्रश्यते धर्मान्नियताद् व्यवहारिकात्॥ 15॥

यदि अभियोग-पत्र की भाषा-शैली शुद्ध, स्वच्छ, दोषरहित, सरल और सुबोध होने पर भी अभियोग का विषय लोक-प्रचलित एवं व्यवहार में शुद्ध एवं उपयोगी होने से सर्वमान्य धर्म के अनुकूल (सम्मत) नहीं, तो भी ऐसा अभियोग अनुमत (Admit) नहीं होता, अपितु प्रथम दृष्टि में ही निरस्त हो जाता है।

गन्धमादनसंस्थस्य मयास्यासीत्तदर्पितम्।
व्यावहारिकधर्मस्य बाह्यमेतन्न सिध्यति॥ 16॥

अभियोग-पत्र में अविश्वसनीय एवं काल्पनिक तथ्यों के उल्लेख से भी अभियोग अग्राह्य हो जाता है। उदाहरणार्थ, किसी का गन्धमादन पर्वन पर किसी वस्तु के लेने और न लौटाने का अभियोग विश्वसनीयता की सीमा से बाहर होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकता; क्योंकि इस तथ्य की पुष्टि नहीं हो सकती कि लेने और देने वाला दोनों कभी उक्त स्थान पर थे और दोनों में किसी प्रकार का कोई लेन-देन हुआ था।

अन्याक्षरनिवेशेन अन्यार्थगमनेन च।
आकुलं च क्रियादानं क्रिया चैवाकुला भवेत्॥ 17॥

यदि अभियोग से सम्बन्धित आवेदन-पत्र में लिखे गये तथ्यों पर विवाद (Argument) के समय व्यक्ति लिखित से अभिव्यक्त होने वाले अर्थ पर दृढ़ न रहकर उससे भिन्न मन्तव्य प्रकट करता है, अर्थात् वह यह कहता है कि जो लिखा गया है, वह उसका आशय नहीं था, तो ऐसा अभियोग भी निरस्त होने योग्य होता है।

उदाहरणार्थ, यदि व्यक्ति किसी पर मानहानि का आरोप लगाते हुए मार-पीट आदि करने का उल्लेख करता है और बहस में केवल अपशब्द कहना बताता है, तो ऐसा अभियोग-पत्र निरस्त ही किया जाना चाहिए; क्योंकि इस प्रकार के लिखित और मौखिक कथन के अन्तर से न केवल न्यायाधिकरण के सदस्य परेशान हो जाते हैं, अपितु न्याय की प्रक्रिया भी दूषित हो जाती है।

रागादीनां यदेकेन कोपितः करणं वदेत्।
तदादौ तु लिखेत् सर्वं वादिनः फलकादिषु॥ 18॥

यदि कोई व्यक्ति काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों रागादि (राग-द्वेष) के नाम से जाने जाते हैं। इन तीनों में से किसी एक—क्रोध—में आकर धर्माधिकारी को मौखिक रूप से अपने पक्ष में निर्णय लिखने के लिए धमकाता है, तो ऐसे व्यक्ति का नाम तत्काल सूचनापट्ट *(नोटिसबोर्ड)* पर मोटे-काले अक्षरों में लिख देना चाहिए।

राजकुलावबोधाय धर्मस्थैः सुविचारितम्।
तस्मादन्यद्व्यपोह्यं स्याद् वादिनः फलकादिषु॥ 19॥

यदि वादी द्वारा प्रस्तुत अभियोग-पत्र के विषय के एक सीमा तक राजकुल—उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय के विचार-क्षेत्र में आने के कारण धर्माधिकारियों—निम्न न्यायालय के न्यायाधीशों—द्वारा भली प्रकार विचार किये जाने पर कुछ अविचारित रह जाता है, तो वादी को उस पर आपित्त करने का अधिकार नहीं मिलता।

वादिभ्यामभ्यनुज्ञातं शेषं च फलके स्थितम्।
ससाक्षिकं लिखेयुस्ते प्रतिपत्तिं च वादिनोः ॥ 20 ॥

वादी के अभियोग-पत्र का प्रतिवादी द्वारा उत्तर देने के पश्चात् और प्रतिवादी द्वारा आरोपों के खण्डन-मण्डन में प्रत्युत्तर तथा साक्षियों के वक्तव्य के उपरान्त वादी-प्रतिवादी में समझौते और निर्धारित शर्तों को न्यायाधिकरण के लेखक को उस सरकारी अभिलेख में लिपिबद्ध करना चाहिए।

वादिभ्यां लिखिताच्छेषं यत्पुनर्वादिना स्मृतम्।
तत्प्रत्याकलितं नाम स्वपादे तस्य लिख्यते ॥ 21 ॥

यदि वादी और प्रतिवादी के वक्तव्यों के लिपिबद्ध हो जाने के उपरान्त वादी कुछ अन्य स्मरण आये तथ्यों को सम्मिलित कराना चाहता है, तो उसे परिशिष्ट *(एडेण्डम)* शीर्षक के अन्तर्गत लिया जाना चाहिए। ऐसे उल्लेख को 'प्रत्याकलित' कहा जाता है।

अर्थिना सन्नियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ ॥ 22 ॥

अर्थी और प्रत्यर्थी द्वारा मनोनीत उनके प्रतिनिधि (अटार्नी) जब उनकी ओर से अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं तथा वाद-विवाद में भाग लेते हैं, तब उन प्रतिनिधियों के वक्तव्यों आदि के आधार पर व्यवहार किया गया निर्णय—जय-पराजय—को स्वीकार करने के लिए दोनों पक्ष बाध्य होते हैं।

अभिप्राय यह है कि वादी तथा प्रतिवादी यह नहीं कह सकते कि हमारा प्रतिनिधि ठीक से कार्य नहीं कर सका अथवा हमने तो भाग ही नहीं लिया। प्रतिनिधियों की उपस्थिति को भी वादी-प्रतिवादी की उपस्थिति ही माना जायेगा।

यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत्।
परार्थवादी दण्ड्यः स्याद् व्यवहारेऽपि विब्रुवन् ॥ 23 ॥

व्यवहार-कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति का सम्बन्धी—पिता, पुत्र, भाई, पत्नी अथवा अन्य निकट सम्बन्धी—तथा उसके द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि न होने पर भी वादी अथवा प्रतिवादी के हित-साधन अथवा विरोध के लिए व्यवहार में अनावश्यक एवं अनुचित रूप से हस्तक्षेप करने वाला व्यक्ति 'परार्थवादी' कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति केवल अवाञ्छनीय—दाल-भात में मूसलचन्द—ही नहीं होता, अपितु दण्डनीय भी होता है।

अभिप्राय यह है कि असम्बद्ध एवं बाहरी व्यक्ति द्वारा न्यायालय के किसी मामले में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप दण्डनीय अपराध होता है।

पूर्ववादं परित्यज्य योऽन्यमालम्बते पुनः।
वादसंक्रमणाज्ज्ञेयो हीनवादी स वै नरः ॥ 24 ॥

अभियोग-पत्र में उल्लिखित विषय की उपेक्षा करके अन्यान्य विषयों की चर्चा में प्रवृत्त होने वाले वादी के पक्ष को दुर्बल ही समझना चाहिए। वस्तुतः वाद-संक्रमण दुर्बलता का ही परिचायक-लक्षण होता है।

सर्वेष्वपि विवादेषु वाक्छलेनापहीयते।
पशुस्त्रीभूम्यृणादाने शास्योऽप्यर्थान्न हीयते॥ 25॥

यों तो न्यायालय में प्रस्तुत सभी प्रकार के मामलों में छल-कपट और धोखा-धड़ी करने वाले पक्ष की धूर्तता सिद्ध होने पर उसकी पराजय निश्चित होती है, परन्तु पशु, स्त्री, भूमि तथा ऋण के लेन-देन से सम्बन्धित मामलों में तो छल-कपट और धोखा-धड़ी सिद्ध होने पर पराजय के साथ-साथ दण्ड भी भुगतना पड़ता है।

अभियुक्तोऽभियोगस्य यदि कुर्यादपह्नवम्।
अभियोक्ता दिशेद्देश्यं प्रत्यवस्कन्दितो न चेत्॥ 26॥

अभियुक्त प्रतिवादी अपने विरुद्ध अभियोग को मिथ्या तो बताता है, परन्तु अपने मन्तव्य की पुष्टि में ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता, जबकि वादी प्रतिपाद्य विषय को प्रमाणों द्वारा सत्य सिद्ध करने में सफल रहता है और इधर प्रतिवादी वादी के मन्तव्य का खण्डन भी नहीं कर पाता, तो प्रतिवादी को पराजित और वादी को विजित मानना चाहिए।

पूर्वपादे हि लिखितं यथाक्षरमशेषतः।
अर्थी तृतीयपादे तु क्रियया प्रतिपादयेत्॥ 27॥

अभियोग के प्रथम चरण—अभियोग-पत्र को जमा कराने के उपरान्त अभियोग के तृतीय चरण—विवाद के समय—में वादी को अभियोग-पत्र में लिखित तथ्यों की ही तर्कों और प्रमाणों से पुष्टि करनी होती है। उस समय वादी किसी नये विषय को प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसे अपने को वहीं तक सीमित करना होता है।

क्रियापि द्विविधा प्रोक्ता मानुषी दैविकी तथा।
मानुषी लेख्यसाक्षिभ्यां घटादिर्दैविकी स्मृता॥ 28॥

प्रमाण के अन्तर्गत क्रिया के दो रूप-भेद होते हैं—मानुषी क्रिया तथा दैवी क्रिया। लिखित पत्र-पत्रिका आदि तथा साक्ष्य मानुषी क्रिया न्याय है। घट, तुला, अग्नि तथा जल आदि की शपथ लेना दैवी क्रिया है। दैवी क्रिया को दिव्य प्रमाण भी माना जाता है। जहां कोई प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, वहां इन्हीं दिव्य प्रमाणों द्वारा काम चलाया जाता है।

दिवा कृते कार्यविधौ ग्रामेषु नगरेषु वा।
सम्भवे साक्षिणां चैव दिव्या न भवति क्रिया॥ 29॥

दिन में, ग्राम-नगर आदि जनपद में घटित घटना की प्रामाणिकता के लिए तो

लौकिक प्रमाण के अन्तर्गत साक्ष्य आदि से ही काम चलाया जाता है। ऐसी घटनाओं के विषय में दिव्य प्रमाण स्वीकृत नहीं होता। लौकिक प्रमाण की अनुपलब्धता में ही दिव्य प्रमाण की आवश्यकता और उपयोगिता आंकी जाती है।

अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या सम्भवति क्रिया॥ 30॥

निर्जन वन में अथवा जनशून्य स्थान—ग्राम, नगर आदि के बाहर—रात्रि में (अन्धकार में) घर के भीतर किसी प्रत्यक्षदर्शी के अभाव में, डाका डाले जाने वाले स्थान-भय के कारण लोगों के भाग जाने, छिप जाने पर, धरोहर के रूप में रखी वस्तु को छिपा लेने की स्थिति में मानुषी प्रमाण की उपलब्धता सम्भव ही नहीं होती। अतः ऐसे स्थानों-अवसरों पर दिव्य प्रमाण ही स्वीकृत होते हैं।

कारणप्रतिपत्त्या च पूर्वपक्षे विरोधिते।
अभियुक्तेन वै भाव्यं विज्ञेयं पूर्वपक्षवत्॥ 31॥

जिस प्रकार वादी अपने अभियोग को विश्वसनीय बनाने के लिए उसके समर्थन में लिखित प्रमाण एवं साक्ष्य आदि जुटाता है, उसी प्रकार प्रतिवादी को भी वादी के अभियोग के खण्डन और अपने पक्ष के समर्थन में पुष्ट प्रमाण जुटाने चाहिए, तभी उसे अपनी विजय की आशा करनी चाहिए।

पलायते च आहूतो मौनी साक्षिपराजितः।
स्वयमभ्युपपन्नश्च अवसन्नश्चतुर्विधः॥ 32॥

निम्नोक्त चार प्रकार अवसन्न, अर्थात् पराजित पक्ष कहलाते हैं—

प्रथम—अभियुक्त व्यक्ति द्वारा धर्माधिकरण के आह्वान-पत्र (*समन*) को लेने से कतराना, छिप जाना, भाग जाना, आह्वान-पत्र लाने वाले को घूस देकर अपने को अनुपस्थित दिखाना अथवा आह्वान-पत्र प्राप्त करके निश्चित तिथि व समय पर न्यायाधिकरण के समक्ष उपस्थित न होना।

द्वितीय—न्यायाधिकरण के समक्ष उपस्थित होने पर मौन रहना अथवा वादी के आरोपों का खण्डन न करना।

तृतीय—साक्षी को प्रस्तुत न कर पाना अथवा साक्ष्य का पुष्ट न होना अथवा साक्षी का बिदक-भटक जाना।

चतुर्थ—न्यायालय में अपने पक्ष की प्रस्तुति के लिए वादी द्वारा प्रथम अपना प्रतिनिधि मनोनीत करना और फिर उसकी कार्य-शैली से सन्तुष्ट न होकर स्वयं उपस्थित हो जाना।

इन चारों तत्त्वों को प्रतिवादी के पक्ष की दुर्बलता का सूचक ही समझना चाहिए।

अन्यवादी क्रियाद्वेषी नोपस्थाता निरुत्तरः।
आहूतप्रपलायी च हीनः पञ्चविधः स्मृतः॥ 33॥

निम्नोक्त पांच को हीन (पराजित) मानना चाहिए—

प्रथम, **अन्यवादी**—पूछे गये प्रश्नों से उत्तर का कुछ भिन्न होना, अर्थात् मूल विषय पर स्थिर न रहकर इधर-उधर की प्रयोजन-रहित हांकने वाला।

द्वितीय, **क्रियाद्वेषी**—अपने ही साक्षी के साक्ष्य का विरोध करने वाला, साक्षी के मन्तव्य का खण्डन करने वाला।

तृतीय, **नोपस्थाता**—सूचना प्राप्त होने पर भी निर्धारित तिथि और समय पर न्यायाधिकरण के समक्ष उपस्थित न होने वाला।

चतुर्थ, **निरुत्तर**—न्यायाधिकरण द्वारा पूछे गये प्रश्नों का सन्तोषजनक ढंग से उत्तर न देने वाला, मौन धारण करने वाला अथवा 'मालूम नहीं' आदि भाषा बोलने वाला।

पञ्चम, **आहूतप्रपलायी**—आह्वान-पत्र (समन) को ही न लेने वाला, भाग खड़ा होने वाला अथवा झूठ बोलकर या घूस देकर अपना बचाव करने वाला।

मणयः पद्मरागाद्याः दीनारादि हिरण्मयम्।
मुक्ताविद्रुमशंखाद्याः प्रदुष्टाः स्वामिगामिनः॥ 34॥

यदि कृत्रिम पद्मराग आदि मणियों, दीनार आदि मुद्राओं, स्वर्ण, मुक्ता, विद्रुम आदि रत्नों तथा शंखों को अकृत्रिम बताकर बेचने वाला व्यापारी ग्राहक द्वारा वास्तविकता को जानकर लौटाने का अनुरोध किये जाने पर नक़ली सामान लेकर असली सामान दे देता है, तो उसे दण्ड नहीं देना चाहिए। यदि वह नक़ली सामान वापस लेने और असली सामान देने से मुकरता है, तो उसे इस प्रकार से दण्डित करना चाहिए कि वह अपनी धूर्तता को दोहराने का दुस्साहन ही न कर सके।

गन्धमाल्यमदत्तं तु भूषणं वास एव वा।
पादुकेति राजोक्तं तदाक्रामन् वधमर्हति॥ 35॥

राजा से परितोष—प्रसाद-रूप में राजा की अनुमति—प्राप्त किये बिना राजा के उपयोग में आने वाले गन्ध—इत्र, फुलेल (*फ़ेसक्रीम, टेल्कम पाउडर* आदि) माला, अलंकार (आभूषण) वस्त्र तथा पादुका (जूता)—आदि का उपयोग करने वाला दण्ड के योग्य होता है।

पण्यमूल्यं भृतिर्न्यासो दण्डो यच्चावहारकम्।
वृथादानाक्षिकपणा वर्धन्ते नाविवक्षिताः॥ 36॥

निम्नोक्त सात प्रकार के धनों में—कितना भी समय क्यों न बीत जाये—किसी प्रकार की बढ़ोतरी—ब्याज, अतिरिक्त लाभ आदि के रूप में—नहीं हो सकती। (1) किसी वस्तु को बेचने पर प्राप्त होने वाला दाम, (2) श्रम करने पर मिलने वाला भत्ता अथवा पारिश्रमिक, (3) धरोहर के रूप में रखा गया धन अथवा स्वर्ण आदि, (4) सरकारी जुर्माना—अर्थ-दण्ड के रूप में देय धन, (5) बेकार पड़ी

वस्तु से होने वाला लाभ, (6) भाट-चारण आदि को प्रतिज्ञात दान, पुरस्कार आदि तथा (7) द्यूत-क्रीड़ा में जीता गया धन।

इनकी वसूली में विलम्ब होने पर किसी प्रकार के अतिरिक्त धन—ब्याज आदि—की मांग नहीं की जा सकती।

मिथ्याभियोगिनो ये स्युर्द्विजानां शूद्रयोनयः।
तेषां जिह्वां समुत्कृत्य राजा शूले निधापयेत्॥ 37॥

राजा को ब्राह्मण आदि उच्च जाति के लोगों पर मिथ्या आरोप लगाकर उन्हें कलंकित-अपमानित करने वाले शूद्र आदि निम्न जाति के लोगों की जिह्वा को कटवाकर उन्हें सूली पर लटकवा देना चाहिए।

मृत्यु-दण्ड देने से पूर्व अपशब्द कहने वाली जीभ को कटवाने का उद्देश्य उन्हें पीड़ित करना है, अर्थात् ऐसा कठोर दण्ड देना है कि कोई भी ऐसी धृष्टता करने का दुस्साहस ही न कर सके।

टिप्पणी—प्राचीन भारत में इस प्रकार के कठोर दण्ड की व्यवस्था के कारण ही समाज अनुशासित था तथा वर्ण-व्यवस्था प्रतिष्ठित थी।

असहाय भाष्यकार के अनुसार यदि राजा श्रेष्ठजनों को मिथ्या कलंकित करने वाले उच्छृंखल छोटे लोगों को नियन्त्रित नहीं करता, तो वह कर्तव्य-च्युत माना जाता है अथवा अव्यवस्था को जन्म देने का दोषी तथा पापी कहलाता है—

ये क्षुद्राः विक्षेपकारणो भवन्ति तान् राजा खण्डितजिह्वान् कृत्वा शूले निधापयेत्। ततस्तेन पापेन न गृह्यते। अन्यथा शिष्ट पालनार्थं दुष्टनिग्रहार्थं करग्राहिणो राज्ञः एव सः दोष इत्यर्थः।

आज्ञा लेखः पट्टकः शासनं वा
आधिः पत्रं विक्रयो वा क्रयो वा।
राज्ञे कुर्यात् पूर्वमावेदनं य-
स्तस्य ज्ञेयः पूर्वपक्षो विधिज्ञैः॥ 38॥

विधिवेत्ताओं की दृष्टि में क़ानून का आदर करने वाला तथा किसी प्रकार के विवाद के उपस्थित होने पर पूर्वपक्षी (वादी) कहलाने का अधिकारी वही है, जो निम्नोक्त रूप से नियमों का पालन करता है—

1. किसी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय से पूर्व राजा से लिखित आवेदन करके अनुमति प्राप्त करना।

2 . क्रय-विक्रय को पञ्जीयन कराना।

3. लेन-देन के सभी मामलों में राजकीय अभिमत-पत्रों (*स्टाम्प-पेपर्स*) का प्रयोग करना।

4. शासकीय अभिलेख में प्रविष्टि कराना तथा

5. धरोहर और बन्धक रखने से तथा इन दोनों के क्रय-विक्रय से पूर्व प्रशासन से अपेक्षित अनुमति प्राप्त करना।

इस प्रकार क़ानून का पालन करने वाले व्यक्ति को प्रथम तो कभी किसी झंझट का सामना करना ही नहीं पड़ता, अन्यथा किसी झंझट के उपस्थित होने पर पूर्वपक्षी मानकर उसे गौरव दिया जाता है।

साक्षिकदूषणे कार्यं पूर्वसाक्षिविशोधनम्।
शुद्धेषु साक्षिषु ततः पश्चात् साक्ष्यं विशोधयेत्॥ 39॥

वादी के साक्षी के अभिमत (Bona-fide) होने के सम्बन्ध में प्रतिवादी द्वारा आपत्ति किये जाने पर अथवा साक्षी के साक्ष्य में दोष निकालने पर खण्डन-संशोधन आदि का दायित्व वादी पर होता है। साक्षी की निर्दोषिता सिद्ध होने पर ही उसका साक्ष्य ग्राह्य होता है। प्रामाणिकता के विवादित रहने पर साक्षी को वक्तव्य देने का अवसर ही नहीं देना चाहिए।

साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः।
स्वचर्यावसितानां तु नास्ति पौनर्भवो विधिः॥ 40॥

न्यायाधिकरण द्वारा नियुक्त सदस्यों (*ज्यूरिस्टों*) के प्रमाद, भूल-चूक, असावधानी अथवा त्रुटि के कारण पराजित व्यक्ति अपने व्यवहार के पुनर्विचार के लिए आवेदन कर सकता है, परन्तु साक्षियों के साक्ष्य में हुई भूल-चूक, त्रुटि तथा प्रमाद आदि के कारण पराजित व्यक्ति पुनर्विचार के लिए आवेदन का अधिकारी नहीं होता।

स्वयमभ्युपपन्नोऽपि स्वचर्यावसितोऽपि सन्।
क्रियावसन्नोऽप्यर्हेत परं सम्भावधारणम्॥ 41॥

वादी द्वारा स्वयं प्रस्तुत प्रमाणों और साक्ष्य आदि के निरस्त हो जाने पर भी उसे तब तक पराजित मानकर दण्डित नहीं किया जा सकता, जब तक कि विचारों की निष्पत्ति (Arguments and Cross Arguments) द्वारा तथ्यों का अन्तिम निर्णय नहीं हो जाता। दण्डाधिकारी को इससे पूर्व किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालने और निर्णय थोपने का कोई अधिकार नहीं; क्योंकि तर्क-प्रस्तुति के समय पासा पलट सकता है।

पक्षानुत्सार्य तु सभ्यैः कार्यो विनिश्चयः सदा।
अनुत्सारितनिर्णिक्ते विरोधः प्रेत्य चेह च॥ 42॥

प्रमाणों और साक्ष्य के अतिरिक्त तर्क-प्रस्तुति, विवाद और व्यक्तिगत सुनवाई तथा पूछ-ताछ आदि के उपरान्त सभ्यों—ज्यूरी के सदस्यों—द्वारा व्यवहार के सभी पक्षों पर विचार करते समय वादी तथा प्रतिवादी को कभी सामने नहीं आने देना चाहिए, अर्थात् किसी के प्रति अनुग्रह-विग्रह का भाव नहीं रखना चाहिए। निर्णय

से किसी को होने वाले लाभ-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सर्वथा तटस्थ होकर निर्णय करना चाहिए। ऐसा न करने वाला न्यायाधिकरण इस लोक में अपयश और परलोक में दुर्गति का भागी होता है।

सभ्यैरेव जितः पश्चाद्राज्ञा शास्यः स्वशास्त्रतः।
जयिने चापि देयं स्याद्याथावजयपत्रकम्॥ 43॥

सभ्यों—न्यायाधिकरण के मनोनीत सदस्यों—द्वारा विजित एवं पराजित घोषित दोनों पक्षों को न्यायालय द्वारा प्राधिकृत अधिकारी अपने हस्ताक्षर और शासकीय मुद्रा में अंकित संविधान-सम्मत प्रमाण-पत्र जारी करता है।

टिप्पणी—विजेता को दिये जाने वाले प्रमाण-पत्र में व्यवहार की क्रम-संख्या, व्यवहार प्रारम्भ होने और निर्णय होने की तिथि, व्यवहार का वर्ग, न्यायाधिकरण का स्तर, अधिकार-क्षेत्र, लगाये गये आरोप का स्वरूप, उपस्थापित प्रमाण एवं साक्ष्य तथा प्राड्विवाक (वकीलों) द्वारा किये गये तर्क-वितर्कों के अतिरिक्त सभ्यों द्वारा संविधान की धारा-विशेष के अन्तर्गत किये गये विचार के संक्षिप्त विवरण के उपरान्त निर्णय का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए। प्रमाण-पत्र को प्रामाणिक रूप देने के लिए सक्षम अधिकारी के हस्ताक्षर, पद तथा न्यायालय की मोहर लगी होनी चाहिए।

व्यवहारमुखं चैतत् पूर्वमुक्तं स्वयम्भुवा।
मुखशुद्धौ हि शुद्धिः स्याद् व्यवहारस्य नान्यथा॥ 44॥

व्यवहारमातृका ब्रह्माजी के कथन के अनुसार व्यवहार का मुख—अग्रभाग—है। मुख शुद्ध होने पर ही व्यवहार शुद्ध होता है—ऐसी ब्रह्माजी की मान्यता है। ब्रह्माजी के अनुसार मुख शुद्ध न होने पर, अर्थात् वाणी शुद्ध न होने पर व्यक्ति के व्यवहार के शुद्ध होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

टिप्पणी—नीतिशास्त्र में तो मन की शुद्धि को प्रधानता देते हुए माना गया है कि मन का भाव (चिन्तन) वाणी-रूप में जिह्वा पर आता है और वचन के अनुरूप व्यक्ति कार्य करता है। इन्हीं तीनों—मन, वाणी और क्रिया—की एकरूपता को सज्जनता का तथा भिन्नता को दुर्जनता का लक्षण माना गया है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्॥

परन्तु यहां न्याय-प्रक्रिया में मन के भावों की उपेक्षा करते हुए दिये गये बयान (वाणी) को ही महत्त्व दिया गया है।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीय अध्याय

नानियुक्तेन वक्तव्यं व्यवहारे कथञ्चन।
नियुक्तेन तु वक्तव्यमपक्षपतितं वचः॥ 1॥

वादी अथवा प्रतिवादी द्वारा अधिकृत अथवा नियुक्त न किया गया कोई भी व्यक्ति उनकी ओर से उनके प्रतिनिधि के रूप में कुछ नहीं कर सकता। न्यायालय को सम्बद्ध पक्षों द्वारा बिना अधिकार-पत्र प्राप्त किये वकील आदि को उनकी ओर से उनका व्यवहार प्रस्तुत करने अथवा तर्क प्रस्तुत करने की अनुमति कदापि नहीं देनी चाहिए।

अनियुक्तो नियुक्तो वा शास्त्रज्ञो वक्तुमर्हति।
दैवीं स वाचं वदति यः शास्त्रमनुजीवति॥ 2॥

सभ्यों—न्यायाधिकरण के सदस्यों—अथवा तथा न्यायाधिकारियों द्वारा लोभ, पक्षपात, राग-द्वेष अथवा अज्ञानवश किसी एक पक्ष के प्रति अन्याय होता देखकर शास्त्रवेत्ता विद्वान् सम्बद्ध अथवा प्रभावित पक्ष द्वारा नियुक्त होने पर अथवा अनियुक्त होने पर भी न्याय की रक्षा के लिए धर्मसम्मत वाणी बोल सकता है, अर्थात् उसकी ओर से पुनर्विचार के लिए याचना तथा बहस कर सकता है। इसे आज की भाषा में प्राकृतिक न्याय (Natural Justice) की मांग कहा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में स्मृतिकार नारद अन्याय के निवारण के लिए शास्त्रसम्मत तथ्य की ओर ध्यान न दिलाने को 'देवभाषा', अर्थात् ईश्वरीय प्रयास की संज्ञा देते हैं।

युक्तरूपं वदन् सभ्यो नाप्नुयाद् द्वेषकिल्विषे।
ब्रुवाणस्त्वन्यथा सद्यस्तदेवोभयमाप्नुयात्॥ 3॥

सभ्यों के युक्तियुक्त, शास्त्रसम्मत तथा तथ्यों पर आधृत, अर्थात् व्यक्तिगत राग-द्वेष से सर्वथा रहित निर्णय से किसी को होने वाली क्षति के लिए वे उत्तरदायी नहीं होते, उन्हें किसी प्रकार पाप का भागी नहीं बनना पड़ता। इसके विपरीत, यदि वे लोभ, भय अथवा पक्षपात से प्रेरित होकर किसी को लाभ पहुंचाने के रूप में न्याय का गला घोटने पर, न केवल लोक में अपयश का पात्र बनते हैं, अपितु मृत्यु के उपरान्त नरक में भी गिरते हैं।

राजा तु धार्मिकान् सभ्यान्नियुञ्ज्यात् सुपरीक्षितान्।
व्यवहारधुरं वोढुं ये शक्ताः सद्गवा इव॥ 4॥

जिस प्रकार भार ढोने में समर्थ, स्वस्थ, सबल एवं हृष्ट-पुष्ट बैलों को ही गाड़ी में जोतने से गाड़ी वेग से चलती है, उसी प्रकार राजा को न्याय-प्रक्रिया को सुव्यवस्थित एवं न्यायसंगत ढंग से चलाने के लिए भली प्रकार सुपरीक्षित, धर्मात्मा, शुचि, निर्लोभ, राग-द्वेष से मुक्त, समाज में प्रतिष्ठित एवं सच्चरित्र विधिशास्त्रियों की ही न्यायाधिकरण के सदस्यों के रूप में नियुक्ति करनी चाहिए।

धर्मशास्त्रार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
समा शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः॥ 5॥

न्यायाधिकरण के सदस्यों की अर्हता-पात्रता के सम्बन्ध में स्मृतिकार ने पांच विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. धर्मशास्त्र में निपुणता।
2. न्याय-प्रक्रिया में विदग्धता।
3. कुलीनता।
4. सत्यवादिता तथा
5. मित्र-शत्रु के प्रति समान व्यवहार।

टिप्पणी—धर्मशास्त्रों, स्मृतितन्त्रों व ऋषियों के वचनों में अनेक सांकेतिक तथा पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग रहता है, जिनके गूढ़ अर्थों को समझना सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन होता है। अतः सभ्य (सभासद) के लिए विद्वत्ता के साथ-साथ विदग्धता का होना भी आवश्यक है, अन्यथा मन्दमति व्यक्ति शास्त्र-वचन के अर्थ का अनर्थ करके सारी न्याय-व्यवस्था को ही प्रभावित-दूषित कर सकता है।

न्याय-प्रक्रिया में पक्षपात एवं भ्रष्टाचार की प्रबल सम्भावना रहती है। कुलीन व्यक्ति अपने अभिजात्य संस्कारों, उच्च परम्पराओं, शिक्षा तथा परिवेश आदि के प्रभाव से अन्याय-पथ पर चलने से घबराता है, जबकि संस्कारों से वर्जित व्यक्ति प्राप्त अवसर का लाभ उठाने को ही महत्त्व देता है। इसी प्रकार स्वभाव से सत्य बोलना तथा किसी के प्रति राग-द्वेषवश मित्र-शत्रु-भाव न रखना भी न्याय-प्रक्रिया की महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है।

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार—देश-विशेष तथा काल-विशेष में प्रचलित प्रथाओं एवं परम्पराओं के ज्ञान को धर्मशास्त्र के ज्ञान के अन्तर्गत समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त लौकिक सत्य की रक्षा के अन्तर्गत विवेकशीलता—सत्य और असत्य में अन्तर करने की योग्यता—भी सभ्यों की नियुक्ति के लिए एक अपेक्षित गुण है।

तत्प्रतिष्ठः स्मृतो धर्मा धर्ममूलश्च पार्थिवः।
सह सद्भिरतो राजा व्यवहारान् विशोधयेत्॥ 6॥

न्याय-प्रक्रिया के अन्तर्गत स्मृति—धर्मशास्त्र—के आधार पर ही न्याय तथा धर्म की प्रतिष्ठा होती है, अर्थात् न्यायाधिकारियों को न्याय करने के रूप में धर्म की प्रतिष्ठा करनी होती है। इसके लिए उन्हें धर्मशास्त्र का सहारा लेना होता है। अतः उनके लिए शास्त्रों की सम्यक् जानकारी होना आवश्यक हो जाता है। धर्म का मूल राजा है, अर्थात् यदि राजा धर्मात्मा है, तो निश्चित है कि वह धर्मात्माओं को ही गौरव देगा और प्रजा भी धर्मप्रिय होगी। इस सम्बन्ध में 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति सर्वविदित है। राजा धर्मशील, कुलीन, सदाचार एवं विचक्षण सभ्यों के सहयोग—विचार-विमर्श—से ही व्यवहारों का निरीक्षण-परीक्षण एवं निर्णय करता है। अकेला राजा तो सब कुछ नहीं कर सकता, उसे सदैव सहायकों, परामर्शदाताओं तथा विश्वस्त मित्रों की आवश्यकता रहती है। यदि सहायक कुलीन, पण्डित, निष्पक्ष तथा विवेकशील हैं, तो वे राजा का पथ-प्रदर्शन ही नहीं करते, अपितु उस पर नियन्त्रण रखने में भी समर्थ होते हैं।

शुद्धेषु व्यवहारेषु शुद्धिं यान्ति सभासदः।
शुद्धिश्च तेषां धर्माद्धि धर्ममेव वदेत्ततः॥ 7॥

व्यवहार की शुद्धि से न्यायाधिकारियों की शुद्धि होती है, अर्थात् जब व्यवहार के निर्णय में राग-द्वेष तथा काम, क्रोध व लोभवश उत्पन्न पक्षपात को आड़े नहीं आने दिया जाता, पूर्णतः निष्पक्षता एवं तटस्थता बरती जाती है तथा दुग्ध और जल को पृथक् करने में विवेक का परिचय दिया जाता है, तब न्यायाधिकारियों का लोक में सम्मान और यश बढ़ता है। इस प्रकार धर्म की रक्षा से ही न्यायाधिकारियों की वास्तविक शुद्धि होती है और यह धर्म ही उनके यश का प्रसार-विस्तार करता है।

अभिप्राय यह है कि धर्म की रक्षा करने वालों को ही लोक में प्रतिष्ठा मिलती है, धर्म की उपेक्षा करने वाले अपमानित-कलंकित हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में महाभारत का प्रस्तुत कथन दर्शनीय है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ 8॥

जहां किसी भी व्यवहार में धर्म की अधर्म के हाथों और न्याय की अन्याय के हाथों हत्या होती है, सत्य असत्य के हाथों प्रताड़ित-पराजित होता है, वहां न्यायाधिकारी भी लोक में निन्दित, कलंकित और अपमानित होते हैं।

टिप्पणी—यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि पूर्वाग्रह अथवा पक्षपातवश

अथवा अज्ञानवश कुछ लोग कुछ समय के लिए अन्याय का समर्थन भले कर लें, परन्तु अन्ततः सत्य की ही विजय होती है। समाज में प्रचलित मान्यता है—सत्य वही, जो सिर चढ़ बोले। हत्या के सम्बन्ध में अंगरेजी भाषा की सुप्रचलित उक्ति—Murder must Come out, अर्थात् ख़ून सिर पर चढ़कर बोलता है—के समान सत्य भी सिर चढ़कर बोलता है, उसे छिपाना-नकारना तो ढोंग ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त यह भी एक नग्न सत्य है कि सत्य और न्याय की हत्या करने वाला व्यक्ति कितने भी ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित क्यों न हो, समाज की दृष्टि में एकदम गिर जाता है। इस प्रकार स्मृतिकार नारद का यह कथन—अन्याय का पक्ष ग्रहण करने से न तो अन्याय प्रतिष्ठित हो पाता है और न ही न्याय की हत्या करने वाला कहीं सुख-शान्ति से बैठ पाता है—एक अनुभवसिद्ध एवं त्रिकालशुद्ध सत्य है, जिसकी अपेक्षा किसी भी स्थिति में कदापि सम्भव नहीं।

मनु के अनुसार—जिस प्रकार शस्त्र के घाव से पीड़ित व्यक्ति का उपचार न करने वाला चिकित्सक कर्तव्यच्युत और लोकनिन्दित होता है, उसी प्रकार विश्वास लेकर व्यवहार-निर्णय के लिए उपस्थित वादी को न्याय न देने वाला धर्माधिकारी पाप का भागी होता है—

तत्र यथा लोकः शस्त्राभिघातपीडितो वैद्यपार्श्वमागच्छति। तत्र च ते सभासदस्तस्य तदवस्थधर्मस्य, अधर्मस्योद्धरणव्यापारनियुक्ताधिकारिणोऽपि यदा तत्पापशल्यं न कृन्तन्ति नापनयन्ति तदा संक्रमणतन्त्रप्रयोगसंक्रामित-वृश्चिकविषेणैव उपेक्षितपापशल्येन त एव सभासदो विद्धा भवन्ति।

विद्धे धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ 9॥

जिस न्यायाधिकरण में अन्याय का प्रवर्तन होता है, न्यायाधिकरण के उस व्यवहार से केवल वादी और प्रतिवादी ही प्रभावित नहीं होते, अपितु न्यायाधिकारी भी उससे बुरी तरह क्षतिग्रस्त होते हैं। उनके सम्मान को क्षति पहुंचती है और उनके व्यक्तित्त्व को बट्टा लगता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार पशु के शरीर में घुसे, अपने बाण को निकालने की चेष्टा करने वाला व्याध स्वयं भी (उस बाण से आहत हो जाता है) पीठ के बल गिर पड़ता है, उसी प्रकार सत्य, धर्म और न्याय की हत्या करने वाला व्यक्ति भी आत्मग्लानि से व्यथित होकर सुख-शान्ति से जीवन व्यतीत नहीं कर पाता।

सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषी॥ 10॥

यदि सभ्य—न्यायाधिकरण के सदस्य—में सत्य बोलने का साहस नहीं है, तो उसे सभा (न्यायालय) में जाना ही नहीं चाहिए। न्यायालय में गये सभ्य का तो

यह कर्तव्य हो जाता है कि उसे सदैव अपने को उचित एवं शुद्ध प्रतीत होने वाला अपना मत अवश्य ही प्रकट करना चाहिए; क्योंकि सभा में जाकर व अनुचित होता देखकर मौन रहने वाला, अर्थात् कुछ न कहने वाला अथवा अनुचित बोलने वाला सभ्य तो पाप और अपयश का भागी बनता है।

टिप्पणी—सभ्य—न्यायाधिकरण के सदस्य—की नियुक्ति की ही इसलिए जाती है कि वह अन्याय का उन्मूलन तथा न्याय का संरक्षण करे। यदि किसी व्यवहार में सभ्य को वादी अथवा प्रतिवादी के विरुद्ध अनुचित को अनुचित कहने का साहस नहीं है, तो उसके लिए न्याय के मन्दिर में प्रविष्ट होना ही पाप है। सत्य तो यह है कि पूर्वाग्रह से ग्रस्त तथा अनुचित के निरसन के साहस से विहीन व्यक्ति को सभ्य बनने का कोई अधिकार ही नहीं है। असहाय भाष्यकार के अनुसार—जो सभ्य न्यायालय में जाकर, व्यवहार के परीक्षण के समय पूरा ध्यान न देकर और पूर्ण सतर्क न रहकर, अपना ध्यान इधर-उधर लगाते हैं अथवा बातचीत करते अथवा काग़ज़-पत्र देखने में लग जाते हैं अथवा चुपचाप अपनी कुर्सी पर बैठे रहते हैं, वादी-प्रतिवादी के बयान को सुनते ही नहीं, सच्चे-झूठे की पहचान ही नहीं करते, राजा को ऐसे सभ्यों को अयोग्य समझते हुए अपने पद से तत्काल हटा देना चाहिए। वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार सत्य को छिपाने वाले मिथ्याभाषी कहलाते हैं, उसी प्रकार असत्य को न पकड़ने वाले न्यायाधीश भी मिथ्यावादी हैं और दोनों एक प्रकार से दण्ड के भागी हैं।

ये सभ्या अधर्मविच्छेदस्थानभूतां सभां प्राप्य वादिप्रतिवादिनोः सन्देहविच्छेदनार्थिनोरपि अन्यकार्यव्यासक्ता इव किञ्चिदन्यदेव कार्यान्तरं ध्यायन्त इव तूष्णीं तथा आसते तिष्ठन्ति, एकस्य जयं द्वितीयस्य पराजय-मवसरप्राप्तिमपि न ब्रुवते, ततस्ते सर्वेऽपि अनृतवादिसमाना राज्ञा द्रष्टव्याः। अनृतवादिविनययोग्याश्च।

ये तु सभ्याः सभां प्राप्त तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते सर्वे तेऽनृतवादिनः॥ 11॥

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि इस पद्य में की गयी है—न्यायालय में आकर 'मिट्टी के माधो' बनकर चुपचाप बैठे रहने वाले अथवा उपयुक्त अवसर पर यथार्थ—सत्य को सत्य और असत्य को असत्य—न कहने वाले न्यायाधिकरण के सभी सदस्यों को भी मिथ्यावादी समझना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को आचारभ्रष्ट एवं कर्तव्य-च्युत मानकर अपने पद से तत्काल हटा देना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों को न्याय के आसन पर बैठने का कोई अधिकार ही नहीं। न्यायाधिकरण के सदस्यों को तो अत्यन्त सतर्क होकर, न केवल वादी-प्रतिवादी के वक्तव्य को सुनना चाहिए, अपितु उनकी मुखमुद्रा और हाव-भावों का भी गहन निरीक्षण करते हुए उनकी

वास्तविकता को समझने का प्रयास करना चाहिए।

पादोऽधर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति॥ 12॥

न्यायाधिकारियों के प्रमाद, पक्षपात, उपेक्षा अथवा अन्यमनस्कता के कारण उनके द्वारा किये गये ग़लत निर्णय के फलस्वरूप जब सत्य और न्याय की पराजय तथा असत्य और अन्याय की विजय होती है, तो चार चरणों वाले धर्म के एक चरण को खण्डित करने का पाप स्वयं पापाचरण करने वाले व्यक्ति को, द्वितीय चरण को खण्डित करने का पाप साक्षी (मिथ्या साक्ष्य भरने वाला) को, तृतीय चरण को क्षतिग्रस्त करने का पाप न्यायाधिकारियों को और चतुर्थ चरण को खण्डित करने का पाप स्वयं राजा को लगता है और इन सबको अपने-अपने भाग के पाप का दण्ड भुगतना पड़ता है।

अभिप्राय यह है कि अपने कर्तव्य का सम्यक् निर्वाह न करने वाले सभ्य—न्यायाधिकरण के सदस्य—अपने अपराध के कारण स्वयं तो डूबते ही हैं, अपनी नियुक्ति के रूप में अपने को अनुग्रहीत करने वाले अपने स्वामी राजा (आज के समय राष्ट्रपति अथवा विधिमन्त्री) को भी अपने साथ ले डूबते हैं, उन्हें भी कलंकित और नरकगामी बनाते हैं।

राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते॥ 13॥

इस सबके विपरीत न्यायाधिकारियों की सजगता, नीर-क्षीर-विवेकक्षमता तथा एकाग्रता के कारण जहां अपराधी को ही अपराधी घोषित किया जाता है और निर्दोष को मिथ्या आरोप से मुक्त किया जाता है, वहां कर्ता ही अपने सारे पाप का दण्ड भुगतता है, न साक्षी, न ही न्यायाधिकारी और न ही राजा, कर्ता को उसके पाप के मिलने वाले दण्ड के सहभागी होते हैं।

अभिप्राय यह है कि न्यायाधिकारियों की सजगता न केवल स्वयं उन्हें, अपितु राजा को और साक्षी को भी दण्डमुक्त करती है। इस प्रकार उन पर अपने कर्तव्य-निर्वहण का तिगुना भार और दायित्व है, जिसमें कोताही का अर्थ अपने साथ दूसरों को भी ले डूबना है।

अन्धो मत्स्यानिवाश्नाति निरपेक्षः सकण्टकान्।
परोक्षमर्थवैकल्याद् भाषते यः सभां गतः॥ 14॥

जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति मछली में विद्यमान कांटे को न देख-निकाल पाने के कारण कांटे-सहित मछली को खाने से कण्ठ में धंसे कांटे से असीम वेदना—यहां तक कि मृत्यु—का पात्र बनता है, उसी प्रकार शास्त्रज्ञानविहीन व्यक्ति भी

लोकन्यायपालिका का सदस्य नियुक्त किये जाने पर, अपनी नीर-क्षीर-विवेकशक्ति के अभाव के कारण मनमानी करने से निन्दा, हास्य तथा अपमान का पात्र बनने के साथ-साथ घोर पाप का भागी भी बनता है।

अभिप्राय स्पष्ट है कि राजा को योग्य एवं अधिकारी व्यक्ति को ही सभ्य के रूप में नियुक्त करना चाहिए। राजा को इस सम्बन्ध में विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है; क्योंकि उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि अनुपयुक्त व्यक्ति द्वारा किये गये अनीतिपूर्ण निर्णय के पाप के चतुर्थांश का भागी वह स्वयं (राजा) भी होता है। अतः अनजाने में अपने खाते में जमा होने वाले पाप से बचने के लिए सदस्यों की नियुक्ति के प्रति सावधान रहने में ही उसका अपना हित है।

नीतिशास्त्र के अनुसार—शास्त्रज्ञान ही मनुष्य के सच्चे नेत्र हैं, जिनके अभाव में व्यक्ति चक्षुष्मान् होता हुआ भी अन्धा ही है।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः।

जिस प्रकार व्यक्ति नेत्रों से देखकर वस्तु की ग्राह्यता-अग्राह्यता का निर्णय करता है, उसी प्रकार शास्त्र से ही शुद्ध-अशुद्ध का, उपयुक्त-अनुपयुक्त का तथा धर्म-अधर्म का निर्णय होता है। शास्त्रसम्मत धर्म है और शास्त्रविरुद्ध अधर्म है। इस प्रकार शास्त्र-ज्ञान से ही सत्य-असत्य का परिचय प्राप्त होता है। इसी शास्त्र-ज्ञान से प्राप्त करणीय-अकरणीय के विवेक को तीसरा नेत्र (सभी प्राणियों के दो चर्मचक्षु होते हैं, अतः प्रज्ञा अथवा विवेक को तीसरी आंख) भी कहा जाता है। इसी तीसरी आंख को खोलने पर, अर्थात् विवेक के जाग्रत होने पर शिव ने अपने को घेरने आये कामदेव को भस्म कर दिया था। कुमारसम्भव के अनुसार—

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे परितः चरन्ति।
तावत्स वह्निः भवनेत्रजन्मा चकार भस्मं मदनं हि तत्क्षणम्॥

तस्मात्सभ्यः सभां प्राप्य रागद्वेषविवर्जितः।
वचस्तथाविधं ब्रूयाद्यथा न नरकं व्रजेत्॥ 15॥

सभ्यों को लोकसभा में जाने पर राग-द्वेष, अनुग्रह-निग्रह अथवा रोष-आक्रोश आदि से सर्वथा मुक्त होकर पूर्णतः निष्पक्ष एवं तटस्थ भाव से व्यवहार को सुनना तथा पक्ष-विपक्ष में निर्णय देना चाहिए। उदासीन भाव से न्याय करने वाला सभ्य कभी नरकगामी नहीं बनता।

यथा शल्यं भिषग् विद्वानुद्धरेद् यन्त्रशक्तितः।
प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारतः॥ 16॥

जिस प्रकार कुशल चिकित्सक किसी प्राणी के शरीर में धंसे कांटे को निकालने के लिए यन्त्र (नुकीली शलाका) का प्रयोग करता है, उसी प्रकार सभ्यों

को भी अपने तीखे प्रश्नों एवं तर्कों से व्यवहार से सम्बद्ध प्राणियों के चित्त में धंसे राग-द्वेष, माया-मोह के कारण सत्य को छिपाने के प्रयास को नकारते हुए सत्य को उजागर-प्रतिष्ठित कराना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चिकित्सक के प्रयासों से पीड़ा अनुभव करते हुए भी रोगी अपने को उसके समक्ष समर्पित करने में अपना हित समझता है, उसी प्रकार सभ्यों को भी समझना चाहिए कि वे अपने प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों से वादी-प्रतिवादी के हृदय में धंसे पापशल्य को निकालने के रूप में उसका उपकार ही कर रहे हैं। अभियुक्त भले ही सभ्यों के प्रश्नों से तिलमिलाहट अनुभव करे, परन्तु उसे यह भली प्रकार से ज्ञात होता है कि यह तो सभ्यों का कर्तव्य एवं धर्म है। आख़िर वे न्यायालय में इसीलिए तो बैठे हैं। यदि वे अपराधी को टटोलेंगे नहीं, तो क्या अपराधी अपना अपराध अपने आप उगल देगा? यदि लोग ऐसे सीधे और सच्चे होते, तो फिर न्यायालयों की आवश्यकता ही क्यों पड़ती? इस प्रकार न तो सभ्यों को दोनों पक्षों—वादी तथा प्रतिवादी—से प्रश्नों को पूछने में संकोच करना चाहिए और न ही वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी को इसे अन्यथा लेना चाहिए।

यत्र सभ्यो जनः सर्वः साध्वेतदिति मन्यते।
स निःशल्यो विवादः स्यात् सशल्यः स्यादतोऽन्यथा॥ 17॥

जब सभी सभ्य व्यवहार के निरीक्षण-परीक्षण के उपरान्त एकमत से—यही उचित है—ऐसा मानते हैं, अर्थात् एक ही निष्कर्ष पर पहुंचते हैं, तो ऐसे विवाद को सम्यक् निर्णीत ही समझना चाहिए, अन्यथा सभी सभ्यों के एकमत न होने पर विवाद निष्कण्टक नहीं हो पाता। अभिप्राय यह है कि बहुमत के आधार पर व्यवहार को निपटा तो दिया जाता है, परन्तु मतभेद बने रहने का स्पष्ट अर्थ तो यही है कि उसमें अनसुलझा तथ्य रह गया है।

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः
वृद्धाः न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्॥ 18॥

सभा—न्यायालय अथवा लोकसंसद—में वृद्धों—ज्ञान, आयु, चरित्र तथा सत्यनिष्ठा में प्रमाणित आप्तपुरुषों—का होना आवश्यक है। जिस सभा में वृद्ध पुरुष नहीं, वह सभा सभा कहलाने की अधिकारिणी ही नहीं, वृद्धों से ही सभा सभा कहलाती है। उन वृद्धों—ज्ञान, विवेक, पाण्डित्य तथा सत्य पर दृढ़ता आदि गुणों से रहित व्यक्तियों—को वृद्ध नहीं मानना चाहिए। आयु की वृद्धि तथा केशों के पकने और त्वचा की संकुचितता का नाम वार्द्धक्य नहीं, वार्द्धक्य तो विचारों की

परिपक्वता, सत्य के प्रति दृढ़ता तथा विवेक की गहनता का नाम है। अतः धर्म की रक्षा के दायित्व का निर्वाह न करने वाले वृद्ध भी वृद्ध कहलाने के अधिकारी नहीं। धर्म का शुद्ध रूप सत्य है, जो स्वतः स्पष्ट होता है, जिसमें अस्ति-वास्तविकता का भाव है। सत्यविहीन धर्म जीवरहित देह के समान है। सत्य का मूल तत्त्व निश्छलता है। छल, कपट और धूर्तता से सत्य का दूर का भी नाता नहीं है।

इस प्रकार निश्छलता-निष्कपटता और निर्व्याजता का नाम सत्य है, सत्य पर आधृत तथ्यों का नाम धर्म है, धर्म की रक्षा की तत्परता का नाम वार्द्धक्य है और ऐसे वृद्ध पुरुषों की सभा का नाम ही सभा है।

अभिप्राय यह है कि छल-रहित सत्य का आश्रय लेना धर्म है और ऐसे धर्म की रक्षा करने वाले महापुरुषों से न्यायालय के सम्मान और प्रतिष्ठा की वृद्धि होती है।

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

चतुर्थ अध्याय

ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत्।
दानग्रहणधर्माभ्यामृणादानमिति स्मृतम्॥ 1॥

धर्मशास्त्र में विवेचनीय विषयों के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध—ऋण के लेन-देन की प्रक्रिया—स्थान, समय, निर्धारित अवधि, ब्याज, लिखा-पढ़ी, साक्ष्य तथा शर्तों आदि का, अर्थात् ऋणदान सम्बन्धी क़ानून का वर्णन इस प्रकरण में किया जा रहा है।

टिप्पणी—यहां ऋण शब्द रूढ़ अर्थ लिये हुए है। जब व्यक्ति अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति अपने साधनों से करने में असमर्थ होता है और वह आवश्यकता इस प्रकार से अपरिहार्य-अनिवार्य होती है कि उसे टाला नहीं जा सकता, और ऐसी स्थिति में जब किसी दूसरे व्यक्ति से प्रत्यावर्तनीय सहायता ली जाती है, तो वह सहायता 'ऋण' कहलाती है। ऐसी सहायता मौखिक, लिखित, अनुबन्धित तथा प्रतिबन्धित रूप से ब्याज पर अथवा बिना ब्याज के एक निश्चित अवधि तक के लिए ली जाती है। यही ऋण के लेन-देन के विवेच्य विषय हैं और यह प्रकरण इन्हीं के वर्णन से सम्बन्धित है।

पितर्युपरते पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः।
विभक्ता अविभक्ता वा यो वा तामुद्धरेद्धुरम्॥ 2॥

पिता के परलोकगामी हो जाने पर उसके द्वारा लिये गये ऋण को उसके सभी विभक्त अथवा अविभक्त पुत्रों द्वारा समान रूप से चुकता करना होता है; क्योंकि सभी पुत्रों पर परिवार का समान दायित्व होता है, अतः ऋण का परिशोधन भी सब का समान दायित्व है।

अपने जीवनकाल में लिये गये ऋण के भुगतान का दायित्व तो पिता का होता है, परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त यह दायित्व पुत्रों का हो जाता है। यदि सभी पुत्र संयुक्त परिवार के रूप में रहते हैं, तो संयुक्त खाते से ऋण का भुगतान करना होता है और यदि भाई अलग हो गये हैं, तो उन्हें अपने-अपने भाग का भुगतान करना चाहिए। इस सम्बन्ध में स्मृतिकार की एक अन्य व्यवस्था यह है कि जो परिवार के दायित्व को संभाले, अर्थात् पिता का उत्तराधिकारी बने, वही ऋण का भुगतान भी

करे। उदाहरणार्थ, यदि पिता की मृत्यु के उपरान्त ज्येष्ठ पुत्र पिता का उत्तराधिकारी बनता है, तो ऋण चुकाने का दायित्व भी उसी का बनता है और यदि वह किसी असाध्य रोग से ग्रस्त है, विदेश में रहता है अथवा अन्य किसी कारण से अयोग्य अथवा असमर्थ है और इस दायित्व को द्वितीय अथवा तृतीय स्थानीय पुत्र संभालता है, तो पिता के ऋण का भुगतान उसे ही करना होता है।

अभिप्राय यह है कि अधमर्ण की मृत्यु के उपरान्त उत्तमर्ण को चिन्ता नहीं करनी होती। वह अपने ऋण की वसूली अधमर्ण के पुत्रों से कर सकता है। पुत्र अपने पिता के ऋण के भुगतान के लिए बाध्य हैं।

पितृव्येणाविभक्तेन भ्रात्रा वा यद्दणं कृतम्।
मात्रा वा यत् कुटुम्बार्थे दद्युस्तद्रिक्थिनोऽखिलम्॥ 3॥

संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में चाचा (पिता के भाई), भाई अथवा माता द्वारा परिवार की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिये गये ऋण का भुगतान परिवार की सम्पत्ति के सभी अंशभागियों के विभक्त होने पर उन्हें अनिवार्यत: करना होता है।

अविभक्त (संयुक्त रूप से) रहने वाले भाइयों को साझा खाते से तथा विभक्त भाइयों को अपने-अपने अंश के बराबर ऋण का भुगतान करना होता है।

क्रमादव्याहतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम्।
दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्त्तते॥ 4॥

पितामह द्वारा लिये गये ऋण का भुगतान सर्वप्रथम तो सम्बद्ध व्यक्ति को अपने जीवनकाल में ही करना चाहिए, परन्तु यदि असामान्य परिस्थितियों के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता, तो यह दायित्व उसके पुत्र को निभाना चाहिए। पुत्र द्वारा ऋण को चुकता न कर पाने की स्थिति में यह दायित्व पोते पर आ पड़ता है। उसे परिवार के भरण-पोषण के लिए पितामह द्वारा लिये ऋण का भुगतान करना चाहिए। पोते द्वारा अपने जीवनकाल में दादा पर चढ़े ऋण का भुगतान न किये जाने पर उत्तमर्ण प्रपौत्र—पोते के पुत्र—से ऋण वसूली का तक़ाज़ा नहीं कर सकता। तीन पीढ़ियों—दादा, उसका पुत्र और उसका पौत्र—तक न वसूल किये गये ऋण को बट्टे खाते में गया समझना चाहिए।

टिप्पणी—विष्णुस्मृतिकार ऋण की देनदारी चार पीढ़ियों तक मानते हैं; क्योंकि उनके अनुसार पिता, पितामह और प्रपितामह को पिण्डदान तथा तर्पण आदि किया जाता है। अत: प्रपौत्र तक पिता, दादा और परदादा के ऋण को उतारना उचित है—**मन्मते तु त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्त्तते इति न्यायेन पितृपितामहप्रपितामहेभ्यः पिण्डं दद्यात्, दद्यात् पिण्डं हरेद्धनमिति न्यायेन च तेषां धनं प्राप्नुयात् अतः तत्कृतं ऋणं शोधयितुमर्हेदिति सिद्धम्।**

इच्छन्ति पितरः पुत्रान् स्वार्थहेतोर्यतस्ततः।
उत्तमर्णाधमर्णेभ्यो मामयं मोचयिष्यति॥ 5॥

यास्काचार्य ने अपने 'निरुक्त' ग्रन्थ में पुत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की है—'पु नाम नरकः ततः त्रायते इति पुत्रः।' नरक का अर्थ है—नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्। इस प्रकार अपने पिता, पितामह को अधोगति, पतन, अर्थात् दुःख, कष्ट, संकट तथा बाधा आदि से निवृत्ति दिलाने वाला ही पुत्र कहलाने का अधिकारी है। ऋण भी तो एक प्रकार का कष्ट और संकट है। यूं तो शास्त्रकार ऋणकर्ता पिता को पुत्र का शत्रु बताने के रूप में ऋण न लेने का पक्ष लेते हैं। निस्सन्देह ऋण न लेना आदर्श स्थिति है, परन्तु प्रायः परिस्थितियों—सम्पत्ति, विशेषतः आवास ख़रीदना, पुत्री का विवाह निपटाना अथवा परिवार के किसी सदस्य के रोग का उपचार अथवा झंझट से निवृत्ति आदि—की विवशता से ऋण लेना ही पड़ जाता है। पिता, दादा की इस विवशता में उनका साथ देना पुत्र-पौत्र आदि का कर्तव्य-कर्म हो जाता है। इसी सन्दर्भ में नारदजी का कथन है—

पितरों की पुत्र-प्राप्ति की उत्कट इच्छा का एक कारण जहां पिण्डदान और तर्पण आदि द्वारा अपने उद्धार की व्यवस्था करना है, वहां एक अन्य कारण उनका स्वार्थ—साहूकार से लिये ऋण से उन्हें मुक्त करना—भी है। शास्त्र की मान्यता के अनुसार अधमर्ण जब तक उत्तमर्ण के ऋण का भुगतान नहीं करता, तब तक उसका उद्धार नहीं हो पाता। इसका अर्थ है—अपने जीवनकाल में ऋण का भुगतान न कर सकने अथवा न करने वाले का भटकते रहना अथवा भूत-प्रेत आदि योनि प्राप्त करना। पुत्र-पौत्र आदि द्वारा स्वयं के द्वारा न लिये अथवा स्वयं के लिए अज्ञात, परन्तु लिखित प्रमाण से सत्यभूत पिता, पितामह आदि के ऋण को चुकता करने पर उनकी मुक्ति होती है—इस सम्भावना एवं आशा से प्रेरित होकर ही पूर्वज पुत्र-लाभ की कामना करते हैं। अतः पूर्वजों की इस आशा एवं अपेक्षा की पूर्ति करना पुत्र-पौत्रादि का धर्म एवं कर्तव्य-कर्म है। इसी से उनके पुत्र-पौत्रत्व की सार्थकता है।

टिप्पणी-स्मृतिचन्द्रिकाकार के अनुसार—'जायमानो वैब्राह्मणर्स्त्रिभिःर्ऋणवान् जायते।' उत्पन्न होने वाले प्रत्येक बालक को तीन—देव, आचार्य और पितृ—ऋणों से मुक्त होना होता है। सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त पितरों का उद्धार भी पितृ-ऋण से मुक्त होना है।

पूजनीयास्त्रयोऽतीता उपजीव्यास्त्रयोऽग्रतः।
एतत्पुरुषसन्तानमृणयोः स्याच्चतुर्थके॥ 6॥

पिछली तीन पीढ़ियों के पूर्वज—पिता, पितामह तथा प्रपितामह—पूजनीय हैं और अगली तीन पीढ़ियों के सम्बन्धी—पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र—सहायता पाने के अधिकारी हैं। मध्य के चतुर्थ व्यक्ति को पूर्वजों का अर्चन-पूजन करना है तथा

परिजनों का पालन-पोषण करना है। इस प्रकार दोनों वर्गों—पूर्ववर्ग तथा परवर्ग—की सेवा-शुश्रूषा से ही ऋणमुक्त होना है; क्योंकि ये एक ही कुल के भीतर आते हैं और पिण्ड लेने के अधिकारी हैं।

याच्यमानं न दीयेत ऋणं वापि प्रतिग्रहः।
तद्धनं वर्धते तावद्यावत्कोटिशतं भवेत्॥ 7॥

ऋणदाता द्वारा ऋणकर्ताओं से अपने ऋण की मांग किये जाने पर तथा धरोहर के स्वामी द्वारा धरोहर रखने वाले से अपनी धरोहर की वापसी की मांग किये जाने पर आनाकानी अथवा टाल-मटोल करने पर सम्बद्ध व्यक्ति पर देय पदार्थ का भार सौ गुना बढ़ जाता है, अर्थात् सौ रुपया दस हज़ार बन जाता है।

टिप्पणी—स्मृतिचन्द्रिकाकार के अनुसार—सौ गुना बढ़ने का अर्थ न चुकाने की निन्दा करना है और ऋण के परिशोधन की आवश्यकता पर बल देना है। **'मन्मते तु तद्धनं वर्धते इति ऋणवृद्धिसूचनया निन्दार्थवादेन ऋणस्यावश्य परिशोध्यत्वमिति।'**

कोटिशते तु सम्पूर्णे जायते तस्य वेश्मनि।
ऋणसंशोधनार्थाय दासो जन्मनि जन्मनि॥ 8॥

मांगने पर न चुकाये गये ऋण का ब्याज बढ़ते-बढ़ते जब मूल-धन सौ करोड़ की राशि का हो जाता है, तो उस धन (ऋण) को चुकता करने के लिए अधमर्ण व्यक्ति उत्तमर्ण के घर में दास (अश्व, गर्दभ अथवा शूद्र आदि के रूप में) बनकर उत्पन्न होता है। जब तक ऋण का पूरा भुगतान नहीं हो जाता, तब तक उसे सेवा-कार्य के लिए उसके घर विविध योनियों में जन्मते-मरते रहना पड़ता है।

तपस्वी चाग्निहोत्री च ऋणवान् म्रियते यदि।
तपश्चैवाग्निहोत्रं च सर्वं तद्धनिनां धनम्॥ 9॥

अग्निहोत्री—यज्ञ-यागादि सम्पन्न करने वाला अथवा तपस्वी के ऋण का परिशोधन किये बिना ही प्राण त्याग देने पर उसके पुण्य कर्मों—यज्ञ-यागादि तथा तपस्या आदि—का फल स्वयं उसे न मिल कर उत्तमर्ण (धनदाता) को चला जाता है।

न पुत्रर्णं पिता दद्याद्दद्यात् पुत्रस्तु पैतृकम्।
कामक्रोधसुराद्यूतप्रातिभाव्यकृतं विना॥ 10॥

निम्नोक्त पांच व्यसनों के लिए पिता अथवा पुत्र द्वारा लिये ऋण के भुगतान का दायित्व पुत्र अथवा पिता पर नहीं होता। पिता के दुर्व्यसनों के कारण पुत्र को और पुत्र के दुर्व्यसनों के कारण उसके पुत्र को संकट में डालना कदापि उचित नहीं—(1) कामवासना की तृप्ति के लिए वेश्यागमन अथवा परदारागमन अथवा किसी की बहू-बेटी का अपहरण अथवा किसी की बहू-बेटी की सहमति से

उसके साथ स्वच्छन्द विहार अथवा बलात्कार। (2) क्रोध के कारण किसी का सिर-फोड़ देना, किसी की हत्या कर देना, दंगा-फ़साद करना, किसी सम्मानित व्यक्ति का अपमान करना, किसी की सम्पत्ति पर अनुचित रूप से अधिकार करना आदि। इन सबके कारण पुलिस, न्यायालय के निरन्तर चक्कर काटते रहने को विवश होना। (3) मदिरा-पान का आदी हो जाना, (4) द्यूत-क्रीड़ा की लत का लग जाना तथा (5) किसी मित्र, सम्बन्धी का ज़ामिन (उसके द्वारा न चुकाये जाने वाले) ऋण को स्वयं चुकाने का दायित्व (ज़िम्मा लेना) बनकर उसे ऋण दिलाना और फिर उसके द्वारा न चुका पाने अथवा न चुका सकने की स्थिति में उसके ऋण को चुकता करने के लिए स्वयं को ऋणजाल में फंसाना।

इन पांचों आवश्यकताओं का परिवार के भरण-पोषण से अथवा परिवार के हित-संरक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं। अतः परिवार के किसी भी सदस्य द्वारा लिया गया ऋण उसका निजी मामला होता है। परिवार के दूसरे सदस्यों का उससे कुछ लेना-देना नहीं होता।

पितुरेव नियोगाद्यः कुटुम्बभरणाय वा।
ऋणं वा यत्कृतं कृच्छ्रे दद्यात् पुत्रस्य तत्पिता॥ 11॥

निम्नोक्त परिस्थितियों में पुत्र द्वारा उत्तमर्ण से लिये धन का पिता को भुगतान करना चाहिए—(1) स्वयं पिता की आज्ञा, अनुमति, सहमति से लिया गया ऋण, (2) पिता की जानकारी अथवा अजानकारी में परिवार के भरण-पोषण के लिए लिया गया ऋण तथा (3) परिवारजनों के किसी कष्ट, संकट आदि में ग्रस्त हो जाने पर निष्कृति के लिए उठाया गया ऋण।

परिवार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए लिये गये ऋण और उसी प्रयोजन पर ख़र्च किये गये धन के औचित्य-अनौचित्य के झंझट में व व्यय के ढंग आदि के विवाद में न पड़कर ऋण को लौटाने का दायित्व लेना चाहिए।

शिष्यान्तेवासिदासस्त्री वैयावृत्यकरैश्च यत्।
कुटुम्बहेतोरुत्क्षिप्तं दातव्यं तत्कुटुम्बिना॥ 12॥

परिवार के मुखिया की अनुमति, सहमति तथा जानकारी में अथवा इन सब के अभाव में परिवार की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए निम्नोक्तों—(1) शिष्य, (2) अन्तेवासी (गुरुकुल में रहने वाला, आज की भाषा में छात्रावास या होस्टल में रहने वाला), (3) घर में उत्पन्न अथवा क्रीत दास, (4) माता, बहिन, पुत्री अथवा पत्नी, भाभी आदि निकट सम्बन्ध की स्त्री तथा (5) व्यापार करने की प्रवृत्ति वाले किसी सदस्य—द्वारा लिये गये ऋण का भुगतान परिवार के मुखिया को करना ही चाहिए।

ग्राहको यदि नष्टः स्यात् कुटुम्बे च कृतो व्ययः।
दातव्यं ज्ञातिभिस्तस्य विभक्तैरपि तदृणम्॥ 13॥

कुटुम्ब की आवश्यकता के लिए ऋण लेने वाले व्यक्ति के मर जाने पर अथवा विदेश चले जाने पर अथवा किसी रोगादि के कारण अथवा व्यापार आदि में घाटा आ जाने के कारण असमर्थ-असहाय हो जाने पर अविभक्त अथवा विभक्त हो गये जाति-बन्धुओं—सगे भाइयों अथवा चचेरे भाइयों—को उत्तमर्ण को उसके धन का भुगतान करना ही होता है।

अभिप्राय यह है कि परिवार की पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों पर देय ऋण आदि को चुकाने का दायित्व है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि उत्तराधिकार में भले ही कुछ न मिला हो, फिर भी ऋण के भुगतान का दायित्व उत्तराधिकारियों का ही होता है; क्योंकि यदि सम्पत्ति होती, तो उस पर उनका ही अधिकार होता। यदि नहीं है, तो उनका भाग्य। इस 'नहीं' के कारण वे अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

नार्वाक् संवत्सराद् विंशात् पितरि प्रेषिते सुतः।
ऋणं दद्यात् पितृव्ये वा ज्येष्ठे भ्रातर्यथापि वा॥ 14॥

पिता, चाचा तथा ज्येष्ठ भ्राता द्वारा ऋण लेने के उपरान्त विदेश चले जाने पर अथवा अपहृत हो जाने पर अथवा गिरिफ़्तारी आदि से बचने आदि किसी कारणवश छिप जाने पर, बीस वर्षों के बीतने के उपरान्त, अर्थात् बीस वर्षों तक उनका पता न लगने के बाद ही पुत्र पर उस ऋण के भुगतान का दायित्व आता है।

अभिप्राय यह है कि बीस वर्षों तक ऋणदाता अपने ऋण की वसूली के लिए ऋणकर्ता के पुत्र पर दबाव नहीं डाल सकता। हां, बीस वर्षों की प्रतीक्षा के उपरान्त भी ऋणकर्ता की खोज-ख़बर न मिलने पर पिता, चाचा और ज्येष्ठ भ्राता द्वारा पारिवारिक आवश्यकता के लिए उठाये गये ऋण की मांग उनके पुत्र से की जा सकती है।

दाप्यः परर्णमेकोऽपि जीवत्स्ववियुतैः कृतम्।
प्रेतेषु न तु तत्पुत्रः परर्णं दातुमर्हति॥ 15॥

अविभक्त अथवा संयुक्त परिवार में ऋण लेने के उपरान्त संयोगवश एक-एक करके, अनेक अथवा सभी असम्बद्ध व्यक्तियों के मृत्युग्रस्त हो जाने पर अवशिष्ट जीवित व्यक्ति को समूचे ऋण का परिशोधन करना पड़ता है। हां, ऋण का भुगतान किये बिना उसके भी मर जाने पर, उसके पुत्र को अपने भाग के अनुसार—यदि पिता के चार पुत्र थे और तीन पहले ही मर चुके थे और अब ऋण के भुगतान का दायित्व एकमात्र जीवित चतुर्थ पुत्र पर था, जो दुर्भाग्यवश ऋण चुकाये बिना ही मर गया, तो अब उसके पुत्र/पुत्रों को ऋण के चतुर्थांश का ही भुगतान करना होगा। इसी प्रकार पुत्रों की संख्या के अनुपात में ही पुत्रों के पुत्रों पर आंशिक भुगतान का दायित्व आयेगा—ही ऋण का अंश देना होगा।

न स्त्री पतिकृतं दद्यादृणं पुत्रकृतं तथा।
अभ्युपेतादृते यद्वा सह पत्या कृतं भवेत्॥ 16॥

यदि प्रतिज्ञा-पत्र में पहले से ही पति द्वारा लिये ऋण का उसकी पत्नी द्वारा तथा पुत्र द्वारा लिये गये ऋण का उसकी माता द्वारा भुगतान का प्रावधान नहीं किया गया, तो ऋण लेने वाले पति के मर जाने पर उसकी पत्नी पर पति के ऋण को तथा ऋणकर्ता पुत्र के मर जाने पर उसकी माता पर पुत्र के ऋण को चुकाने की कोई ज़िम्मेदारी नहीं। ऐसे ऋण को नष्ट हुआ ही समझना चाहिए। हां, यदि पत्नी अथवा माता ने अपने पति अथवा पुत्र के ऋण में सहभागिनी होने की शपथ ली हुई है, तो उन्हें उस ऋण का भुगतान करना ही होता है।

दद्यादपुत्रविधवा नियुक्ता वा मुमूर्षुणा।
यो वा तद्रिक्थमादत्ते यतो रिक्थमृणं ततः॥ 17॥

यदि पति ने मरते समय किसी से लिये ऋण के भुगतान का निर्देश पत्नी को दिया है, तो पुत्र-हीना विधवा को वह ऋण अवश्य ही चुकाना पड़ता है अथवा यह ऋण उत्तराधिकारी बनने वाले सम्बन्धी को चुकाना पड़ता है; क्योंकि वास्तव में देय और ग्राह्य (Liability and Assets) का अभिन्न सम्बन्ध है। सम्पत्ति लेने वाले को देनदारी भी निभानी पड़ती है। इसी तथ्य को 'विष्णुस्मृति' में भी स्वीकार किया गया है—

य एवं रिक्थं गृह्णाति स एव ऋणं ददाति। यतो रिक्थं सञ्चरति तत ऋणमपीत्युक्तम्।

न च भार्याकृतमृणं पत्युर्वापि कथं भवेत्।
आपत्कृतादृते पुंसां कुटुम्बार्थो हि दुस्तरः॥ 18॥

पति के किसी दूर स्थान को चले जाने के कारण असहाय हो जाने पर आपत्काल—परिवार के किसी दायित्व—लड़की का विवाह, रोग-उपचार, बच्चे की उच्च शिक्षा तथा मकान की मरम्मत आदि—के निर्वाह आदि परिस्थिति में पत्नी द्वारा लिये ऋण को चुकाने को तो पति बाध्य है, परन्तु सामान्य स्थिति में पत्नी द्वारा लिये ऋण के भुगतान का पति पर कोई दायित्व नहीं।

टिप्पणी—यदि सामान्य स्थिति में पत्नी ऋण लेती है, तो वह उसका उपयोग अपनी विलासिता आदि किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए करती है। अतः पति को उसकी भरपाई नहीं करनी पड़ती है, परन्तु हां, असामान्य स्थिति में ऋण लेना तो उसकी विवशता है। पति द्वारा आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन उपलब्ध न कराने पर ही उसे किसी दूसरे के आगे हाथ पसारना पड़ता है। अतः उस ऋण को चुकाने का दायित्व पुरुष (पति) पर डालना सर्वथा न्यायसंगत ही है।

अन्यत्र रजकव्याधगोपशौण्डिकयोषिताम्।
तेषां तत्प्रत्यया वृत्तिः कुटुम्बं च तदाश्रयम्॥ 19॥

धोबी, बहेलिया, ग्वाला और नट, नर्तक आदि की स्त्रियों द्वारा लिये गये ऋण को चुकाना पतियों का कर्तव्य-कर्म है; क्योंकि ऋणदाता स्त्रियों को इस विश्वास पर ही ऋण देता है कि परिवार के भरण-पोषण का दायित्व इनके पतियों पर है, तो वे अपने पतियों की ओर से ऋण ले रही हैं। अतः पुरुषों पर कुटुम्ब की निर्भरता ही ऋण चुकाने का आधार है।

पुत्रिणी तु समुत्सृज्य पुत्रं स्त्री यान्यमाश्रयेत्।
तस्या द्रव्यं हरेत् सोऽन्यो निःस्वायाः पुत्र एव तु॥ 20॥

यदि पुत्रवती विधवा स्त्री अपने पुत्र को छोड़कर अन्य पुरुष का वरण कर लेती है, तो उसके स्त्रीधन पर उसके नये पति का अधिकार होता है। पुत्र उसकी मांग नहीं कर सकता। यदि स्त्रीधन नहीं है, तो पुनर्विवाह करने वाली स्त्री अपने पूर्वपति की चल-अचल सम्पत्ति को अपने साथ नहीं ले जा सकती। उस सम्पत्ति पर उसका कोई अधिकार ही नहीं रह जाता, उस पर केवल उसके पुत्र का ही अधिकार होता है।

अभिप्राय यह है कि स्त्रीधन पर केवल स्त्री का और पितृधन पर केवल पुत्र का ही एकाधिकार होता है। पुनर्विवाह करने वाली स्त्री अपने स्त्रीधन को अपने साथ ले जा सकती है और विवाह के पश्चात् स्त्री के उस धन पर उसके नये पति का अधिकार हो जाता है।

या तु सप्रधनैव स्त्री सापत्या चान्यमाश्रयेत्।
सोऽस्या दद्याद्दणं भर्तुरुत्सृजेद्वा तथैव ताम्॥ 21॥

अपने पुत्र तथा पति द्वारा लिये गये ऋण को अपने ऊपर ओढ़कर दूसरे पुरुष से विवाह करने वाली विधवा स्त्री के नये पति को उसके पूर्वपति तथा पुत्र के ऋण को चुकता करके उसे उऋण करना ही पड़ता है, अर्थात् इसे विवाह की एक आवश्यक शर्त मानकर चलना होता है। यदि पुरुष उस ऋण को चुकाने में असमर्थ है, तो उसे विवाह ही नहीं करना चाहिए।

अधनस्य ह्यपुत्रस्य मृतस्योपैति यः स्त्रियम्।
स आभजेद्दणं वोढुः सैव तस्य धनं यतः॥ 22॥

किसी निर्धन एवं पुत्रहीन, परन्तु ऋणग्रस्त पुरुष के मर जाने पर उसकी विधवा एवं अपुत्रवती स्त्री से विवाह करने वाले पुरुष को उस स्त्री के पूर्वपति के ऋण को चुकता करना होता है; क्योंकि इस स्थिति में मृतपुरुष की पत्नी ही उसका रिक्थ (धन) है और यह नियम है कि जो रिक्थ को ग्रहण करता है, देनदारी का वहन भी उसे ही करना होता है। अतः मृत पुरुष की पत्नी के पाणिग्रहण करने वाले

को कर्तव्य-रूप से एवं तदर्थ-भाव से उसके ऋण का भुगतान करना पड़ता है।

धनस्त्रीहारिपुत्राणामृणभाग् यो धनं हरेत्।
पुत्रोऽसतोः स्त्रीधनिनोः स्त्रीहारी धनिपुत्रयोः॥ 23॥

ऋणग्रस्त धनहीन व्यक्ति के मर जाने पर, यदि उसका पुत्र अपने पिता के ऋण को चुकाने में अपने को असमर्थ पाकर अपने पिता के नाम-मात्र (थोड़े-बहुत) रिक्थ को भी लेने से इनकार कर देता है, तो उस रिक्थ को लेने के लिए आगे आने वाले व्यक्ति को ऋणशोधन करना चाहिए। यदि कोई भी ऋण चुकाने और रिक्थ संभालने को उद्यत नहीं होता और उसकी विधवा स्त्री किसी दूसरे पुरुष से विवाह कर लेती है, तो उस स्त्री का हरण अथवा वरण करने वाले पुरुष को उसके पूर्वपति के ऋण को चुकाना होता है; क्योंकि यहां स्त्री ही रिक्थ है और रिक्थ के साथ ऋणशोधन भी जुड़ा हुआ है।

अन्तिमा स्वैरिणीनां या उत्तमा च पुनर्भुवाम्।
ऋणं तयोः पतिकृतं दद्याद्यस्ते समश्नुते॥ 24॥

स्त्री भले ही उत्तम कोटि की पुनर्भू—छोटी आयु में पति से वियुक्त अथवा सन्तानहीन अथवा पति के परिवारजनों का दबाव अथवा पितृपक्ष में आत्मीयता का अभाव—सौतेली मां, मां का न होना, भाई-बहिनों का न होना अथवा निर्धन होना अथवा अपेक्षावृत्ति का होना—आदि कारणों से पुनर्विवाह के लिए उद्यत होने वाली हो अथवा स्वैरिणी—प्रबल कामवासना के कारण पर-पुरुष की अपेक्षा रखने वाली—हो, तो उससे विवाह करने वाले पुरुष को उसके पूर्वपति द्वारा उठाये ऋण का भुगतान करना ही होता है।

भार्या स्नुषा च भृत्या च भार्यायाश्च परिग्रहः।
एतावद्भिर्ऋणं देयं भूमिं यश्चोपजीवति॥ 25॥

परिवार के भरण-पोषण के अथवा परिवार पर आयी किसी विपत्ति—रोग, मृत्यु, राजा का कोप (Police harassment) तथा विवाह आदि—के उद्धार के लिए निम्नोक्त सभी सदस्यों द्वारा किसी धनिक से लिये गये ऋण का भुगतान परिवार के मुखिया अथवा अभिभावक बने सदस्य अथवा सदस्यों को करना होता है—(1) पत्नी, (2) पुत्रवधू तथा (3) गृहसेविका—वेतन पर कार्य करने वाली तथा पत्नी पर आश्रित रहने वाली महिला—उसकी बहिन अथवा अन्य निकट सम्बन्धिनी, जिसे उसने अपने घर में प्रश्रय दे रखा है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि स्त्रियों को साधारण लेन-देन का ही अधिकार है, अचल सम्पत्ति के सम्बन्ध में उनके द्वारा किया गया लेन-देन अवैध होता है।

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुर्मनीषिणः।
विशेषतो गृहक्षेत्रदानाधमनविक्रयाः॥ 26॥

मनीषियों और विधिवेत्ताओं के अनुसार माता, पत्नी तथा पुत्री आदि स्त्रियों को विशेषतः घर और क्षेत्र आदि के दान, विक्रय तथा बन्धक रखने का कोई अधिकार नहीं है। इनके द्वारा इस प्रकार किये गये अनुबन्ध अवैध एवं अप्रामाणिक हो जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि नारी को केवल असामान्य स्थिति में और वह भी छोटे-मोटे ऋण लेने की छूट है, अन्यथा उसे चल-अचल सम्पत्ति के साथ छेड़-छाड़ करने का कोई अधिकार नहीं है। उनके साथ किये गये सौदे निरस्त माने जाते हैं।

एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते।
पुत्रः पत्युरभावे च राजा च पतिपुत्रयोः ॥ 27 ॥

पति की अथवा पति के अभाव में पुत्र की और दोनों के अभाव में राजा (शासन) की अनुमति प्राप्त होने पर स्त्रियों द्वारा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय सम्बन्धी किये गये सौदे वैध एवं प्रामाणिक माने जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि विदेश में होने के कारण अथवा चिकित्सालय में प्रविष्ट होने के कारण अथवा अन्य किसी कारणवश पति अथवा पुत्र लेन-देन के लिए सभा में उपस्थित नहीं हो सकते और पत्नी या माता को अधिकृत कर देते हैं (Power of Attorny दे देते हैं), तो स्त्री द्वारा किये गये सौदे उसके पति-पुत्र द्वारा किये गये माने जायेंगे, इस प्रकार उनकी वैधता अक्षुण्ण होगी। इसी प्रकार पति-पुत्रविहीना स्त्री द्वारा प्रशासन से हरी झण्डी (Clearance) लेने के उपरान्त ही किये गये सौदे मान्य होते हैं।

भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन् मृतेऽपि तत्।
सा यथाकाममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते ॥ 28 ॥

पति ने प्रसन्न होकर स्वेच्छा से जो कुछ अपनी पत्नी को दे दिया है, पति की मृत्यु के उपरान्त भी पतिप्रदत्त उस सम्पत्ति पर पत्नी का अधिकार अक्षुण्ण बना रहता है, उसे कोई छीन नहीं सकता। वह अचल सम्पत्ति को छोड़कर चल सम्पत्ति—स्वर्ण, नक़दी, आभूषण, वस्त्र एवं सब प्रकार के सामान—का यथेष्ट उपयोग करने को स्वतन्त्र है।

टिप्पणी—'मदनरत्नम्' ग्रन्थकार के अनुसार—**भर्तृ दत्तस्थावरोपभोगमात्रमेवस्त्रीभिर्मृताविभक्तपतिकाभिः कर्त्तव्यम्, न तु दानादिकमित्यर्थः**। अर्थात् पति द्वारा प्रीतिवश दी गयी स्थावर सम्पत्ति का उपयोग स्त्री पति के जीवनकाल में तथा उसके मरणोपरान्त परिवार के सदस्यों के विभक्त अथवा अविभक्त रहते करने को तो स्वतन्त्र है, परन्तु उसे किसी को वह सम्पत्ति दान में देने, बेचने अथवा बन्धक रखने का कोई अधिकार नहीं है।

यथा दासकृतं कार्यमकृतं परिचक्षते।
अन्यत्र स्वामिसन्देशान्न दासः प्रभुरात्मनः॥ 29॥

स्त्रियों के समान ही दासों के द्वारा भी स्वामी द्वारा अनुमत कार्य को सम्पन्न करने पर मान्यता है। स्वामी से अनुमति प्राप्त किये बिना स्वेच्छा से दास द्वारा किये किसी भी कार्य का दायित्व स्वामी का नहीं होता। सेवक को सदैव यह स्मरण रखना चाहिए कि वह सेवक है, स्वामी नहीं, अर्थात् उसे निर्णय लेने का कोई अधिकार नहीं, उसका कर्तव्य-कर्म तो केवल स्वामी के आदेश का पालन करना है।

सेवक के साथ व्यवहार करने वालों को भी सेवक की सीमा और उसके कार्यक्षेत्र को ध्यान में रखना चाहिए, अन्यथा उनका दुखी होना स्वाभाविक ही है।

पुत्रेणापि कृतं कार्यं यत्स्यादच्छन्दतः पितुः।
तदप्यकृतमेवाहुर्दासः पुत्रश्च तत्समौ॥ 30॥

दास के समान ही पिता के जीवित होने पर उसकी अनुमति के बिना पुत्र द्वारा किया गया व्यवहार—लेन-देन—भी अप्रामाणिक हो जाता है; क्योंकि पुत्र सम्पत्ति का स्वामी ही नहीं बना। स्वामित्व और अधिकार-पत्र (Power of Attorny) के अभाव में किया गया व्यवहार तो वैध हो ही नहीं सकता।

अभिप्राय यह है कि पुत्र के साथ व्यवहार करने वालों का हित इसी में है कि वे यह निश्चित कर लें कि विचारणीय सम्पत्ति पुत्र के स्वामित्व की अथवा पिता द्वारा अनुमत है अथवा नहीं। इस तथ्य की निश्चित जानकारी प्राप्त किये बिना सहसा व्यवहार करने वालों को प्रायः पछताना ही पड़ता है। स्मृतिकार के अनुसार दास और पुत्र एक समान ही हैं। दोनों स्वामी नहीं, अपितु स्वामी अथवा पिता के आदेश-वाहक हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सेवक वेतनभोगी है और पुत्र दाय-भागी है। मूल-अधिकार तो पिता के पास सुरक्षित है।

अप्राप्तव्यवहारश्चेत् स्वतन्त्रोऽपि हि नर्णभाक्।
स्वातन्त्र्यं हि स्मृतं ज्येष्ठे ज्यैष्ठ्यं गुणवयः कृतम्॥ 31॥

पिता की मृत्यु हो जाने पर भी अवयस्क-व्यवहार करने में अकुशल पुत्र को परिवार की सम्पत्ति को बन्धक रखने का और उस पर ऋण लेने का अधिकार नहीं, बेचने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हां, इस स्थिति में ज्येष्ठ पुत्र को अवश्य यह सब करने—आवश्यकता के अनुसार सम्पत्ति को बेचने अथवा बन्धक रखने—का अधिकार है, परन्तु ज्येष्ठता के दो आधार हैं—आयु तथा गुण।

गुण को ज्येष्ठता का आधार मानने का अर्थ है कि यदि ज्येष्ठ भ्राता ज्येष्ठ तो है, परन्तु श्रेष्ठ नहीं, अर्थात् अग्रज होने पर भी द्वितीय अथवा तृतीय भाई (अनुज) से बुद्धि में पिछड़ा हुआ है, तो पैतृक सम्पत्ति के हस्तान्तरण का अधिकार गुणहीन से छिनकर गुणवान् के पास चला जायेगा। हां, बौद्धिक उत्कर्ष में समानता होने पर आयु को गौरव मिलेगा।

त्रयः स्वतन्त्रा लोकेऽस्मिन् राजाचार्यस्तथैव च।
प्रतिवर्णं च सर्वेषां वर्णानां स्वे गृहे गृही॥ 32॥

इस संसार में तीन व्यक्ति ही स्वतन्त्र हैं—राजा, आचार्य तथा अपने वर्ण में स्थित घर का मुखिया। ये तीनों जो कुछ भी करना चाहें, कर सकते हैं। इन्हें अपने-अपने क्षेत्र—राजा को राज्य में, आचार्य को गुरुकुल अथवा आश्रम में तथा गृहपति को अपने घर-परिवार—में कुछ करने के लिए किसी की अनुमति नहीं लेनी पड़ती।

अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः।
अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्यः आचार्ये तु स्वतन्त्रता॥ 33॥

इसी तथ्य की आवृत्ति करते हुए स्मृतिकार का कथन है—राजा स्वतन्त्र है और उसके द्वारा शासित एवं उसके अधीनस्थ प्रजा परतन्त्र है; क्योंकि प्रजा राजा के आदेश-निर्देश का पालन करने को बाध्य है। आचार्य स्वतन्त्र है और उससे शिक्षा ग्रहण करने वाला एवं उसके आश्रम में रहने वाला छात्र परतन्त्र है; क्योंकि उसे गुरु के आदेश से अथवा उनके द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार ही अपनी दिनचर्या बनानी पड़ती है।

अस्वतन्त्रा स्त्रियः पुत्रा दासादिश्च परिग्रहः।
स्वतन्त्रस्तत्र तु गृही यस्य यत् स्यात् क्रमागतम्॥ 34॥

इसी प्रकार गृहस्वामी स्वतन्त्र है और अपने भरण-पोषण के लिए उस पर आश्रित स्त्रियां, पुत्र, दास-दासियां तथा अन्य सम्बन्धी परतन्त्र हैं; क्योंकि कुल-परम्परा से प्राप्त सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि तथा नयी सम्पत्ति के अर्जन के साथ-साथ परिवार के सभी सदस्यों के भरण-पोषण का व उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का सारा दायित्व गृहस्वामी का ही है।

गर्भस्थसदृशो ज्ञेयः अष्टमाद् वत्सराच्छिशुः।
बाल आषोडशाद् वर्षात् पोगण्ड इति शस्यते॥ 35॥

आठ वर्ष की आयु तक के बालक को गर्भस्थ बालक के समान समझना चाहिए, अर्थात् उससे किसी प्रकार का व्यवहार करने की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। सत्य तो यह है कि जब तक बालक सोलह वर्ष का नहीं हो जाता, तब तक उसे पोगण्ड (अनाड़ी) ही समझना चाहिए।

वस्तुतः यह आयु तो बालक के खेलने-कूदने और मौज-मस्ती करने की होती है। इस आयु में उसे किसी प्रकार का कोई दायित्व सौंपना, उसके बचपन की हत्या करना ही है।

टिप्पणी—मनु ने भी पांच वर्ष तक बालक को लाड़-प्यार करने का और

दस वर्षों तक प्रशिक्षित करने का विधान किया है। बालक के सोलह वर्षों का होने पर उसके साथ मित्रवत् व्यवहार करने का निर्देश किया है, जिसका अर्थ है कि बालक सोलह वर्षों की आयु में ही समझदार हो पाता है—

लालयेत् पञ्चवर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥
परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरौ बिना।
जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः॥ 36॥

सोलह वर्ष से ऊपर की आयु का होने पर बालक को व्यवहारकुशल समझना चाहिए और तब वह माता-पिता की अनुमति अथवा सहमति के बिना भी व्यवहार करने को स्वतन्त्र हो जाता है।

इस प्रकार पुत्र को अपने व्यवहारकुशल हो जाने पर और माता-पिता के वृद्ध, रोगग्रस्त और असमर्थ हो जाने पर भी उनके जीवनकाल तक अपने को उनके अधीन-अस्वतन्त्र मानकर ही चलना चाहिए।

तयोरपि पिता श्रेयान् बीजप्राधान्यदर्शनात्।
अभावे बीजिनो माता तदभावे तु पूर्वजः॥ 37॥

पुत्र के लिए माता और पिता दोनों ही समान रूप से आदरणीय हैं, परन्तु फिर भी माता की अपेक्षा पिता का महत्त्व कहीं अधिक है; क्योंकि योनि (धरती) की अपेक्षा वीर्य (बीज) की प्रधानता सर्वसम्मत है।

पिता अथवा पति के न रहने पर माता और माता के न रहने पर ज्येष्ठ पुत्र (भाइयों के हिसाब से अग्रज अथवा ज्येष्ठ भ्राता) स्वतन्त्र है। पति के जीवनकाल में पत्नी की और माता के जीवनकाल में पुत्रों की परतन्त्रता निश्चित है।

स्वतन्त्राः सर्व एवैते परतन्त्रेषु सर्वदा।
अनुशिष्टौ विसर्गे च विक्रये चेश्वरा मताः॥ 38॥

उपर्युक्त राजा, आचार्य और गृहपति अपने परतन्त्र विषयों—प्रजा, शिष्य तथा आश्रित सदस्य—के सन्दर्भ में ही स्वतन्त्र हैं। राजा प्रजा के, आचार्य शिष्य के तथा गृहपति परिवारजनों के अनुशासन में तथा अपनी सम्पत्ति के दान एवं विक्रय में स्वतन्त्र एवं सम्प्रभुता प्राप्त हैं।

यद्बालः कुरुते कार्यमस्वतन्त्रस्तथैव च।
अकृतं तदिति प्राहुर्धर्मशास्त्रविदो जनाः॥ 39॥

जिस प्रकार बालक द्वारा किये गये व्यवहार को अमान्य एवं अप्रामाणिक माना जाता है, उसी प्रकार स्वतन्त्रों के स्थान पर परतन्त्रों द्वारा, अर्थात् राजा के स्थान पर प्रजाजनों द्वारा, आचार्य के स्थान पर शिष्य द्वारा तथा गृहपति के स्थान पर आश्रितों द्वारा किये गये कार्य को भी सर्वथा अप्रामाणिक एवं असिद्ध ही मानना चाहिए।

कामक्रोधाभिभूतार्तभयव्यसनपीडिताः।
रागद्वेषपरीताश्च श्रेयास्त्वप्रकृतिं गताः ॥ 40 ॥

निम्नोक्त स्थितियों के प्राणियों को अस्वस्थ और उनके द्वारा किये गये व्यवहार को भी अप्रामाणिक एवं असिद्ध मानना चाहिए—(1) काम और क्रोध से अभिभूत, (2) आर्त्त-संकटग्रस्त, (3) भयग्रस्त, (4) व्यसन-पीड़ित तथा (5) राग-द्वेष में आसक्त।

ऐसे प्राणी व्यवहार में अपने विवेक का प्रयोग-उपयोग नहीं कर पाते। वे भावना एवं आवेश के वशीभूत होकर ग़लत-सही का निर्णय नहीं कर सकते। यही कारण है कि क़ानून इनके व्यवहार को मान्यता नहीं देता।

स्वतन्त्रोऽपि हि यत्कार्यं कुर्यादप्रकृतिं गतः।
अकृतं तदपि प्राहुरस्वातन्त्र्यस्य हेतुतः ॥ 41 ॥

स्वतन्त्र, अर्थात् सभी प्रकार के व्यवहार करने में सक्षम एवं पूर्ण अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति के भी प्रकृतिस्थ न रहने की स्थिति में किये गये व्यवहार को अकृत ही समझना चाहिए; क्योंकि मदिरा, द्यूत तथा दारागमन आदि दुर्व्यसनों के अधीन व्यक्ति कभी स्वतन्त्र एवं विवेक से कार्य करने वाला हो ही नहीं सकता।

अभिप्राय यह है कि व्यक्ति वयस्क और अपनी सम्पत्ति का सार्वभौम स्वामी होने के नाते लेन-देन करने को स्वतन्त्र एवं समर्थ अवश्य होता है, परन्तु यदि उसने मदिरापान कर रखा है अथवा द्यूत-क्रीड़ा तथा व्यभिचार आदि व्यसनों का शिकार है, तो निश्चित है कि अपने दुर्व्यसनों में ग्रस्त ऐसा व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को औने-पौने दामों में भी बेचने को विवश हो जायेगा; क्योंकि उत्कट वासना-पूर्ति की इच्छा ने उस पर अधिकार कर रखा है और उसकी सद्बुद्धि एवं विवेक-शक्ति को कुण्ठित कर दिया है। अतः ऐसे व्यक्ति द्वारा किये गये व्यवहार को निरस्त मानना सर्वथा उचित ही है।

कुले ज्येष्ठस्तथा श्रेष्ठः प्रकृतिस्थश्च यो भवेत्।
तत्कृतं तु कृतं प्राहुर्वा स्वतन्त्रकृतं कृतम् ॥ 42 ॥

वास्तव में परिवार में आयु की दृष्टि से ज्येष्ठ तथा गुण, विद्या एवं आचार की दृष्टि से श्रेष्ठ होने के अतिरिक्त पूर्ण स्वस्थ, अर्थात् मदिरा आदि के नशे से मुक्त तथा किसी विषय-वासना एवं व्यसन आदि के वश में न रहने वाले, पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया गया व्यवहार ही सिद्ध एवं प्रामाणिक होता है। परतन्त्र—मदिरा के नशे में धुत, उद्दाम वासना से पीड़ित, द्यूत में हारा और खेलने के लिए उन्मत्त—व्यक्ति तो कभी सही निर्णय ले ही नहीं सकता। इस प्रकार व्यसनों के दास द्वारा गया किया कार्य अप्रामाणिक ही होता है।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार भूत-प्रेतादि का शिकार बने,

तथा द्यूत आदि व्यसनों में फंसे व्यक्ति को स्वभाव (प्रकृति) से परित्यक्त ही समझना चाहिए। इस प्रकार के कारणों से स्वतन्त्र व्यक्ति भी स्वतन्त्र निर्णय लेने में असमर्थ हो जाता है। इसी कारण उसके द्वारा किये गये कार्यों—दान, क्रय-विक्रय तथा बन्धक आदि—को नशे में किये कार्यों के रूप में—असिद्ध ही मानना चाहिए—**भूतगृहीतो वा द्यूतादिव्यसनगृहीतो वा स्वभावप्रकृतिपरित्यक्तः। अनेन हेतुना स्वतन्त्रोऽपि अस्वतन्त्रः सहेतुकः।**

धनमूलाः क्रिया सर्वा यत्नस्तत्साधने मतः।
रक्षणं वर्धनं भोग इति तस्य विधिः क्रमात्॥ 43॥

संसार के व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष सम्बन्ध धन से है। धन ही वह केन्द्रबिन्दु है, जिसके चारों ओर सभी कार्य चक्कर काटते रहते हैं। अतः सभी व्यक्तियों को धन की प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिए। इस उद्यम के तीन उपाय अथवा प्रकार हैं—प्रथम, उपार्जित धन की सुरक्षा, द्वितीय, सुरक्षित धन का वर्द्धन करना और तृतीय, वर्द्धित धन का भोग, अर्थात् सदुपयोग करना।

टिप्पणी—धर्मशास्त्र की मान्यता है कि धन के दो ही उपयोग हैं—दान तथा भोग, अर्थात् स्वयं खाना अथवा दूसरों को खिलाना। इन दोनों कार्यों—स्वयं भी न खाना और दूसरों को भी न खिलाना—में न आने वाले धन की तीसरी गति, उसका नाश होना है।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

अतः यहां धन के रक्षण और वर्द्धन के उपरान्त तीसरे स्थान पर उसके यथोचित उपभोग का उल्लेख किया गया है।

तत्पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं शुक्लं शबलमेव च।
कृष्णं च तस्य विज्ञेयः प्रभेदः सप्तधा पृथक्॥ 44॥

धन के तीन प्रकार-भेद हैं—शुक्ल, शबल और कृष्ण। इन तीनों के पुनः सात-सात भेद होते हैं।

श्रुतशौर्यतपः कन्याशिष्ययाज्यान्वयागतम्।
धनं सप्तविधं शुक्लमुद्योगस्तस्य तद्विधः॥ 45॥

1. विद्या (अध्यापन), 2. शौर्य (युद्ध, पौरुष), 3. कठोर श्रम (तपस्या), 4. शिष्य (दक्षिणा-रूप में), 5.पौरोहित्य (यज्ञादि सम्पन्न कराने पर प्राप्त दान-दक्षिणा), 6. कन्या (कन्या के विवाह के बदले प्राप्त) तथा 7. दाय-भाग (उत्तराधिकार में प्राप्त पैतृक सम्पत्ति) आदि सात प्रकार के धन शुक्ल (White Money) कहलाते हैं। इन साधनों से धन की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला उद्योग भी सात्त्विक होता

है। यहां किसी प्रकार के दुराव-छिपाव के लिए अवकाश ही नहीं है।

कुसीदकृषिवाणिज्यशुल्कशिल्पानुवृत्तिभिः।
कृतोपकारादाप्तं च शबलं समुदाहृतम्॥ 46॥

निम्नोक्त सात साधनों से प्राप्त धन शबल—न शुक्ल, न श्याम (Neither White, nor black)—मध्यम कोटि का कहलाता है—1. ब्याज, 2. कृषि, 3. व्यापार, 4. शुल्क-काम करने का निर्धारित एवं निश्चित पारिश्रमिक (Fee), 5. शिल्प-मूर्ति, चित्र तथा स्थापत्य आदि उपयोगी कलाओं के विक्रय से प्राप्त धन, 6. सेवा-चाकरी तथा 7. उपकृत व्यक्ति द्वारा उऋण होने के लिए उपहार के रूप में समर्पित धन।

उत्कोचद्यूतदौत्यार्तिप्रतिरूपकसाहसैः।
व्याजेनोपार्जितं यच्च कृष्णं हि तदुदाहृतम्॥ 47॥

निम्नोक्त सात साधनों द्वारा प्राप्त धन काला धन कहलाता है—1. घूस, 2. द्यूतक्रीड़ा, 3. दूतकर्म, 4. दूसरों का मन दुखाकर एवं उन्हें पीड़ा पहुंचाकर उनसे बलपूर्वक छीना गया, 5. चोरी, 6. डकैती तथा 7. छल-कपट, धोखाधड़ी।

तेन क्रयो विक्रयश्च दानं ग्रहणमेव च।
विविधाश्च प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सम्भोग एव च॥ 48॥

संसार में सभी कार्य—क्रय-विक्रय, दान-प्रतिग्रह के अतिरक्त अन्यान्य नाना प्रकार के उपभोग—इन्हीं तीन शुक्ल, शबल तथा श्याम प्रकार के धनों से ही सम्पन्न होते हैं।

यथाविधेन द्रव्येण यत्किञ्चित् कुरुते नरः।
तथाविधमवाप्नोति सफलं प्रेत्य चेह च॥ 49॥

इन तीनों—शुक्ल, शबल और कृष्ण—प्रकार के धनों में जिस प्रकार के धन से व्यक्ति शुभाशुभ कार्य करता है, उसे इस लोक में तथा परलोक में उसी प्रकार का फल मिलता है। अभिप्राय यह है कि शुद्ध ढंग से कमाये धन से शुभकर्मों का उत्तम फल और दूसरे धनों से किये कर्मों का मध्यम या अधम फल मिलता है।

तत्पुनर्द्वादशविधं प्रतिवर्णाश्रयात्स्मृतम्।
साधारणं स्यात्त्रिविधं शेषं नवविधं विदुः॥ 50॥

धन के ये तीनों—शुक्ल, शबल और कृष्ण—रूप चारों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—वर्णों के सन्दर्भ में बारह प्रकार के हो जाते हैं। धन के उपर्युक्त तीन रूप-भेद तो सामान्य हैं, अर्थात् चारों वर्णों के लोग सामान्य रूप से धन के अर्जन में शुक्ल, शबल और कृष्ण साधनों का प्रयोग-उपयोग करते हैं। अतः धन के ये तीन सामान्य अथवा साधारण रूप-भेद हैं, परन्तु नौ रूपों में दो की विशेष स्थिति है। उदाहरणार्थ, सामान्यतः ब्राह्मण और क्षत्रिय केवल शुक्ल धन को, वैश्य

शुक्ल और शबंल धन को और शूद्र शुक्ल, शबल तथा कृष्ण धन को अर्जित करते हैं। इसके अतिरिक्त इन चारों वर्णों में उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के प्राणी पाये जाते हैं। उत्तम प्रकृति के प्राणी शुक्ल धन को, मध्यम प्रकृति के व्यक्ति शबल धन को तथा अधम प्रकृति के प्राणी कृष्ण धन को वरीयता देते हैं तथा इनके अर्जन में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार धन के बारह रूप-भेद—चारों वर्णों के उत्तम, मध्यम प्रकृति के प्राणी—हो जाते हैं।

क्रमागत प्रीतिदायः प्राप्तं च सहभार्यया।
अविशेषेष वर्णानां सर्वेषां त्रिविधं शुभम्॥ 51॥

तीन प्रकार के सामान्य अथवा साधारण धन का परिचय स्मृतिकार के अनुसार इस प्रकार है—निम्नोक्त तीनों धन सभी वर्णों और जातियों के लोगों के लिए समान रूप से शुद्ध हैं—

1. उत्तराधिकार के रूप में पितामह-पिता आदि से प्राप्त धन।

2. किसी भी सम्बन्धी, मित्र अथवा राजा (प्रशासन) द्वारा अपनी प्रसन्नता से दान, उपहार, पुरस्कार व पारितोषिक आदि के रूप में प्रदत्त धन तथा

3. विवाह के समय पत्नी के साथ दहेज के रूप में प्राप्त धन।

वैशेषिक धनं ज्ञेयं ब्राह्मणस्य शुभं त्रिधा।
प्रतिग्रहेण यल्लब्धं याज्यतः शिष्यतस्तथाः॥ 52॥

विशेष रूप से ब्राह्मण के लिए निम्नोक्त तीन प्रकार का धन शुद्ध कहलाता है।

1. दान से प्राप्त धन।

2. पौरोहित्य—यज्ञ-यागादि सम्पन्न कराने पर दक्षिणा के रूप में प्राप्त धन तथा

3. अध्यापन-कार्य से वेतन, शुल्क अथवा गुरुदक्षिणा के रूप में प्राप्त धन।

त्रिविधं क्षत्रियस्यापि शुद्धं वैशेषिकं धनम्।
कराद् युद्धोपलब्धं च दण्डाश्च व्यवहारतः॥ 53॥

क्षत्रिय (राजा) का भी निम्नोक्त तीन साधनों से प्राप्त धन शुद्ध होता है।

1. कर वसूली से प्राप्त धन।

2. युद्ध में विजय होने पर हस्तगत शत्रु की सम्पत्ति तथा

3. नियम का अतिक्रमण करने वाले एवं व्यवहार में पराजित होने वालों को अनुशासित करने के लिए उन पर लगाये अर्थ-दण्ड की वसूली से प्राप्त धन।

वैशेषिकं धनं ज्ञेयं वैश्यस्यापि त्रिधा शुभम्।
कृषिगोरक्षवाणिज्यैः शूद्रस्यैषामनुग्रहात्॥ 54॥

वैश्य का भी निम्नोक्त तीन साधनों से प्राप्त धन शुद्ध कहलाता है।

1. कृषि द्वारा—अनाज, फल, सब्ज़ी, आदि की बिक्री से—अर्जित धन।

2. पशु-पालन—दूध, दही, मक्खन, घी आदि की बिक्री—से प्राप्त धन तथा
3. व्यापार से अर्जित लाभ।

इसी प्रकार तीनों वर्णों के लोगों द्वारा अपनी प्रसन्नता से शूद्र को दिया गया धन भी शुद्ध होता है।

सर्वेषामेव वर्णानामेव धर्म्यो धनागमः।
विपर्ययादधर्म्यः स्यान्न चेदापद् गरीयसी॥ 55॥

सभी वर्णों के लोगों द्वारा धर्मसम्मत साधनों से अर्जित धन को शुक्ल धन समझना चाहिए। धर्म-विरुद्ध साधनों से अर्जित धन ही काला धन है। आपत्काल को छोड़कर कभी अनुचित साधनों से धन के अर्जन की नहीं सोचना चाहिए। आपत्ति में जीवन की रक्षा का प्रश्न प्रमुख हो जाता है, अतः उस समय की छूट को अपवाद ही समझना चाहिए।

आपत्स्वनन्तरा वृत्तिर्ब्राह्मणस्य विधीयते।
वैश्यवृत्तिस्ततश्चोक्ता न जघन्या कथञ्चन॥ 56॥

आपत्काल में ब्राह्मण को अपनी वृत्ति से निर्वाह न होने पर क्षत्रियों द्वारा अपनायी जाने वाली वृत्ति को और उससे भी निर्वाह सम्भव न होने पर वैश्यवृत्तियों को अपनाना चाहिए, परन्तु किसी भी स्थिति में शूद्रवृत्ति को कभी नहीं अपनाना चाहिए; क्योंकि ब्राह्मण के लिए शूद्रवृत्ति अत्यन्त निकृष्ट है।

न कथञ्चन कुर्वीत ब्राह्मणः कर्म वार्षलम्।
वृषलः कर्म न ब्राह्मं पतनीये हि ते तयोः॥ 57॥

जिस प्रकार ब्राह्मण के लिए शूद्रकर्म सर्वथा वर्जनीय है, उसी प्रकार शूद्र के लिए ब्राह्मणवृत्ति भी सर्वथा अनुचित है। इन दोनों के लिए एक-दूसरे की वृत्ति को अपनाना दोनों के पतन का कारण बनता है।

उत्कृष्टं चापकृष्टं च तयोः कर्म न विद्यते।
मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हि ते॥ 58॥

संकटकाल में शूद्र के लिए क्षत्रियवृत्ति को तथा ब्राह्मण के लिए वैश्यवृत्ति अपनाने को न तो उत्कृष्ट स्थिति कहा जा सकता है और न ही निकृष्ट स्थिति कहा जा सकता है; क्योंकि इससे नीचे उतरना तो किसी प्रकार उचित ही नहीं है, अर्थात् ब्राह्मण शूद्रवृत्ति को तो किसी भी रूप में नहीं अपना सकता और न ही शूद्र के लिए ब्राह्मणवृत्ति को अपनाना उचित है। अभिप्राय यह है कि पहले तो आवश्यकता पड़ने पर भी ब्राह्मण को क्षत्रियवृत्ति तक सीमित रहना चाहिए, परन्तु उतने से काम न चलने पर विवशता की स्थिति में वैश्यवृत्ति को अपनाना उचित है। इसी प्रकार शूद्र को प्रथम तो वैश्यवृत्ति और इससे काम न चलने पर क्षत्रियवृत्ति को अपनाना चाहिए। इस प्रकार ये दोनों स्थितियां—ब्राह्मण का वैश्यवृत्ति को अपनाना तथा शूद्र

द्वारा क्षत्रियवृत्ति को अपनाना—विवशता की और अस्थायी स्थितियां हैं। अतः न तो ब्राह्मण द्वारा अपनायी वैश्यवृत्ति को निकृष्ट और शूद्र द्वारा अपनायी क्षात्रवृत्ति को उत्कृष्ट माना जा सकता है।

आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्यर्जितैर्धनैः।
उत्सृजेत् क्षत्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः॥ 59॥

संकट के दूर होते ही ब्राह्मण को अस्थायी रूप से अपनायी क्षात्रवृत्ति का तत्काल परित्याग कर देना चाहिए। इतना ही नहीं, इसके लिए ब्राह्मण को प्रायश्चित्त भी करना चाहिए। प्रायश्चित्त करने पर ही ब्राह्मण पवित्र होता है।

तस्यामेव तु यो वृत्तौ ब्राह्मणो रमते सदा।
काण्डपृष्ठश्च्युतो मार्गादपाङ्क्तेयः प्रकीर्त्तितः॥ 60॥

संकट के टल जाने पर भी लोभवश क्षात्रवृत्ति अथवा वैश्यवृत्ति से चिपटा रहने वाला ब्राह्मण 'काण्डपृष्ठ' कहलाता है। ऐसा ब्राह्मण आचारभ्रष्ट माना जाता है और ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने के अधिकार से च्युत हो जाता है।

वैश्यवृत्या चाविक्रेयं ब्राह्मणस्य पयो दधि।
घृतं मधु मधुच्छिष्टं लाक्षाक्षाररसासवाः॥ 61॥
मांसौदनतिलक्षौमसोमपुष्पफलोपलाः।
मनुष्यविषशस्त्राम्बुलवणापूपवीरुधः॥ 62॥
चैलकौशेयचर्मास्थिकुतवैकशफा मृदः।
उदश्वित्कुशपिण्याकशाकार्द्रौषधयस्तथा॥ 63॥

विशेष संकट की स्थिति में वैश्यवृत्ति को अपनाने को विवश हुए ब्राह्मण को निम्नोक्त वस्तुओं का क्रय-विक्रय कभी नहीं करना चाहिए—दूध, दही, घृत, मधु, सोम, लाख, गुड़, क्षार, सुरा, मांस, अन्न, तिल, कौशेय वस्त्र, पुष्प, फल, रत्न आदि पाषाण, मनुष्य (दास), विष, शस्त्र, जल, नमक, जड़ी-बूड़ी, वस्त्र, चर्म, अस्थि, कम्बल, एक खुर वाले पशु—अश्व, गर्दभ आदि—मिट्टी के बरतन, मट्ठा, कुश, खली तथा गीली औषधि आदि।

ब्राह्मणस्य तु विक्रेयं शुष्कं दारु तृणानि च।
गन्धद्रव्यैरकावेत्रतूलमूलकुशादृते॥ 64॥

वैश्यवृत्ति को अपनाने वाले ब्राह्मण को सुगन्धित द्रव्य, एरका घास, बेंत, तूल (कपास), मूल (मूली, आलू, गाजर आदि) और कुश आदि का क्रय-विक्रय भी नहीं करना चाहिए। हां, वह सूखी लकड़ियों और घास को बेचने को अवश्य स्वतन्त्र है।

स्वयं शीर्णं च विदलं फलानां बदरेङ्गुदे।
रज्जु कार्पासिकं सूत्रं तच्चेदविवृतं भवेत्॥ 65॥

संकटकाल में वैश्यवृत्ति को अपनाने को विवश हुआ ब्राह्मण निम्नोक्त पदार्थों का क्रय-विक्रय कर सकता है—1. शीर्ण होने से स्वयं वृक्ष से पतित पत्र, 2. बेर, 3. इंगुदिका नामक फल, 4. रज्जु तथा 5. खादी से बुने गये सूती वस्त्र आदि।

अशक्तौ भेषजस्यार्थे यज्ञहेतोस्तथैव च।
यद्यवश्यं तु विक्रेयास्तिला धान्येन तत्समाः॥ 66॥

संकटकाल में वैश्यवृत्ति को अपनाने को बाध्य बाह्मण उपर्युक्त पदार्थों के अतिरिक्त किसी असमर्थ रोगी के उपचार के लिए उपेक्षित जड़ी-बूटी अथवा उनसे तैयार लेप, चूर्ण, रस आदि तथा यज्ञ-यागादि के लिए अपेक्षित तिल, धान्य आदि अथवा अन्य यज्ञ-सामग्री—इन पदार्थों को अवश्य ही बेचना चाहिए। इसमें उसे किसी प्रकार की लज्जा-संकोच आदि का अनुभव नहीं करना चाहिए।

अविक्रेयाणि विक्रीणन् ब्राह्मणः प्रच्युतः पथः।
मार्गे पुनरवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा॥ 67॥

न बेचने योग्य वस्तुओं को लोभवश बेचने को प्रस्तुत ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व से पतित हो जाता है। राजा को ऐसे पथभ्रष्ट, आचार-च्युत ब्राह्मण को अपने वर्ण-जाति एवं वृत्ति में पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए यथोचित रूप से प्रचुर दण्ड देने में भी संकोच नहीं करना चाहिए।

सामान्यतः ब्राह्मण राजा के दण्ड-विधान की परिधि से बाहर है, अर्थात् राजा के लिए ब्राह्मण को दण्डित करना निषिद्ध है, परन्तु आचारभ्रष्ट ब्राह्मण ब्राह्मण ही नहीं रहता। पतित, भ्रष्ट व्यक्ति तो शूद्र ही होता है, अतः ऐसे ब्राह्मण को राजा द्वारा दण्ड देना शास्त्रसम्मत है। यह तो धर्म और न्याय की रक्षा करने के समान पवित्र कार्य है।

प्रमाणानि प्रमाणस्थैः परिकल्प्यानि यत्नतः।
सौदन्ति हि प्रमेयाणि प्रमाणैरव्यवस्थितैः॥ 68॥

पथभ्रष्ट ब्राह्मण को अनुशासित करने के लिए राजा द्वारा दण्ड देने के औचित्य के सम्बन्ध में स्मृतिकार की मान्यता है कि यदि इस सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाण उपलब्ध न भी हो, तो भी ऐसा करने के लिए प्रमाणों की योजना कर लेनी चाहिए; क्योंकि प्रमाणों के अभाव की दुहाई देकर अनुशासन और व्यवस्था की उपेक्षा करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं माना जाता। इससे व्यवस्था दूषित हो जाती है और समाज को ग़लत संकेत मिलने लगते हैं। अतः औचित्य की स्थापना के लिए प्रमाणों की उपेक्षा करना अथवा प्रमाणों के अभाव में सुधार का प्रयास न करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं।

लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।
धनस्त्रीकरणे येन धनी धनमवाप्नुयात्॥ 69॥

धन-सम्पत्ति के स्वामित्व के साधक तीन प्रमाण हैं—1. लिखित (दस्तावेज़), 2. साक्षी तथा, 3. भुक्ति-कब्ज़ा। किसने, कब, कहां और कैसे विचारणीय सम्पत्ति को प्राप्त किया है, इसका निर्णय इन्हीं तीन प्रमाणों के आधार पर किया जाता है।

नाकरिष्यद्यदा स्त्रष्टा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः॥ 70॥

यदि विश्वनियन्ता परमपिता परमेश्वर ने मनुष्यों को उत्तम ज्ञानेन्द्रिय चक्षु प्रदान न की होती, तो मनुष्य न कुछ देख पाता और न ही कुछ लिख पाता, अर्थात् अपने प्रत्यक्ष अनुभव को स्थायी रूप से सुरक्षित कर ही नहीं पाता, जिसका अर्थ लिखित प्रमाण की अनुपलब्धि होता। इससे संसार का कल्याण न हो पाता। सब से अधिक विश्वस्त एवं प्रामाणिक लिखित प्रमाण के अनुपलब्ध होने से व्यवहार सुलझ न पाते तथा सन्देह की स्थिति और अव्यवस्था का प्रसार हो जाता। अभिप्राय यह है कि लोगों को विधाता की इस देन के लिए विधाता के प्रति चिर-कृतज्ञता का भाव रखना चाहिए।

देशकालफलद्रव्यप्रमाणावधिनिश्चये।
सर्वसन्देहविच्छेदि लिखितं चक्षुरुत्तमम्॥ 71॥

देश—किसने, किस स्थान पर दिये-लिये, **काल**—कब, किस वर्ष, मास, दिन, तिथि को दिये-लिये, **फल**—क्यों लिया-दिया, अर्थात् आवश्यकता एवं प्रयोजन आदि, **द्रव्य**—लेन-देन की वस्तु-विशेष, **प्रमाण**—स्वरूप, आकार-प्रकार, भार, (वज़न) स्थूलता, लम्बाई-चौड़ाई आदि तथा **अवधि**—परिस्तिथियों तथा शर्तों आदि का एकमात्र निश्चित प्रमाण जुटाने वाला साधन चक्षु है। यह सभी सन्देहों का निवारक तथा विवादों का समापक एवं निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचाने वाला पूर्णतया विश्वसनीय साधन है। अतः इसे व्यक्ति को विधाता की उत्तम देन मानना सर्वथा उपयुक्त ही है।

गृहीत्वापि स्थले द्रव्यं योऽपह्नवितुमिच्छति।
स्थापितः साक्षिभिर्मार्गे स दुःसाध्योऽपि साध्यते॥ 72॥

यदि स्थान-विशेष पर लिये गये किसी पदार्थ को हड़पने की इच्छा वाला व्यक्ति मुकर जाता है, तो इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए उस स्थान पर उपस्थित साक्षियों की सहायता लेनी पड़ती है, परन्तु प्रायः यह सहज साध्य कार्य नहीं होता; क्योंकि वस्तु देते समय साक्ष्य की आवश्यकता पड़ने की सम्भावना पर विचार ही नहीं किया जाता। अतः साक्षियों की उपस्थिति हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यही कारण है कि इसे दुःसाध्य कार्य माना जाता है; क्योंकि यदि साक्षियों के समक्ष कुछ हुआ ही नहीं, तो साक्ष्य कहां से जुटाया जायेगा? फिर यह भी निश्चित नहीं है कि साक्षी जीवित होंगे, उसी स्थान पर रह रहे होंगे तथा उन्हें सब कुछ यथावत् स्मरण भी होगा।

लिखितं स्याद् बहुच्छिद्रं साक्षिणो नाजरामराः।
भुक्तिस्त्वनर्थसम्बद्धा सन्ततैर्वार्थसाधकी॥ 73॥

किसी भी व्यवहार के निर्णय में तीन प्रमाण सहायक सिद्ध होते हैं— 1. लिखित पत्र (दस्तावेज़) 2. प्रत्यक्षदर्शियों का साक्ष्य तथा 3. भुक्ति। ये तीनों प्रमाण भी सर्वथा निर्दोष नहीं। उदाहरणार्थ, लिखित प्रमाण में कई ग़लतियां हो सकती हैं तथा लिखित लेख के भिन्न-भिन्न अर्थ निकाले जा सकते हैं। साक्षी भी अजर-अमर नहीं हैं, वे भी बूढ़े होकर स्मरणशक्ति खोने वाले हो सकते हैं, मर भी सकते हैं। यही स्थिति क़ब्ज़े की भी है, क़ब्ज़ा अधिकृत भी हो सकता है, अनधिकृत भी। Might is Right, यानी 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' उक्तियां सत्य सिद्ध हो सकती हैं। इस प्रकार प्रयोजन की सिद्धि में इन तीनों पर सदैव निर्भर नहीं रहा जा सकता। बेईमान व्यक्ति तो सभी साधनों को धता बता देता है।

तदेतत्त्रिविधं ज्ञेयं प्रमाणाय न साधितम्।
सन्देहमागतमपि धनी धनमवाप्नुयात्॥ 74॥

स्वामित्व के सम्बन्ध में सन्देह तथा अनिश्चय की स्थिति में किसी भी प्रमाण को न जुटा पाने पर स्वामी द्वारा विवादित धन-सम्पत्ति को पाना अवश्य सम्भव नहीं होता, परन्तु तीन—लिखित, साक्ष्य तथा भुक्ति-प्रमाणों—में से किसी एक प्रमाण के भी मिल जाने पर प्राप्ति की सम्भावना बन ही जाती है। आवश्यकता केवल प्रमाण के मिलने की नहीं होती, अपितु उस प्रमाण का पुष्ट होना भी अत्यावश्यक होता है।

लिखितं बलवन्नित्यं जीवन्तश्चैव साक्षिणः
कालातिहरणाद् भुक्तिरिति शास्त्रविनिश्चयः॥ 75॥

शास्त्र की यह व्यवस्था है कि लिखित प्रमाण सर्वदा एवं सर्वथा सभी अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक बलवान् होता है। यदि साक्षी जीवित हैं और उनकी स्मरणशक्ति अक्षुण्ण है, तो उनकी आंखों के सामने घटी घटना का उनके द्वारा यथावत् वर्णन भी एक प्रकार से निश्चित प्रमाण है। इसी प्रकार पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर भुक्ति—भोगा जाना, प्रयोग में आना, अर्थात् क़ब्ज़ा होना—भी एक असन्दिग्ध प्रमाण है। इन तीनों प्रमाणों की अपनी एक निश्चित सार्थकता है। यह पूर्णतः शास्त्रसम्मत है।

त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्।
पूर्वं-पूर्वं गुरुं ज्ञेयं भुक्तिस्तेभ्यो गरीयसी॥ 76॥

यद्यपि इन तीनों—लिखित, साक्ष्य एवं भुक्ति—प्रमाणों में पूर्व-पूर्व, अर्थात् भुक्ति की अपेक्षा साक्ष्य और साक्ष्य की अपेक्षा लिखित अधिक बलवान् है, तथापि भुक्ति की कोई तुलना नहीं। जो सम्पत्ति जिसके अधिकार में है, जो उसका उपभोग कर रहा है, उसके स्वामित्व में सन्देह कैसा?

टिप्पणी—लोक में उक्ति प्रचलित है—'क़ब्ज़ा सच्चा, झगड़ा झूठा।' इसी प्रकार बारह वर्षों तक किसी सम्पत्ति के अबाध उपभोग करने वाले को भारतीय संविधान भी स्वामित्व का अधिकार देता है। भले ही उसने वह सम्पत्ति न ख़रीदी हो और न ही उत्तराधिकार में पायी हो, फिर भी यदि बारह वर्षों तक अथवा उससे अधिक समय तक उस सम्पत्ति पर अपना क़ब्ज़ा सिद्ध कर देता है, तो वह उसका वास्तविक स्वामी बन जाता है।

विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु।
विशेषतः स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत् स्थिरम्॥ 77॥

लिखित प्रमाण और साक्षियों के जीवित होने, अर्थात् साक्ष्य उपलब्ध होने पर भी जिस अचल सम्पत्ति पर व्यक्ति का क़ब्ज़ा नहीं है, अर्थात् जो दूसरे के अधिकार में है, उस सम्पत्ति का स्वामी होते हुए भी व्यक्ति सच्चे अर्थों में स्वामी नहीं होता; क्योंकि वह उस सम्पत्ति को न बेच सकता है, न बन्धक रख सकता है और न ही उसका स्वयं उपयोग कर सकता है। इससे सिद्ध होता है कि सच्चा स्वामित्व तो क़ब्ज़ा है और वही सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है। जिस अचल सम्पत्ति पर अपना क़ब्ज़ा नहीं, उसे अपनी मानना ही नहीं चाहिए।

भुज्यमानान् परैरर्थान् यः स्वान्मौर्ख्यादुपेक्षते।
समक्षं जीवितोऽप्यस्य तान् भुक्तिः कुरुते वशे॥ 78॥

दूसरों द्वारा अपनी सम्पत्ति के उपभोग-उपयोग की उपेक्षा न करने, अर्थात् दूसरों को अपनी सम्पत्ति का उपयोग न करने देने का परामर्श देते हुए स्मृतिकार कहता है—दूसरों को अपनी सम्पत्ति का उपयोग करते देखकर उसे गम्भीरता से न लेना, उसकी उपेक्षा करना, अर्थात् उन्हें अपनी स्थायी अचल सम्पत्ति का उपयोग करने देना बहुत बड़ी मूर्खता है, जिसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है। ऐसा व्यक्ति अपने जीवनकाल में ही अपनी सम्पत्ति पर अपने स्वामित्व को गंवा बैठता है। सब प्रकार के प्रमाणों के रहते हुए भी उसकी सम्पत्ति उपभोक्ता के हाथ में चली जाती है। अतः किसी भी प्रकार से व्यक्ति को अपनी अचल सम्पत्ति पर किसी दूसरे को, किसी भी प्रकार से क़ब्ज़ा नहीं करने देना चाहिए।

यत् किञ्चिद्दशवर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति॥ 79॥

अपने सामने अपनी सम्पत्ति का दूसरों को उपभोग करता देखकर भी निरन्तर दस वर्षों तक मौन रहने वाले, अर्थात् उसे न रोकने-टोकने वाले और न ही किसी प्रकार की कोई आपत्ति दर्ज कराने वाले व्यक्ति का उस सम्पत्ति पर से स्वामित्व स्वतः ही निरस्त हो जाता है। उसके स्थान पर सम्पत्ति के उपभोग करने वाले का उस सम्पत्ति पर नैतिक स्वामित्व स्थापित हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति अपनी अचल सम्पत्ति पर अपना अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहता है, तो सर्वप्रथम उसे किसी दूसरे व्यक्ति को उस सम्पत्ति के उपभोग की अनुमति ही नहीं देनी चाहिए और यदि किसी ने बलपूर्वक अधिकार कर लिया है, तो उसके विरुद्ध नैतिक एवं क़ानूनी कार्यवाही करनी चाहिए। अपनी सम्पत्ति पर दूसरों के अधिकार को उपेक्षणीय विषय नहीं समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में की गयी उपेक्षा का परिणाम सम्पत्ति से हाथ धो बैठना होता है।

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्धनमर्हति॥ 80॥

अचल सम्पत्ति के स्वामी के अवयस्क तथा अजड़ (अविकसित मस्तिष्क) न होने पर, उसकी जानकारी में उसकी सम्पत्ति का उपभोग करने वाला दूसरा व्यक्ति उस सम्पत्ति का पक्का एवं सच्चा स्वामी बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि यदि अचल सम्पत्ति का स्वामी बालक है अथवा मन्दबुद्धि है, तो उसकी सम्पत्ति का दूसरों द्वारा उपभोग किये जाने पर भी क़ानून मूल स्वामी के अधिकार को संरक्षण प्रदान करता है; क्योंकि क़ानून अनुचित लाभ उठाने की अनुमति कदापि नहीं देता। इसके विपरीत स्वामी के पूर्ण युवा तथा सामान्य बुद्धि का होने पर, यदि वह अपनी सम्पत्ति का दूसरों द्वारा उपयोग किया जाता देखकर भी मौन रहता है, उपेक्षा का भाव दिखाता है अथवा विरोध प्रदर्शन नहीं करता है, तो निश्चित है कि उसे उस सम्पत्ति में कोई रुचि नहीं। ऐसे व्यक्ति का अपनी सम्पत्ति पर स्वामित्व निरस्त हो जाता है और वह सम्पत्ति उपभोक्ता के स्वामित्व में चली जाती है।

टिप्पणी—वररुचि ने विकलांग को भी जड़ मानते हुए उसे संरक्षण प्रदान किया है। उनके अनुसार क़ानून को विकलांग की सम्पत्ति के दूसरे व्यक्ति द्वारा उपभोग को कभी मान्यता नहीं देनी चाहिए—

शरीरपाणिचरणैर्निसर्गेणशरीरिणः ।
विकलाः सद्भिरुच्यन्ते पोगण्डकुणिपुंगवः॥

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधी स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न भोगेन प्रणश्यति॥ 81॥

निम्नोक्त स्थितियों में दूसरों द्वारा अचल सम्पत्ति का उपभोग किये जाने पर भी उस पर मूल स्वामी का स्वामित्व निरस्त नहीं होता—

1. बन्धक रखी गयी सम्पत्ति किसी भी समय—यदि अवधि निर्धारित नहीं की गयी, तो ऋण को चुकता कर—छुड़ायी जा सकती है। ऐसी सम्पत्ति अवधि के निर्धारित होने और उसके बीत जाने पर भी, सम्पत्ति पर मूल स्वामी का स्वामित्व समाप्त नहीं हो जाता। हां, जुर्माना चुकाना पड़ता है, परन्तु स्वामित्व बना रहता है।

2. आक्रमण एवं बल प्रयोग द्वारा छीनी गयी सम्पत्ति—शक्ति सञ्चित होने पर पुनः अपने अधिकार में की जा सकती है।

3. बालक की सम्पत्ति—वयस्क होने पर व्यक्ति क़ानून की सहायता से अपनी सम्पत्ति को वापस ले सकता है।

4. निक्षेप, अर्थात् धरोहर के रूप में रखी सम्पत्ति को भी मूल स्वामी किसी भी समय अपने अधिकार में लेने को स्वतन्त्र होता है।

5. उपनिधि, अर्थात् अमानत में की गयी ख़यानत—हेराफेरी-बेईमानी—अर्थात् धूर्तता से कुछ भाग को अपने अधिकार में कर लेना और उस धूर्तता की कुछ समय उपरान्त जानकारी होना। इस प्रकार की सम्पत्ति को भी क़ानून की सहायता से वापस पाया जा सकता है।

6. स्त्रीधन, अर्थात् पति, पिता, भ्राता आदि निकट सम्बन्धियों द्वारा अपनी प्रीति से दिये धन पर केवल उस धन को पाने वाली स्त्री का ही एकाधिकार होता है। उस स्त्रीधन को अथवा ऋण पाने के लिए पति द्वारा बन्धक के रूप में रखी स्त्री को भी मूल स्वामी को वापस पाने का अधिकार होता है।

7. राजस्व, अर्थात् भू-सम्पदा—आवास, भू-खण्ड अथवा कृषिक्षेत्र आदि पर भी उपभोक्ता सदा के लिए अपना अधिकार नहीं जमा सकता।

8. श्रोत्रिय द्रव्य, अर्थात् यज्ञ-यागादि कराने वाले ब्राह्मण द्वारा दक्षिणा के रूप में प्राप्त गायों अथवा स्वर्ण आदि का अपहर्ता भी अपना अधिकार स्थिर नहीं रख पाता।

उपर्युक्त आठ सम्पत्तियों का दूसरा व्यक्ति कितने समय तक भी उपयोग-उपभोग क्यों न कर ले, परन्तु वह उनका स्वामी कभी नहीं बन सकता। इस वस्तुओं पर मूल स्वामी का स्वामित्व अक्षुण्ण बना रहता है।

प्रत्यक्षपरिभोगात्तु स्वामिनो द्विदशाः समाः।
आध्यादीन्यपि जीर्यन्ते स्त्रीनरेन्द्रधनादृते॥ 82॥

दोनों—स्त्रीधन, स्त्री के निजी अधिकार का धन अथवा स्त्री-रूपी धन—तथा राजा की धन—सम्पत्तियों को छोड़कर शेष अन्य सभी सम्पत्तियों का प्रत्यक्ष रूप से निरन्तर बीस वर्षों से अधिक अवधि तक उपयोग-उपभोग करने वाला उन सम्पत्तियों का स्वामी बन जाता है।

टिप्पणी—यहां दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—**प्रथम,** स्त्रीधन और सरकारी धन तो सदैव मूल स्वामी का ही रहता है, भले ही दूसरा इनका उपयोग-उपभोग कितने ही समय से क्यों न करता आ रहा हो।

द्वितीय, अन्य सम्पत्तियों पर उपभोक्ता के अधिकारी बनने के लिए दो शर्तें

रखी गयी हैं—1. उपभोग की अवधि बीस वर्ष अथवा उससे अधिक होनी चाहिए तथा 2. उपभोग सर्वजनविदित होना चाहिए, गुप्त रूप से किया गया क़ब्ज़ा मान्य नहीं होता।

यहां इस तथ्य को विस्मरण नहीं करना चाहिए कि प्राचीनकाल में स्त्री को भी—पुरुष, पिता, पति आदि का—निजी धन माना जाता था। उसका स्वामी उसे बन्धक रखने, बेचने, दांव पर लगाने आदि को स्वतन्त्र था। स्त्री का कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं था, वह अपने स्वामी के आदेश का पालन करने को बाध्य थी। उसकी स्थिति पशु अथवा दास के समान ही थी। ऐसा केवल हिन्दू धर्म में ही नहीं था, अन्य धर्मों में भी यही कुछ है। इस्लाम के अनुसार तो वह 'जिंस' (Property) है, उसमें रूह (आत्मा) तो है ही नहीं।

इसी सन्दर्भ में स्मृतिकार का मन्तव्य दर्शनीय है।

स्त्रीधनं च नरेन्द्राणां न कथञ्चन जीर्यते।
अनागमं भुज्यमानं वत्सराणां शतैरपि॥ 83॥

दोनों—स्त्रीधन और राजकीय सम्पत्ति (भूमि, भवन आदि)—का निरन्तर प्रत्यक्ष रूप से सौ वर्षों तक भोग करने वाला व्यक्ति भी उनका स्वामी नहीं बन पाता। हां, इस सम्बन्ध में यदि किसी प्रकार का कोई लिखित अनुबन्ध (Agreement) कर लिया जाता है, तो स्थिति भिन्न हो जाती है, अर्थात् तब उपभोक्ता स्वामित्व प्राप्त कर लेता है।

सम्भोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न भोगस्तत्र कारणम्॥ 84॥

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्मृतिकार का कथन है—जिस सम्पत्ति पर उपभोक्ता का क़ब्ज़ा तो है, परन्तु उसके पास किसी प्रकार का कोई लिखित दस्तावेज़ नहीं है, तो उस स्थिति में भोग (क़ब्ज़ा) को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता; क्योंकि लिखित अनुबन्ध ही स्वामित्व का मूल-आधार है, क़ब्ज़ा नहीं। ऐसा व्यक्ति अनिश्चित अवधि तक सम्पत्ति का उपभोग करता रह सकता है, परन्तु स्वामी होने का अधिकार कभी नहीं पा सकता।

आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम्।
अविशुद्धागमो भोगः प्रामाण्यं नैव गच्छति॥ 85॥

लिखित प्रमाण (दस्तावेज़) भी तभी मान्य होता है, जब वह पूर्णतः विशुद्ध हो, अर्थात् लेने-देने वालों के नाम, पिता का नाम, पता-ठिकाना, सम्पत्ति का विवरण, देने की तिथि, दिन, मास और वर्ष, बदले में लिया-दिया धन एवं शर्तें आदि सब कुछ का उल्लेख हो और लेन-देन करने वाले स्वस्थ मस्तिष्क की स्थिति में हों तथा लेन-देन बिना किसी दबाव, विवशता और नशे में किया गया

हो। इसके अतिरिक्त दस्तावेज़ साक्षियों द्वारा समर्थित और सरकारी अधिकारी द्वारा सत्यापित होना चाहिए। उपर्युक्त सभी कुछ न लिये रहने वाला दस्तावेज़ पूर्णतः विशुद्ध न होने से प्रामाणिक नहीं कहलाता। शुद्ध दस्तावेज़ होने पर ही सम्पत्ति का स्वामित्व वैध बन पाता है।

भोगं केवलतो यस्य कीर्त्तयेन्नागमः क्वचित्।
भोगच्छलापदेशेन स विज्ञेयस्तु तस्करः ॥ 86 ॥

जिस सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा तो है, परन्तु क़ाबिज़ के पास उस सम्पत्ति के ख़रीदने अथवा उपहार में पाने अथवा पैतृक होने अथवा बन्धक या धरोहर होने आदि का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, तो सम्पत्ति पर अपने स्वामित्व का दावा करने वाले व्यक्ति को चोर ही समझना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि बिना किसी पक्के, विशुद्ध और सच्चे लिखित प्रमाण के ख़ाली क़ब्ज़े का कोई विशेष महत्त्व नहीं। यह तो एक प्रकार की चोरी अथवा सीनाज़ोरी है, अर्थात् दण्डनीय अपराध है। ख़ाली क़ब्ज़े के आधार पर अपने को सम्पत्ति का स्वामी सिद्ध करने वाले को तो दण्डित ही करना चाहिए।

अनागमं तु यो भुङ्क्ते बहून्यब्दशतान्यपि।
चौरदण्डेन तं पापं दण्डयेत् पृथिवीपतिः ॥ 87 ॥

राजा को बिना किसी प्रमाण के, अर्थात् स्वामी न होने पर भी अपने बल, युक्ति अथवा धूर्तता का आश्रय लेकर किसी दूसरे की सम्पत्ति पर अनुचित रूप से अपना क़ब्ज़ा जमाने वाले को चोर के लिए निर्धारित दण्ड से दण्डित करना चाहिए; क्योंकि वस्तुतः ऐसा व्यक्ति धूर्त और पापी होता है और उसे दण्ड देना न्याय की रक्षा करना है।

भुज्यतेऽनागमं यत्तु न तद् भोगपदं नयेत्।
प्रेतं तु भोक्तरि धनं याति तद्वंश्यभोग्यताम् ॥ 88 ॥

बिना किसी लिखित प्रमाण के किसी की सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करने वाला व्यक्ति तो कभी उस सम्पत्ति का स्वामी नहीं बन सकता, परन्तु उसके मर जाने पर वह सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों की ही सम्पत्ति रहती है, अर्थात् क़ब्ज़ा करने वाले व्यक्ति के मरने पर क़ब्ज़ा निरस्त नहीं हो जाता, अपितु उसके वंशस्थों को स्थानान्तरित हो जाता है।

स्मार्त्ते काले क्रियाभुक्तेः सागमाभुक्तिरिष्यते।
अस्मार्त्ते लिखिताभावे क्रमात्त्रिपुरुषागता ॥ 89 ॥

यदि किसी सम्पत्ति पर तीन पीढ़ियों तक एक ही परिवार का क़ब्ज़ा बना रहता है और उस अवधि में क़ब्ज़ा करने वालों के विरुद्ध कोई क़ानूनी कार्यवाही नहीं की जाती है, तो उस सम्पत्ति पर क़ाबिज़ों का स्वामित्व हो जाता है। यदि

वास्तविक स्वामी उस सम्पत्ति की सुध-ख़बर नहीं लेता, देखभाल नहीं करता, लिखित प्रमाण रखने पर भी सौ वर्षों तक अपनी सम्पत्ति को अपने अधिकार में नहीं लेता, तो उस लेख की वैधता समाप्त हो जाती है। उस पर क़ब्ज़ा करने वाला ही स्वामी बन जाता है।

आहर्तैर्वाभियुक्तः स्यान्नार्थानामुद्धरेत्पदम्।
भुक्तिरेव विशुद्धःस्यात् प्राप्तौ या पितृतः क्रमात्॥ 90॥

यदि किसी की सम्पत्ति पर क़ब्ज़ा करने वाले पर मूल स्वामी द्वारा अभियोग चलाया जाता है और न्यायाधिकारी निर्धारित राशि का भुगतान पाने पर उसे क़ब्ज़े को ख़ाली करने का आदेश तो सुनाते हैं, परन्तु सम्पत्ति को छुड़ाने का इच्छुक एवं वास्तविक स्वामी न्यायाधिकारी द्वारा निर्धारित अवधि में निर्दिष्ट राशि का भुगतान नहीं करता है अथवा नहीं कर पाता है और इधर क़ब्ज़ा बाप-दादा के समय से चला आ रहा है, तो वह सम्पत्ति विशुद्ध रूप से क़ब्ज़ा करने वालों के स्वामित्व में चली जाती है और फिर मूल स्वामी अपना दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता।

अभिप्राय यह है कि मूल स्वामी दूसरे के क़ब्ज़े में गयी अपनी सम्पत्ति को छुड़ाने को लिए न्यायाधिकरण की शरण लेता है, तो उसे न्यायाधिकारी द्वारा किये निर्णय का पालन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा वह सदा के लिए अपनी सम्पत्ति से हाथ धो बैठता है।

अन्यायेनापि यद्भुक्तं पितुः पूर्वस्तैरस्त्रिभिः।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमात्त्रिपुरुषागतम्॥ 91॥

अन्यायपूर्वक ही क्यों न हो, निरन्तर अविच्छिन्न रूप से पिता से भी पहले तीन-चार पीढ़ियों से चले आ रहे क़ब्ज़े को निरस्त नहीं किया जा सकता। ऐसा क़ब्ज़ा अवैध होते हुए भी वैध बन जाता है।

अभिप्राय यह है कि तीन-चार पीढ़ियों तक अपनी सम्पत्ति की उपेक्षा करने वाले, अपनी सम्पत्ति पर दूसरे के क़ब्ज़े को चुनौती न देने वाले को सम्पत्ति के स्वामित्व को बनाये रखने का कोई अधिकार ही नहीं रह जाता।

अन्वाहितं हृतं न्यस्तं बलावष्टब्धयाचितम्।
अप्रत्यक्षं च यद् भुक्तं षडेतान्यागमं बिना॥ 92॥

निम्रोक्त छह परिस्थितियों में किये गये क़ब्ज़े को भी वैधता एवं चुनौती दी जा सकती है और उसे निरस्त कराया जा सकता है—

1. किसी एक को विश्वास से दी गयी सम्पत्ति को उसके द्वारा स्वामी की अनुमति एवं जानकारी के बिना किसी अन्य को दे देना (किरायेदार द्वारा किराये के मकान, खेत आदि को किसी अन्य को किराये पर उठा देना)।

2. बलपूर्वक हरण करना।

3. धरोहर के रूप में रखी सम्पत्ति को अपनी मान लेना।

4. लुक-छिपकर चोरी से प्रयोग करना।

5. ऋण लेकर या बन्धक रखकर सम्पत्ति को न लौटाना तथा

6. मूल-स्वामी की अनुपस्थिति (बाहर गये होने पर) में प्रयोग करना।

तथारूढविवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः।
पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगपदं नयेत्॥ 93॥

अभियोग के निपटने से पूर्व वादी अथवा प्रतिवादी की मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्र को अभियोग को आगे बढ़ाना (पैरवी करनी) चाहिए। विवादित सम्पत्ति का संशोधन किये बिना क़ब्ज़े को स्वामित्व का आधार नहीं मान लेना चाहिए।

सन्तोऽपि न प्रमाणं स्युर्मृते धनिनि साक्षिणः।
अन्यत्र श्रावितात्यस्मात् स्वयमासन्नमृत्युना॥ 94॥

यदि व्यक्ति ने मरते समय अपने आस-पास बैठे व्यक्तियों की उपस्थिति में किसी के ऋण को चुकता करने की कोई बात कही है, तो उसकी मृत्यु के उपरान्त भी साक्षियों का साक्ष्य वैध होता है, अन्यथा ऋणकर्ता द्वारा किसी प्रकार की कोई स्वीकृति न किये जाने पर उसके जीवित रहते अथवा मर जाने पर साक्षियों के साक्ष्य का कोई महत्त्व नहीं होता; क्योंकि यदि सम्बद्ध व्यक्ति ने कुछ कहा ही नहीं, तो साक्षी या साक्षियों का साक्ष्य अपनी ओर से जोड़ा माना जायेगा। ऐसा साक्ष्य कभी सत्य एवं प्रामाणिक नहीं कहला सकता।

न हि प्रत्यर्थिनि प्रेते प्रमाणं साक्षिणां वचः।
साक्षिमत्कारणं तत्र प्रमाणं तत्र जीवतः॥ 95॥

साक्षियों का साक्ष्य सम्बद्ध व्यक्ति के जीवनकाल तक, अर्थात् उसके जीवित रहने तक ही मान्य रहता है। सम्बद्ध व्यक्ति के दिवंगत हो जाने पर उस व्यक्ति के कथन की पुष्टि एवं प्रामाणिकता के लिए साक्ष्य की कोई भूमिका नहीं रहती।

श्रावितश्चातुरेणापि यस्त्वर्थो धर्मसंहितः।
मृतेऽपि तत्र साक्ष्यं स्यात् षट्सु चान्वाहितादिषु॥ 96॥

यदि मृत्युशैया पर पड़े रोगी ने अपने पुत्र व पत्नी आदि की अनुपस्थिति में भी धन के लेन-देन के सम्बद्ध में कुछ कह दिया है, तो उसे धर्म-सम्मत मानना चाहिए; क्योंकि मरणासन्न व्यक्ति के मुख से कभी मिथ्या वचन नहीं निकलता। सम्बद्ध व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त उसका वक्तव्य अन्तिम प्रमाण होता है। इस तथ्य का छह स्थानों पर परीक्षण किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि साक्षियों से छह ढंग से घुमा-फिरा कर, प्रश्नों की झड़ी लगाकर पूछना चाहिए और इस तथ्य को सुनिश्चित करना चाहिए कि साक्षी मृत व्यक्ति के कथन को यथावत् उद्धृत कर रहे हैं, अपनी ओर से कुछ मिलावट नहीं कर रहे हैं।

यद्दणादिषु सर्वेषु बलवत्युत्तरा क्रिया।
प्रतिग्रहाधिक्रीतेषु पूर्वा पूर्वा बलीयसी॥ 97॥

ऋण के लेन-देन से जुड़े सभी विषयों में परवर्ती (आगे से आगे की) स्थिति प्रमाण-स्वरूप होती है। दान (उपहार, पुरस्कार) तथा बन्धक आदि से जुड़े विषयों में किये गये अनुबन्धों में पूर्व-पूर्व की प्रामाणिकता अधिक है।

अभिप्राय यह है कि ऋण के लेन-देन में कब कितना लिया-दिया, कब चुकाया और कब कितना बक़ाया छोड़ा—इस मामले में उत्तरोत्तर स्थिति ही मान्य होती है। इसके विपरीत दान, भेंट आदि के मामले में जो पूर्वस्थिति है, वही मान्य होती है, उसमें किये गये परिवर्तन-परिवर्द्धन को विधिसम्मत मान्यता प्राप्त नहीं है।

स्थानलाभनिमित्तं हि दानग्रहणमिष्यते।
तत्कुसीदमिति प्रोक्तं तेन वृत्तिः कुसीदिनाम्॥ 98॥

लाभ-अर्जन के लिए ऋण-रूप में दिये मूलधन में जुड़ी ब्याज की राशि—बढ़े हुए धन की वसूली के लिए किये गये प्रयास, धन के आदान-प्रदान का नाम कुसीद है। दूसरे शब्दों में जब यह कहा जाये कि मूलधन तो आता रहेगा, कोई बात नहीं, पर ब्याज की राशि का भुगतान तो त्वरित ही हो जाना चाहिए, तो धन के इस अंश का लेन-देन ही साहूकारा है और साहूकारों की तो यह वृत्ति है, अर्थात् इसमें किसी प्रकार का कोई पाप, दोष अथवा अनौचित्य नहीं है। ऋणदाताओं की तो आजीविका ही इस प्रकार चलती है।

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद् वृत्तिविवर्धनीम्।
अशीतिभागं गृह्णीयाच्छते मासस्य बार्धुषी॥ 99॥

महर्षि वसिष्ठ के अनुसार साहूकार ब्याज पर दिये धन पर 80-125 पैसे तक प्रतिशत प्रतिमास ब्याज वसूल कर सकता है। ब्याज की इस दर को न्यायसंगत ही मानना चाहिए। वस्तुतः मूलधन पर ब्याज की वसूली करना तो साहूकार की आजीविका का साधन होने से धर्मसम्मत ही कहलाता है। साहूकार द्वारा मूलधन देकर ब्याज कमाना तो उसका व्यवसाय-धन्धा है।

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पञ्चकं च समं स्मृतम्।
मासस्य वृद्धिं गृह्णीयाद् वर्णानामनुपूर्वशः॥ 100॥

ऋणदाता साहूकार को ऋणकर्ता के वर्ण के अनुसार भिन्न-भिन्न दरों पर उससे अपने मूलधन पर ब्याज वसूल करने का अधिकार है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से क्रमशः दो, तीन, चार और पांच प्रतिशत ब्याज लेना सर्वथा उचित एवं धर्मसंगत है।

द्विकं शतं वा गृह्णीत सतां वृत्तमनुस्मरन्।
द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्थकिल्विषी॥ 101॥

वर्ण-भेद का विचार किये बिना सभी जाति और वर्ण के ऋणकर्ताओं में एक समान दो रुपया प्रतिशत प्रति माह ब्याज वसूल करना तो ऋणदाता की सज्जनता का ही परिचायक है, अर्थात् यह दर साहूकार के उदार, मानवतावादी एवं धर्मभीरु दृष्टिकोण को सिद्ध करती है। दो रुपये प्रतिशत ब्याज लेने वाले साहूकार को अर्थकिल्वषी—पाप से धन कमाने वाला—कभी नहीं माना जा सकता।

टिप्पणी—लगता है कि प्राचीनकाल में आर्थिक शोषण को धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त थी, अन्यथा पांच प्रतिशत अथवा दो प्रतिशत ब्याज की वसूली को उदारता का प्रतीक कदापि न कहा जाता।

कालिका कारिता चैवं कायिका च तथा परा।
चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेऽस्मिन् वृद्धिर्दृष्टा चतुर्विधा॥ 102॥

शास्त्रों में मूलधन पर लाभ के रूप में वसूल किये जाने वाले ब्याज के चार रूप-भेदों का उल्लेख हुआ है—कालिका, कारिता, कायिका और चक्रवृद्धि।

प्रतिमासं स्त्रवन्ती या वृद्धिः सा कालिका स्मृता।
वृद्धिः सा कारिता नाम यर्णिकेन स्वयं कृता॥ 103॥

प्रतिमाह चुकता किये जाने वाला ब्याज **कालिका** कहलाता है। ऋणी द्वारा अपनी सुविधा के अनुसार प्रतिमाह अथवा दूसरे-तीसरे माह वृद्धि-समेत, अर्थात् जिस माह नहीं चुकाया, उस माह की ऋण-राशि पर बनने वाले ब्याज के सहित अथवा बग़ैर यथानिर्धारित दूसरे-तीसरे माह चुकाया जाने वाला ब्याज **कारिता** कहलाता है।

कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादि कायिका।
वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता॥ 104॥

मूलधन के साथ ब्याज को जोड़कर किश्तों में उसका भुगतान **कायिका** तथा मूलधन के साथ एक-मुश्त चुकाये जाने वाले ब्याज पर ब्याज की वसूली **चक्रवृद्धि** कहलाती है।

अर्थानां सार्वभौमोऽयं विधिर्वृद्धिकरः स्मृतः।
या देशावस्थितिस्त्वन्या यत्रर्णमवतिष्ठते॥ 105॥

ब्याज की वसूली के रूप में ऋण-राशि पर होने वाली इन चार रूपों वाली परम्परा को एक सामान्य परम्परा ही समझना चाहिए। वैसे तो यह एक सार्वदेशिक—पूरे देश के सभी भागों में—रूप से मान्य एवं प्रचलित पद्धति है, फिर भी लेन-देन करने वालों की इच्छा, आवश्यकता, स्थान-विशेष पर और समय-विशेष में प्रचलन आदि के अनुसार ऋण व्यवस्था—ब्याज की दर में घटा-बढ़ी या मूलधन लौटाने की रीति आदि—में यथोचित एवं यथावश्यक परिवर्तन किया जा सकता है।

द्विगुणं त्रिगुणं वापि तथान्यत्र चतुर्गुणम्।
तथाष्टगुणमन्यस्मिन् देयं देशेऽवतिष्ठते॥ 106॥

किसी प्रदेश अथवा क्षेत्र में ऋण-राशि में दो प्रतिशत, कहीं तीन प्रतिशत, कहीं चार प्रतिशत, तो कहीं किसी अन्य क्षेत्र में आठ प्रतिशत ब्याज के लेन-देन का प्रचलन है। जहां जैसी व्यवस्था हो तथा जहां जैसा लेन-देन करने वालों को मान्य हो, वहां वैसा व्यवहार करना उचित है।

हिरण्यधान्यवस्त्राणां वृद्धिर्द्विस्त्रिश्चतुर्गुणा।
रसस्याष्टगुणा वृद्धिः स्त्रीपशूनां च सन्ततिः॥ 107॥

स्वर्ण, धान्य और वस्त्रों को गिरवी रखकर दिये जाने वाली ऋण-राशि पर क्रमशः दो, तीन और चार प्रतिशत ब्याज वसूल करना चाहिए। इसी प्रकार दूध, दही आदि को गिरवी रखने पर आठ प्रतिशत ब्याज लेना उचित है। स्त्रियों और पशुओं को गिरवी रखकर लिये ऋण पर कोई ब्याज नहीं वसूल किया जाता। उनकी सन्तति पर ऋणदाता का अधिकार होता है।

इसका अर्थ यह है कि ऋणदाता बन्धक-रूप में रखी स्त्री को भोगने और पशु से काम लेने को स्वतन्त्र है।

न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित्।
अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धात्प्रवर्धते॥ 108॥

प्रेम-वश उपहार अथवा दान-रूप में दिये गये धन—नक़द रुपया, स्वर्ण-रजत, स्त्री, पशु आदि—पर किसी प्रकार का न तो कोई ब्याज वसूल किया जाता है और न ही दिया धन लौटाया जाता है। हां, यदि किसी निश्चित अवधि के लिए बिना ब्याज के लिया धन उस अवधि के बीतने पर नहीं लौटाया जाता, तो ऋणकर्ता को अवधि के बाद के समय पर अपने ऋण पर ब्याज लेने का पूरा अधिकार होता है। भले ही ऐसा लिखित अनुबन्ध किया गया हो अथवा न किया गया हो, निर्धारित अवधि के उपरान्त ब्याज देय होता है।

प्रीतिदत्तं तु यत् किञ्चिन्न तद्वर्धत्ययाचितम्।
याच्यमानमदत्तं चेद् वर्धते पञ्चकं शतम्॥ 109॥

किसी आत्मीय बन्धु को प्रेम-सम्बन्ध से, बिना अवधि निर्धारित किये, दिये गये ऋण पर जब तक वापसी की मांग नहीं की जाती, तब तक उस राशि पर कोई ब्याज देय नहीं होता। हां, मांग करने पर और वापसी के लिए समय देने पर निर्धारित समय पर ऋण न लौटाये जाने पर परवर्ती अवधि के लिए पांच प्रतिशत की दर से ब्याज देय होता है।

एष वृद्धिविधिः प्रोक्तः प्रीतिदत्तस्य कर्मणः।
वृद्धिस्तु योक्ता धान्यस्य बार्धुषं तदुदाहृतम्॥ 110॥

प्रीतिपूर्वक दिये गये ऋण पर ब्याज लेने की उपर्युक्त व्यवस्था के अतिरिक्त कायिका, कारिका आदि चार अन्य प्रथाएं भी हैं, जिनका उपयोग किया जा सकता है। ब्याज के रूप में नक़द धनराशि न लेकर उसके बदले धान्य के लेने को 'वार्धुष' नाम दिया जाता है।

आपदं निस्तरेद् वैश्यः कामं बार्धुषिकर्मणा।
आपत्स्वपि हि कष्टासु ब्राह्मणस्य न बार्धुषम्॥ 111॥

ब्याज के रूप में नक़द धन अथवा स्वर्ण आदि के बदले अनाज देने में वैश्य को सुविधा होती है। वह नक़द धन के जुगाड़ के पचड़े में नहीं पड़ता और इससे उसका सामान बचा रहता है। इस प्रकार वह अपने अभाव की पूर्ति कर अपना उद्धार कर लेता है, परन्तु ब्राह्मण को दुर्गतिग्रस्त होने पर भी कभी नक़द ब्याज पर अथवा अनाज देकर ऋण नहीं लेना चाहिए; क्योंकि इससे उसका विप्रत्व आहत होता है।

ब्राह्मणस्य तु यद्देयं सान्वयस्य न चास्ति सः।
निक्षिपेत्तत्स्वकुल्येषु तदभावेऽस्य बन्धुषु॥ 112॥

ब्राह्मण को सम्पत्ति-सञ्चय का न तो अधिकार है और न ही उसे पैतृक सम्पत्ति के रूप में वंश-परम्परा से उत्तराधिकार में कुछ प्राप्त होता है और न ही वह अपने लिए व पुत्र-पौत्रादि के लिए कुछ छोड़ता है। अतः ब्राह्मण के लिए कुछ गिरवी रखकर ऋण लेना तथा उस पर ब्याज चुकाना सम्भव न होने से वर्जित है। संकटकाल आने पर ब्राह्मण को अपने को ही वस्तु के रूप में अपने रक्त-सम्बन्धियों के पास और उनके अभाव में जाति-बन्धुओं के पास बन्धक रख देना चाहिए।

तदा तु न सकुल्याः स्युर्न च सम्बन्धिबान्धवाः।
तदा दद्याद् द्विजातिभ्यस्तेष्वसत्स्वप्सु निक्षिपेत्॥ 113॥

यदि ब्राह्मण ने अपने को बन्धक बनाकर किसी से कुछ ऋण लिया है और संयोगवश ऋणकर्ता नहीं रहा तथा उसके कुल में भी कोई नहीं बचा, अथवा वंशज लेने से इनकार करते हैं, तो ब्राह्मण को ऋणदाता के जाति-बन्धुओं को ऋण-राशि लौटानी चाहिए। उनके भी अभाव अथवा इनकार करने पर ऋण-राशि ब्राह्मणों को दे देनी चाहिए, ब्राह्मण द्वारा भी लेना न स्वीकार करने पर जल में फेंक देनी चाहिए।

अभिप्राय यह है कि सामर्थ्य आ जाने पर ब्राह्मण को अपने ऋण का शोधन अवश्य करना चाहिए। ऋणदाता अथवा उसके वंशजों के न रहने पर अथवा उनके द्वारा अस्वीकार करने का बहाना कदापि नहीं बनाना चाहिए।

गृहीत्वोपगतं दद्यादृणिकायोदयं धनी।
अददद्याच्यमानस्तु शेषहानिमवाप्नुयात्॥ 114॥

धनिक से ऋण लेने पर ऋणकर्ता को ऋणदाता के धन की वृद्धि के बदले (यदि वह ऋण में दी गयी धन-राशि को व्यापार में लगाता, तो कुछ लाभ अर्जित करता—यह सोचकर) ब्याज अवश्य चुकाना चाहिए। मूलधन और ब्याज की मांग किये जाने पर भुगतान न करने वाला व्यक्ति अपनी विश्वसनीयता ही खो बैठता है। बाज़ार में उसके सम्मान की हानि होती है और उसके नाम को बट्टा लगता है।

यदि नो लेखयेद्दत्तमृणिनां चोदितोऽपि सन्।
ऋणिकस्यापि बर्धेत यथैव धनिकस्य वत्॥ 115॥

यदि ऋणकर्ता द्वारा ऋण चुकाने को उद्यत होने पर और बार-बार अनुरोध करने पर भी ऋणदाता अपनी ऋण-राशि को लेने से इनकार करता है, टालमटोल करता है अथवा किसी प्रकार की बहानेबाज़ी करता है, तो जिस प्रकार ऋण लेने वाला ऋण-राशि पर ब्याज़ चुकाता है, उसी प्रकार ऋण देने वाले को भी उस अवधि के लिए उस राशि पर ब्याज चुकाना होता है।

अभिप्राय यह है कि अपनी ही धन-राशि पर ऋणदाता को ब्याज तो नहीं मिलता, उलटे उसे ही ऋण लेने वाले को ब्याज चुकाना होता है। इस दुगुने दण्ड के विधान का स्पष्ट प्रयोजन ऋण लौटाने वाले को सम्भावित परेशानी से बचाना है।

लेख्यं दद्याद्विशुद्धर्णे तदभावे प्रतिश्रवम्।
धनिकर्णिकयोरेवं विशुद्धिः स्यात् परस्परम्॥ 116॥

अपनी ऋण-राशि को प्राप्त कर लेने पर ऋणदाता को ऋणकर्ता द्वारा लिखा प्रतिज्ञा-पत्र लौटा देना चाहिए। यदि प्रतिज्ञा-पत्र खो गया है अथवा नष्ट हो गया है अथवा कहीं रखा गया है और मिल नहीं रहा है, तो ऋणदाता को अपनी ओर से ऋण-राशि की प्राप्ति का तथा ऋणकर्ता द्वारा लिखे प्रतिज्ञा-पत्र के निरस्त होने का लिखित प्रतिज्ञा-पत्र देना चाहिए। यह दोनों का आपसी मामला है और दोनों के विश्वास का एक-दूसरे के प्रति बना रहना तथा एक-दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट होना परमावश्यक है।

विश्रम्भहेतू द्वावत्र प्रतिभूराधिरेव च।
लिखितं साक्षिणश्च द्वे प्रमाणे व्यक्तिकारके॥ 117॥

ऋण के लेन-देन के सम्बन्ध में विश्वास के दो ही आधार हैं—1. बन्धक रखी गयी वस्तु तथा 2. वापसी का दायित्व लेने वाला व्यक्ति, अर्थात् ऋणकर्ता द्वारा समय पर ऋण का भुगतान न किये जाने पर उसे विवश करने का तथा उसके असमर्थ होने पर उसकी ओर से स्वयं भुगतान करने का वचन देने वाला।

इसी प्रकार लेन-देन की सत्यता की पुष्टि करने वाले प्रमाण के दो रूप हैं—1. लिखित दस्तावेज़ तथा 2. वह व्यक्ति, जिसकी उपस्थिति एवं जानकारी में लेन-देन किया गया हो।

उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव च।
त्रिविधः प्रतिभूर्दृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः॥ 118॥

विधिवेत्ता अर्थशास्त्रियों के अनुसार ऋण पर धन-राशि के लेन-देन के सम्बन्ध में तीन ही प्रतिभू (ज़ामिन) हो सकते हैं—1. स्वयं ऋणकर्ता व्यक्ति की विश्वसनीयता होना, 2. ऋणकर्ता व्यक्ति का कोई समर्थ एवं सम्मानित मित्र अथवा सम्बन्धी—ऋणी के ऋण न लौटाने पर उसके स्थान पर स्वयं उसके ऋण को चुकाने के लिए वचनबद्ध तथा 3. बन्धक रखी वस्तु।

ऋणिष्वप्रतिकुर्वत्सु प्रत्यये वापि हापिते।
प्रतिभूस्तद्दृणं दद्यादनुपस्थापयंस्तथा॥ 119॥

कुछ बन्धक न रखकर ऋणी के समर्थ-सम्मानित मित्र अथवा सम्बन्धी द्वारा भुगतान के दायित्व के आश्वासन पर दिये गये ऋण का ऋणी द्वारा भुगतान न किये जाने पर प्रतिभू को ऋणदाता के मूलधन और ब्याज का भुगतान करना ही होता है। वह ऐसा करने को बाध्य होता है। अतः उसे प्रतिभू बनने से पूर्व इस वास्तविकता को भली प्रकार समझ लेना चाहिए।

बहवश्चेत् प्रतिभुवो दद्युस्तेऽर्थं यथाकृतम्।
अर्थे विशेषिते ह्येषु धनिनश्छन्दतः क्रिया॥ 120॥

यदि ऋणकर्ता को ऋण दिलाते समय उसकी वापसी का दायित्व लेने वाले एक से अधिक प्रतिभू हों, तो ऋणकर्ता द्वारा ऋण न लौटाने की स्थिति में उन सब को बराबर-बराबर अपने भाग की ऋण-राशि का भुगतान करना चाहिए अथवा यदि उन्होंने पहले कुछ न्यूनाधिक भाग अथवा प्रतिशत का समझौता कर रखा है, तो उसके अनुसार भुगतान करना चाहिए।

यमर्थं प्रतिभूर्दद्याद्धनिकेनोपपीडितः।
ऋणिकस्तं प्रतिभुवे द्विगुणं प्रतिदापयेत्॥ 121॥

यदि धनी व्यक्ति किसी की आवश्यकता की पूर्ति के लिए स्वयं दुखी होकर अपनी किसी आवश्यकता—लड़के की पढ़ाई, लड़की का विवाह, सम्पत्ति का क्रय, पत्नी के लिए आभूषण बनवाना आदि—को काटकर ऋणकर्ता के लिए ऋण की व्यवस्था करता है, तो ऋणकर्ता को धनी से लिये ऋण का दुगुना करके उसे लौटाना चाहिए।

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चकेन बलेन च॥ 122॥

यदि ऋणकर्ता ऋण लेने के उपरान्त लौटाने का नाम नहीं लेता, बेईमान हो जाता है या धूर्तता पर उतर जाता है, तो ऋणदाता धनी को निम्नोक्त चार उपाय करने चाहिए—

1. ऋणकर्ता को धर्म का भय दिखाना चाहिए, बेईमानी के दुष्परिणाम—विनाश, नरक-प्राप्ति तथा लोकनिन्दा—आदि से परिचित कराना चाहिए।

2. व्यवहार दिखाना चाहिए, अर्थात् न्यायालय में मुक़द्दमा चलाने की धमकी देनी चाहिए। उसे समझाना चाहिए कि इससे उसकी विश्वसनीयता और प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल जायेगी।

3. छल-प्रयोग—उसकी पत्नी, पुत्र को बहाने से बुलाकर बन्धक बना लेना, उसकी सम्पत्ति को अपनी बताकर बेच देना, उसके किसी व्यापार-धन्धे के लाभांश पर अधिकार कर लेना, अथवा उसके किसी सम्बन्धी को देय धन रोक लेना आदि—का आश्रय लेना चाहिए।

4. बल-प्रयोग—मार-पीट करना, उसकी पत्नी को छीन लेना, अपमानित करना तथा उसे बन्दी बना लेना आदि—करना चाहिए।

इन चारों में क्रमशः पूर्व-पूर्व का, अर्थात् प्रथम धर्म-भय का उपयोग करना चाहिए, उससे काम न चलने पर व्यवहार का, पुनः छल का और अन्त में बल का प्रयोग करना चाहिए।

यः स्वकं साधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णकात्।
न स राज्ञा निषेधव्य ऐहिकामुष्मिकार्थतः ॥ 123 ॥

उत्तमर्ण द्वारा अधमर्ण से अपने ऋण की साम-दान आदि उपायों से वसूली करना अधमर्ण के ही हित में है। इससे अधमर्ण को इस लोक में शान्ति और परलोक में सद्गति मिलती है। अतः राजा अथवा राज्य-प्रशासन को उत्तमर्ण धनी का पक्षधर एवं सहायक बनना चाहिए, उसके द्वारा वसूली के लिए किसी भी प्रयास में प्रशासन को आड़े नहीं आना चाहिए।

अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः।
कृतकालोपनेयश्च यावद्देयोयतस्तथा ॥ 124 ॥

किसी चल-अचल सम्पत्ति—भवन, खेत, भू-खण्ड अथवा दुकान अथवा स्वभूमि अथवा बाण्ड, शेयर प्रमाण-पत्र आदि—को गिरवी रखकर लिया गया ऋण आधि कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है—निर्धारित अवधि में लौटाया जाने वाला तथा इच्छानुसार—अनिश्चित काल में—लौटाया जाने वाला।

निर्धारित अवधि में लौटाये जाने वाले ऋण के निर्दिष्ट काल में ही लौटाये जाने पर ऋणी ऋणमुक्त होता है और अनिर्दिष्ट काल वाले ऋण को जब ऋणी लौटाता है, तब वह ऋणमुक्त होता है। दोनों अवस्थाओं में ऋण की वापसी पाने पर ही ऋणदाता को ऋणी को ऋण-पत्र लौटाना चाहिए।

स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च।
उपचारस्तथैवास्य लाभहानिर्विपर्यये ॥ 125 ॥

किसी वस्तु को बन्धक रखकर आधि—लिये गये ऋण—के उपयोग की दृष्टि से दो प्रकार हैं—गोप्य, अर्थात् गुप्तरूप से रखे जाने वाले स्वर्णाभूषणों के क्रय आदि में निवेश तथा भोग्य—उपभोग में आने वाले भवन, क्षेत्र आदि के क्रय में निवेश।

यदि गोप्य का उपभोग किया जाता है, अर्थात् स्वर्णाभूषणों को अवसर-विशेष के स्थान पर सामान्य रूप से धारण किया जाता है और इधर भवन-क्षेत्र आदि भोग्य सम्पत्ति का उपभोग न करके उसे छिपाकर रखा जाता है, अर्थात् क्षेत्र को जोता-बोया नहीं जाता, तो ऋणकर्ता को लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। वह ऋण की मूलराशि को भी गंवाने की स्थिति में आ जाता है।

अभिप्राय यह है कि यदि ऋण लेकर स्वर्णाभूषण आदि ख़रीदे जाते हैं, तो उन्हें सुरक्षित (गुप्त) रखना चाहिए और यदि भवन, क्षेत्र अथवा दुकान आदि की ख़रीद की जाती है, तो उनका यथोचित उपभोग करना चाहिए। इसी में ऋण लेने की सार्थकता है।

प्रमादाद्धनिनस्तद्वदाधौ विकृतिमागते।
विनष्टे मूलनाशः स्याद्दैवराजकृताद्दते॥ 126॥

ऋणदाता धनिक के पास बन्धक रखी वस्तु के चोरी हो जाने पर, घर के आग लगने से भस्म हो जाने पर, जर्जर हो जाने पर तथा राज्य-प्रशासन द्वारा अपने अधिकार में कर लिये जाने पर ऋणकर्ता को ऋण (मूलधन) तो देय ही होता है; क्योंकि बन्धक वस्तु के विनाश में उसका कोई हाथ नहीं होता। हां, ऋणदाता धनिक के प्रमाद से बन्धक वस्तु में विकार आ जाने पर अथवा नष्ट हो जाने पर, उसे अपने मूलधन को वसूल करने का कोई अधिकार नहीं रहता। उस स्थिति में वह अपने ऋणी के प्रति उत्तरदायी होता है।

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्॥ 127॥

ऋणदाता को बन्धक रखी वस्तु का ऋणकर्ता की अनुमति के बिना स्वेच्छा से अपने प्रयोग में लाने का कोई अधिकार नहीं। यदि बलपूर्वक अथवा छिपाकर उपयोग किया जाता है, तो ऋणदाता को अपने ऋण पर ब्याज लेने का अधिकार समाप्त हो जाता है। ऋणदाता धनिक को ऋणकर्ता के समक्ष सारी स्थिति स्पष्ट करनी—अर्थात् बिना अनुमति के उपयोग करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी अथवा अनुमति की आवश्यकता नहीं समझी गयी आदि—पड़ती है। प्रत्येक स्थिति में वस्तु के स्वामी को सन्तुष्ट करना ऋणदाता का कर्तव्य-कर्म है, अन्यथा वह 'आधिस्तेन' कहलाता है और चोर के लिए निर्धारित दण्ड का पात्र बनता है।

यः स्वामिनाभ्यनुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।
तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्क्रयः॥ 128॥

सम्पत्ति को गिरवी रखकर ऋण लेने वाले की अनुमति के बिना उसकी सम्पत्ति का चोरी से उपभोग करने वाला ऋणदाता धनिक अपनी ऋण-राशि पर ब्याज के अधिकार को खो बैठता है। ब्याज की आधी राशि तो उपभोग की जाने वाली सम्पत्ति की टूट-फूट की मरम्मत पर ख़र्च की जानी चाहिए और आधी राशि ऋणी को मिलनी चाहिए, ताकि उसे कुछ तो राहत मिले।

न त्वेवाधो सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः॥ 129॥

उपभोग के लिए अनुमत बन्धक सम्पत्ति पर दिये ऋण पर ब्याज नहीं लेना चाहिए, यहां सम्पत्ति का उपभोग ही ब्याज है, उपभोग में आ रही बन्धक की गयी सम्पत्ति को न तो ऋणदाता धनिक बेच सकता है और न ही ऋणकर्ता निर्धारित अवधि से पूर्व वापसी की मांग कर सकता है।

रक्ष्यमाणोऽपि यत्राधिः कालेनेयादसारताम्।
तत्राधिरन्यः कर्तव्यो देयं वा धनिने धनम्॥ 130॥

ऋणकर्ता धनिक द्वारा बन्धक सम्पत्ति—गाय, भैंस, स्त्री, भवन आदि—की यत्नपूर्वक एवं पूरी ईमानदारी से रक्षा किये जाने पर भी उसके नष्ट हो जाने पर ऋणकर्ता को या तो उत्तमर्ण से ऋण में लिया धन उसे लौटा देना चाहिए या फिर अपनी कोई दूसरी सम्पत्ति गिरवी रखनी चाहिए; क्योंकि ऐसे मामलों में ऋणदाता पूर्णतः निर्दोष होता है।

अत्र शक्तिविहीनः स्याद्दणी कालविपर्ययात्।
शक्त्यपेक्षमृणं दाप्यं काले काले यथोदयम्॥ 131॥

बुरा समय आने से अथवा दुर्भाग्यवश ऋणी के एक साथ (एक मुश्त) पूरी ऋण-राशि चुकाने में असमर्थ होने पर उत्तमर्ण को अधमर्ण द्वारा अपनी सुविधा से दी गयी राशि को स्वीकार करते हुए, उसकी सम्पत्ति उसे लौटा देनी चाहिए और उसे ऋणमुक्त कर देना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि उत्तमर्ण को अधमर्ण के प्रति कठोर एवं अनुदार नहीं होना चाहिए। पूरी ऋण-राशि एक साथ लेने का दुराग्रह नहीं करना चाहिए, अपितु उसकी परिस्थिति को देखते हुए उसे थोड़ी-बहुत छूट अवश्य देनी चाहिए।

ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति।
राज्ञा दापयितव्यः स्याद् गृहीत्वा पञ्चकं शतम्॥ 132॥

यदि ऋणी साधन-सम्पन्न हो जाने पर भी अपनी धूर्ततावश अथवा किसी अन्य कारण से उत्तमर्ण से लिये ऋण को नहीं लौटाता है, झूठे आश्वासन देकर उसे टरकाता और परेशान करता है, तो इस स्थिति में राजा (प्रशासन) को ऋणी से

ऋणराशि का पांच प्रतिशत दण्ड वसूल करना चाहिए तथा उससे उत्तमर्ण को मूलधन और ब्याज का भुगतान कराना चाहिए।

स्ववाक् सम्प्रतिपत्तौ तु ऋणिकं दशकं शतम्।
विनयं दापयेद्राजा द्विगुणं तु पराजितम्॥ 133॥

यदि ऋणी के समर्थ होने पर, ऋण लौटाने को प्रस्तुत न होने पर व उत्तमर्ण द्वारा राजा (प्रशासन) से न्याय की गुहार किये जाने पर अधमर्ण ऋण लेना और लौटाना स्वीकार कर लेता है, तो उससे ऋण-राशि का दस प्रतिशत दण्ड वसूल करके उत्तमर्ण को उसका मूलधन और ब्याज दिलाना चाहिए।

ऋणकर्ता के ऋण लेने को नकारने पर और प्रमाण आदि साक्ष्य से विवाद में झूठा सिद्ध हो जाने पर पराजित ऋणी से बीस प्रतिशत दण्ड वसूल करना चाहिए और उत्तमर्ण को उसका मूलधन और ब्याज दिलाना चाहिए।

न स्याद् द्रव्यपरीमाणं कालेनेहार्णिकस्य चेत्।
जातिसंज्ञाधिवासानामागमो लेख्यतः स्मृतः॥ 134॥

यदि पराजित ऋणकर्ता ऋण को चुकाने में समर्थ नहीं है, उसके पास चल-अचल सम्पत्ति नहीं है, तो न्यायाधिकरण को उसका पूरा निवास-स्थल, जाति, नाम तथा गोत्र आदि के उल्लेख के साथ शपथ-पत्र लिखा लेना चाहिए कि वह अथवा उसके वंशज ऋणदाता को अथवा उसके वंशजों को सामर्थ्य आते ही ब्याज सहित ऋण-राशि चुकता करने को वचनबद्ध हैं—यह न्यायाधिकरण की व्यवस्था है।

लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्तान्यकृतं तथा।
असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः॥ 135॥

सामर्थ्य आने पर उत्तमर्ण को ऋण लौटाने के शपथ-पत्र के दो रूप हैं—1. अधमर्ण द्वारा स्वयं अपने हाथ से लिखा और हस्ताक्षरित तथा 2. दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखा गया और अधमर्ण द्वारा हस्ताक्षरित।

देश और स्थिति के आधार पर इन दोनों के पुनः दो रूप हैं—1. साक्षी द्वारा सत्यापित तथा 2. साक्ष्य-रहित।

उल्लेखनीय यह है कि दोनों—उत्तमर्ण तथा अधमर्ण—की सन्तुष्टि और विश्वास-भावना को ध्यान में रखते हुए, दोनों को एक-समान मान्य शपथ-पत्र ही अपनाना चाहिए। यही उचित एवं न्याय-संगत है। यदि दोनों साक्ष्य की आवश्यकता नहीं समझते, एक-दूसरे के प्रति विश्वास का भाव रखते हैं, तो ठीक है, परन्तु यदि एक भी पक्ष साक्ष्य की आवश्यकता समझता है, तो साक्ष्य का होना आवश्यक हो जाता है।

देशाचाराविरुद्धं यद् व्यक्तावधिविलक्षणम्।
तत्प्रमाणे स्मृतं लेख्यमविप्लुतक्रमाक्षरम्॥ 136॥

निम्नोक्त गुणों वाला दस्तावेज़ वैध एवं प्रमाणित माना जाता है—जो साफ़-

सुथरी एवं सीधी-सादी भाषा में लिखा गया हो, 2. जिसमें दो-दो अर्थ देने वाले शब्दों का प्रयोग न किया गया हो, 3. जिसमें उलटा-पुलटा, घुमा-फिराकर कुछ न कहा गया हो, 4. जिसमें प्रत्येक तथ्य को उसके महत्त्व के अनुरूप क्रम से उद्धृत किया गया हो, 5. जिसमें देशाचार का अतिक्रमण न किया गया हो तथा 6. बन्धक सम्बन्धी नियमों, लेन-देन की शर्तों, अवधि, ब्याज की दर आदि का यथावत् स्पष्ट उल्लेख किया गया हो।

मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत्।
तदप्रमाणं लिखितं भीतोपधिकृतं तथा॥ 137॥

निम्नोक्त व्यक्तियों द्वारा लिखे गये दस्तावेज़ को वैध नहीं माना जाता, अर्थात् उसके आधार पर किये लेन-देन को वैधानिक मान्यता कदापि नहीं मिलती।

1. मत्त—मदिरा आदि मादक द्रव्यों के प्रभाव के अन्तर्गत अर्ध-मूर्च्छित अथवा नष्ट विवेकशक्ति वाला व्यक्ति।

2. अभियुक्त—पहले से ही अभियोग में फंसा व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति विवश एवं किंकर्तव्यविमूढ़ होता है।

3. स्त्री—शिक्षा तथा अनुभव के अभाव के कारण।

4. बालक—स्त्रियां तथा बालक उचित-अनुचित अथवा सही-ग़लत के निर्णय में समर्थ नहीं होते।

5. लोभ, भय, छल तथा बल—डरा-धमकाकर, मार-पीटकर, लालच देकर अथवा कपट (धोखे) से कराये गये अनुबन्ध विवशता का परिणाम होते हैं।

मृताः स्युः साक्षिणो यत्र धनिकर्णिकलेखकाः।
तदप्यपार्थं लिखितं न चेदाधिः स्थिराश्रयः॥ 138॥

यदि कोई वस्तु बन्धक नहीं रखी गयी, केवल विश्वास के आधार पर लेन-देन किया गया है और इस लेन-देन को लिखित रूप भी दे दिया गया है, परन्तु ऋण का शोधन करने से पूर्व ऋणदाता की, ऋणकर्ता की और साक्षी या साक्षियों की मृत्यु हो जाती है, तो लिखित प्रमाण स्वतः निरस्त हो जाता है, अर्थात् उसके आधार पर ऋणदाता के वंशज ऋणकर्ता के वंशजों से पूर्वजों द्वारा दिये-लिये ऋण को लौटाने की मांग नहीं कर सकते।

आधिस्तु द्विविधः प्रोक्तो जङ्गमः स्थावरस्तथा।
सिद्धिरत्रोभयस्यास्य भोगो यत्रास्ति नान्यथा॥ 139॥

बन्धक रखी जाने वाली सम्पत्ति दो प्रकार की होती है—

1. अचल सम्पत्ति—भवन, धरती आदि तथा **2. चल सम्पत्ति**—स्वर्णाभूषण, पशु, स्त्री, धान्य तथा शस्त्रास्त्र आदि। वस्तुतः बन्धक सम्पत्ति वही मानी जाती है, जब उसका उपभोग वस्तु के वास्तविक स्वामी के बदले ऋणदाता करता है।

बन्धक रखी गयी जिस सम्पत्ति का उपभोग ऋणदाता नहीं कर सकता, ऐसी वस्तु को बन्धक रखने की कोई सार्थकता ही नहीं है।

दर्शितं प्रतिकालं यत् प्रार्थितं श्रावितं तथा।
लेख्यं सिद्ध्यति सर्वत्र मृतेष्वपि हि साक्षिषु॥ 140॥

यदि समय-समय पर ऋणदाता द्वारा ऋणकर्ता से अपने ऋण की मांग की जाती रही है, उसे तथा उसके परिवारजनों को ऋण-पत्र दिखाया जाता रहा है, ऋण-पत्र की शर्तों से उसे अवगत कराया जाता रहा है, तो उस स्थिति में साक्षियों के मर जाने पर भी ऋण-पत्र की वैधता स्थिर रहती है, वह किसी भी स्तर पर निरस्त नहीं होता है, अर्थात् साक्षियों के न रहने पर ऋणकर्ता ऋण देने से मुकर नहीं सकता है।

अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम्।
न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु॥ 141॥

ऋणकर्ता, ऋणदाता और साक्षियों के जीवनकाल में ऋणकर्ता के वयस्क पुत्रों अथवा उत्तराधिकारियों को उनके पिता द्वारा किये गये किसी अनुबन्ध अथवा लिखे गये किसी ऋण-पत्र की कोई जानकारी न देने पर, ऋणकर्ता आदि के दिवंगत हो जाने पर उसके पुत्रों की कोई देनदारी नहीं बनती।

अभिप्राय यह है कि ऋणदाता को ऋणकर्ता के पुत्रों को भी उनके पिता के ऋणी होने की यथोचित जानकारी करानी चहिए तथा आवश्यक होने पर ऋण-पत्र भी दिखाना चाहिए, ताकि पिता के मर जाने पर व उसकी सम्पत्ति पर अधिकार करते समय वे ऋण के शोधन के दायित्व को भी न भूलें।

लेख्ये देशान्तरन्यस्ते दग्धे दुर्लिखिते हृते।
सतस्तत्कालहरणमसतो दृष्टदर्शनम्॥ 142॥

ऋणदाता के विदेश चले जाने के कारण किसी दस्तावेज़ के खो जाने पर, किसी दुर्घटनावश जल जाने पर, काग़ज़ के पुराना पड़ जाने से फट जाने पर अथवा काग़ज़ के गल जाने से अपाठ्य एवं अवाच्य बन जाने पर, दस्तावेज़ को देखने-सुनने वालों, अर्थात् अनुबन्ध की जानकारी रखने वालों की सहायता से नया ऋण-पत्र तैयार करने और न्यायालय में उपस्थित करने के लिए ऋणदाता को पर्याप्त समय दिया जाना चाहिए।

यत्र स्यात् संशयो लेख्ये भूताभूतकृते क्वचित्।
तत्स्वहस्तक्रियाचिह्न युक्तिप्राप्तिभिरुद्धरेत्॥ 143॥

किसी ऋण-पत्र के वास्तविक अथवा अवास्तविक होने का सन्देह उत्पन्न हो जाने पर ऋणकर्ता के हस्ताक्षरों का मिलान करने से, साक्षियों के साक्ष्य से तथा उनके द्वारा विहित हस्ताक्षरों की जांच-परख से, अनुबन्ध तैयार करने वाले लेखक

से पूछताछ करने से, अक्षरों की बनावट से, मुद्राचिह्न से, स्याही और काग़ज़ के रूप-रंग से तथा ऋणदाता से किये गये प्रश्नोत्तरों से वास्तविकता का निर्णय करना चाहिए।

लेख्यं यच्चान्यनामाङ्कं हेत्वन्तरकृतं भवेत्।
विप्रत्यये परीक्ष्यं तत् सम्बन्धागमहेतुभिः ॥ 144 ॥

किसी भी भूल-चूक, छल-धोखा अथवा धूर्ततावश, दस्तावेज़ में लेने-देने वाले के नाम ग़लत लिखे जाने पर अथवा एक-दूसरे पर विश्वास न रहने पर ऋण-पत्र की प्रामाणिकता की परीक्षा के निम्नोक्त तीन आधार हैं—

1. सम्बन्ध—किस प्रयोजन—यज्ञ, विवाह, भवन-क्रय आदि—के लिए ऋण लिया गया और उस धन का कहां उपयोग हुआ।

2. आगम—यदि ऋण नहीं लिया गया, तो क्रय, विवाह अथवा स्वर्णाभूषणें के लिए धन की व्यवस्था का कौन-सा स्रोत था, पैसा कहां से आया?

3. हेतु—अविश्वास का अथवा ऋण लेकर उससे नकारने का कारण क्या है? मन में उत्पन्न बेईमानी का आधार क्या है?

उपर्युक्त तीनों तथ्यों के आधार पर जांच-परख करने पर सत्य उभरकर सामने आ ही जाता है।

लिखितं लिखितेनैव साक्षिमत् साक्षिभिर्हरेत्।
साक्षिभ्यो लिखितं श्रेयो लिखितान्न तु साक्षिणः ॥ 145 ॥

लिखा-पढ़ी किये बिना साक्षियों की उपस्थिति में लेन-देन करने और लेने वाले की अथवा देने वाले की नीयत में खोट आ जाने पर अथवा संशय उपस्थित हो जाने पर साक्षियों को ही विवाद का निपटारा करना चाहिए। उन्हें अपने निजी प्रभाव से ग़लत व्यक्ति को सही मार्ग दिखाना चाहिए। साक्षी प्रमाण की अपेक्षा लिखित प्रमाण की वैधता अधिक है। साक्षियों की उपस्थिति में लेन-देन करने में सुविधा तो हो सकती है, परन्तु लिखित प्रमाण की अपेक्षा साक्ष्य को वरीयता नहीं दी जा सकती।

छिन्नभिन्नहृतोन्मृष्टनष्टदुर्लिखितेषु च।
कर्तव्यमन्यल्लेख्यं स्यादेष लेख्यविधिः स्मृतः ॥ 146 ॥

लिखित पत्र के कट जाने पर, फट जाने पर, खण्डित-टुकड़े हो जाने पर, चुराये जाने पर, मुचुड़ जाने पर, खो जाने पर, कहीं रखकर भूल जाने पर तथा जर्जर हो जाने पर दूसरा ऋण-पत्र तैयार किया जाना चाहिए। यही शास्त्र का विधान है।

टिप्पणी—आजकल तो प्रतिलिपि रखने की प्रथा है, अतः उसके आधार पर नवीकरण कोई समस्या ही नहीं है। इसके अतिरिक्त चित्र प्रतिलिपि (Zerox Copy) की सुविधा ने सारा मामला ही सुलझा दिया है।

सन्दिग्धेषु च कार्येषु द्वयोर्विवदमानयोः।
श्रुतदृष्टानुभूतार्थान् साक्षिभ्यो व्यक्तिदर्शनम्॥ 147॥

वादी-प्रतिवादी के मध्य किसी विषय पर मतभेद हो जाने पर दोनों में लेन-देन होने के समय उपस्थित प्रत्यक्षदर्शी अथवा दोनों में बातचीत कराने वाले अथवा इस विषय से परिचित साक्षियों को सब कुछ यथावत् बताकर संशय अथवा सन्देह का निराकरण कर देना चाहिए।

समक्षदर्शनात्साक्षी विज्ञेयः श्रोत्रचक्षुषोः।
श्रोत्रस्य यत् परो ब्रूते चक्षुषोर्दर्शनं स्वयम्॥ 148॥

दो पक्षों में किये जाने वाले किसी समझौते की चर्चा कानों से सुनी जाती है और चर्चा करने वालों को आंखों से देखा जाता है। इस प्रकार अपने कानों से सुनने वाला तथा अपने नेत्रों से देखने वाला साक्षी कहलाता है। ऐसे साक्षी का साक्ष्य भी प्रमाण होता है।

एकादशविधः साक्षी शास्त्रदृष्टो मनीषिभिः।
कृतः पञ्चविधस्तेषां षड्विधोऽकृत उच्यते॥ 149॥

विधिशास्त्र के तत्त्ववेत्ता मनीषियों ने साक्षियों के ग्यारह भेद स्वीकार किये हैं और उन ग्यारह में से पांच भेदों को 'कृत,' अर्थात् स्वयं स्वीकृत (मनोनीत) तथा छह भेदों को 'अकृत' माना है।

लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः कृतः॥ 150॥

पांच 'कृत' साक्षी निम्नोक्त रूप से हैं—

1. **लिखित**—लिखित ऋण-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाला।
2. **स्मारित**—अपने कानों से सुने वचनों को उद्धृत करने वाला।
3. **यदृच्छाभिज्ञ**—व्यवहार के समय बिना बुलाये अपनी इच्छा से आने और सारी घटना की जानकारी रखने वाला।
4. **गूढ़**—छिपकर सारी बातचीत को सुनने देखने वाला तथा
5. **उत्तरसाक्षी**—कानों में भनक पड़ने की (Over hear) कहने वाला।

षडेते पुनरुद्दिष्टाः साक्षिणस्त्वकृताः स्वयम्।
ग्रामश्य प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम्॥ 151॥
कार्येष्वभ्यन्तरो यः स्यादर्थिना प्रहितश्च यः।
कुल्याः कुलविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः॥ 152॥

छह अकृत साक्षी निम्नोक्त रूप से हैं—

1. **ग्राम**—ग्राम के मध्य घटित घटना का सारा ग्राम ही साक्षी रहता है, ग्राम से अभिप्राय है ग्रामीण व्यक्ति।

2. प्राड्विवाक—धर्म से सम्बन्धित विवाद में शास्त्र के साक्ष्य को उद्‌धृत करने वाला धर्माधिकारी।

3. राजा— न्यायाधिकारियों अथवा प्रशासकों की उपस्थिति में घटित घटना का साक्ष्य प्रशासन ही होता है।

4. सम्बद्ध व्यक्ति—कार्य-विशेष के लिए नियुक्त अथवा प्रेरित व्यक्ति, दास, मित्र, बन्धु अथवा अन्य कोई परिचित-अपरिचित व्यक्ति।

5. भीतरी व्यक्ति—घर का काई मूकदर्शक व्यक्ति तथा

6. वंश का व्यक्ति—विवाद की जानकारी रखने वाला। उपर्युक्त छह व्यक्ति साक्षी के रूप में मनोनीत तो नहीं किये जाते, फिर भी साक्षी बन सकते हैं।

कुलीना ऋजवः शुद्धा जन्मतः कर्मतोऽर्थतः।
त्र्यवराः साक्षिणोऽनिन्द्याः शुचयः शुद्धबुद्धयः ॥ 153 ॥

निम्नोक्त गुणों से सम्पन्न एक, दो अथवा तीन व्यक्तियों को साक्षी बनाना चाहिए—1. कुलीन, अर्थात् उच्च कुलोत्पन्न, 2. ऋजु, अर्थात् स्वभाव से सरल, छल-कपट रहित, 3. जन्म से पवित्र आचरण वाले, उत्तम आजीविका वाले तथा कर्म से नितान्त शुद्ध-पवित्र, अर्थात् लोभरहित। 4. अनिन्दित, अर्थात् लोक में प्रतिष्ठित एवं कीर्तिमान्, 5. शुद्ध-बुद्धि, अर्थात् विचारों की उच्चता के साथ शुद्ध आचरण वाले।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा ये चाप्यनिन्दिताः।
प्रतिवर्णं भवेयुस्ते सर्वे सर्वेषु वास्मृताः ॥ 154 ॥

अनिन्दित चरित्र एवं शुद्ध आचरण वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने वर्ण और अपनी-अपनी जाति के लोगों के साक्षी बन जाते हैं। वस्तुतः अपने वर्ण-जाति के लोगों को ही साक्षी बनाना अच्छा रहता है।

श्रेणीषु श्रेणीपुरुषाः स्वेषु वर्गेषु वर्गिणः।
बहिर्वासिषु बाह्यः स्युः स्त्रियः स्त्रीषु च साक्षिणः ॥ 155 ॥

श्रेणियों के विवादों में श्रेणी पुरुषों का, वर्गों के विवादों में वर्ग के पुरुषों का बाह्य क्षेत्रों के विवादों में बाहरी लोगों का तथा स्त्रियों के विवादों में स्त्रियों का साक्षी होना ही वाञ्छनीय रहता है; क्योंकि अपनी जाति वालों में एक प्रकार से प्रकृतिगत एकात्मकता रहती है।

श्रेण्यादिषु च सर्वेषु कश्चिच्चेद् द्वेष्यतामियात्।
तेभ्य एव न साक्ष्यं स्याद् द्वेष्टारः सर्व एव ते॥ 156 ॥

श्रेणी अथवां वर्ग आदि के विवादों में साक्षी रहने वाले व्यक्ति के द्वेषग्रस्त, अथवा पूर्वाग्रह से युक्त हो जाने पर उसकी साक्षी बनने की पात्रता समाप्त हो जाती है। साक्षी का तटस्थ होना उसकी अनिवार्य योग्यता है। उसे तो अपने कानों से सुने

का तथा आंखों से देखे का यथावत् वर्णन करना है, परिणाम की चिन्ता नहीं करनी है। व्यक्ति-विशेष के प्रति द्वेष-भाव रखने वाला व्यक्ति साक्षि-धर्म का निर्वाह कर ही नहीं सकता। अतः ऐसे व्यक्ति को कभी साक्षी नहीं बनाना चाहिए।

असाक्ष्यपि हि शास्त्रेऽस्मिन् दृष्टः पञ्चविधो बुधैः।
वचनादोषतो भेदान् स्वयमुक्तिर्मृतान्नरः॥ 157॥

विधिवेत्ता पण्डितों ने असाक्षी—साक्षी न बनने योग्य—व्यक्तियों के निम्नोक्त पांच रूप-भेद माने हैं—

1. अपने वचन से मुकरने वाला, अर्थात् साक्ष्य भरने की स्वीकृति देकर समय आने पर मुकर जाने वाला अथवा कहने योग्य तथ्य न कहने वाला अथवा अपने ही कथन को सही न कर पाने वाला, अर्थात् किसी एक बात पर स्थिर न रहने वाला।

2. दोषग्रस्त—शारीरिक रूप से पंगु—काणा, बधिर अथवा अन्य किसी विकार से ग्रस्त अथवा चारित्रिक रूप से लाञ्छित।

3. भेद-बुद्धि रखने वाला व्यक्ति, अर्थात् एक के सामने कुछ और दूसरे के सामने कुछ और कहने वाला व्यक्ति।

4. अपने आपको साक्ष्य के लिए प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति। निश्चित है कि ऐसा व्यक्ति या तो स्वार्थ-प्रेरित है या धूर्त है। वह या तो आपके विरोधी का विरोधी है या फिर आप से कुछ पाना चाहता है।

5. मृत व्यक्ति।

श्रोत्रियास्तापसा वृद्धा ये च प्रव्रजिता नराः।
असाक्षिणस्ते वचनान्नात्र हेतुरुदाहृतः॥ 158॥

निम्नोक्त चार—1. वेदपाठी ब्राह्मण, 2. तपस्वी, 3. वृद्ध, चलने-फिरने आदि में असमर्थ तथा 4. संन्यासी—को कभी साक्षी नहीं बनाना चाहिए। इसके कारण के निर्देश की आवश्यकता नहीं; क्योंकि स्पष्ट है कि एक तो ये लोग विरक्त प्रकृति के होते हैं, इन्हें सांसारिक झंझटों से लगाव नहीं होता, इसलिए ये किसी भी समय न्यायालय में उपस्थित होने से इनकार कर सकते हैं। द्वितीय, ये सीधे-सादे व्यक्ति वकील और न्यायाधीश के उलटे-सीधे प्रश्नों का सामना करने में असमर्थ होते हैं। अतः ये कुछ का कुछ कह सकते हैं। तृतीय, न्यायालय में इनका उपस्थित होना इनके लिए शोभनीय भी नहीं होता।

स्तेनाः साहसिकाश्चण्डाः कितवा बधकाश्च ये।
असाक्षिणस्ते दुष्टत्वात्तेषु सत्यं न विद्यते॥ 159॥

निम्नोक्त पांच प्रकार के व्यक्ति समाज द्वारा अवहेलित, कलंकित और दुश्चरित्र होने के कारण साक्षी होने योग्य नहीं, अर्थात् इन्हें साक्षी नहीं बनाना चाहिए। ये लोग किसी भी समय धोखा दे सकते हैं—

1. स्तेन (चोर), 2. साहसिक (डाकू-डंके की चोट पर दूसरों को लूटने वाला), 3. क्रूर- दया-ममता रहित, अत्याचारी एवं आततायी, अर्थात् अकारण-सकारण किसी की हत्या करने में भी संकोच न करने वाला, 4. धूर्त एवं शठ, अर्थात् दूसरों को तंग-परेशान करने को ही अपना मनोरंजन मानने वाला तथा 5. हिंसक, अर्थात् जीवहत्या करने वाला।

ऐसे दुष्टों का वचन कभी विश्वसनीय नहीं होता। अतः इन्हें साक्षी बनाना कदापि उचित नहीं।

राज्ञा परिगृहीतेषु साक्षिष्वेकार्थनिश्चये।
वचनं यत्र भिद्येत ते स्युर्भेदादसाक्षिणः॥ 160॥

राग-द्वेष से अथवा लोभ-लालच से किसी भी समय अपने वचन से मुकर जाने वाले तथा न्यायालय के बाहर कुछ और न्यायालय के भीतर कुछ कहने वाले, अर्थात् अस्थिर प्रकृति के, आसानी से बिक जाने वाले तथा धर्म को महत्त्व न देने वाले व्यक्तियों को भी साक्षी नहीं बनाना चाहिए। ऐसे व्यक्ति भी साक्षी बनने योग्य नहीं होते।

अनिर्दिष्टस्तु साक्षित्वे स्वयमेवैत्य यो वदेत्।
शुचीत्युक्तः स शास्त्रेषु न स साक्षित्वमर्हति॥ 161॥

शास्त्रों के अनुसार घटना के समय उपस्थित न रहने वाला, अर्थात् प्रत्यक्षदर्शी तथा प्रत्यक्षश्रोता न होने पर भी साक्ष्य देने के लिए अपनी सहमति जतलाने वाले व्यक्ति को भी अपात्र ही मानना चाहिए। ऐसे व्यक्ति का आचरण धर्मविरुद्ध होने के कारण उसका साक्ष्य सर्वथा अनुचित एवं अग्राह्य समझना चाहिए।

योऽर्थः श्रावयितव्यः स्यात्तस्मिन्नसति चार्थिनि।
कुतद्वदतु साक्षित्वमित्यसाक्षी मृतान्तरः॥ 162॥

व्यवहार के विचार के समय जीवित व्यक्ति ही अपने साक्ष्य के द्वारा सत्य पर प्रकाश डाल सकता है। मृत व्यक्ति तो कुछ कहने के लिए नहीं आ सकता। मृत व्यक्ति के स्थान पर कोई दूसरा व्यक्ति मृत व्यक्ति के मुख से बोले और अपने कान से सुने वचन के आधार पर मृतक का स्थानापन्न, अर्थात् उसका प्रतिनिधि बनकर साक्ष्य नहीं दे सकता। ऐसे व्यक्ति को भी साक्षी नहीं बनाना चाहिए।

द्वयोर्विवदतोरर्थे द्वयोः सत्सु च साक्षिषु।
पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः॥ 163॥

दोनों—पूर्वपक्ष अथवा वादी तथा उत्तरपक्ष अथवा प्रतिवादी—द्वारा अपने-अपने पक्ष में साक्षियों को प्रस्तुत करने में पूर्वपक्ष के साक्षियों के साक्ष्य को ही वरीयता देनी चाहिए।

आधर्यं पूर्वपक्षस्य यस्मिन्नर्थवशाद्भवेत्।
विवादे साक्षिणस्तत्र प्रष्टव्याः प्रतिवादिनः ॥ 164 ॥

वादी के साक्षियों के साक्ष्य के दोषपूर्ण, अविश्वसनीय तथा असत्य प्रतीत होने पर प्रतिवादी के साक्षियों के साक्ष्य को अवश्य महत्त्व देना चाहिए।

न परेण समुद्दिष्टमुपेयात् साक्षिणं रहः।
भेदयेत्तं न चान्येन हीयेतेवं समाचरन्॥ 165 ॥

दोनों—वादी और प्रतिवादी—को एक-दूसरे द्वारा घोषित एक-दूसरे के साक्षियों के साथ न तो एकान्त में गुप्त वार्तालाप करना चाहिए और न ही उन्हें तोड़ने अथवा अपने पक्ष में करने का प्रयास करना चाहिए। प्रशासन को इस प्रकार की कुचेष्टा—दूसरे के साक्षियों को तोड़ना—करने वाले पक्ष को पराजित घोषित कर देना चाहिए।

साक्ष्युद्दिष्टो यदि प्रेयाद् गच्छेद्वापि दिगन्तरम्।
तच्छ्रोतारः प्रमाणं स्युः प्रमाणं ह्युत्तरा क्रिया॥ 166 ॥

विधिशास्त्र में उत्तरक्रिया की प्रामाणिकता का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है—उद्दिष्ट साक्षी के मर जाने पर अथवा विदेश-दूर देश को चले जाने पर उसकी अनुपस्थिति में उसके मुख से सुने वचन को तद्वत् उद्धृत करने वाले उसके किसी निकट सम्बन्धी अथवा मित्र आदि को स्थानापन्न साक्षी के रूप में मान्य करना चाहिए।

सुदीर्घेणापि कालेन लिखितः सिद्धिमाप्नुयात्।
आत्मनैव लिखेज्जानन्नचेदन्येन लेखयेत्॥ 167 ॥

लेन-देन के मामले में बहुत समय बीत जाने पर भी लिखित प्रमाण के उपलब्ध होने पर वसूली की जा सकती है और इनकार करने पर मुक़द्दमा चलाया जा सकता है। यदि व्यक्ति जानकार है, तो स्वयं भी लेन-देन के व्यवहार को लिपिबद्ध कर सकता है और यदि विधि-मान्य भाषा के प्रयोग की अभिज्ञता नहीं, तो विधि द्वारा स्थापित लेखक से लिखाया जा सकता है। दोनों प्रकार के दस्तावेज़—अपने आप लिखा तथा दूसरे से लिखाया गया—समान रूप से मान्य होते हैं।

आष्टमाद्वत्सरात्सिद्धिः स्मारितस्येह साक्षिणः।
आ पञ्चमात्तथा सिद्धिर्यदृच्छोपगतस्य च॥ 168 ॥

साक्षी के रूप में एक बार उद्दिष्ट व्यक्ति आठ वर्षों तक मनोनीत करने वाले पक्ष के द्वारा मान्य माना जाता है। कार्यस्थल पर उपस्थित और प्रशासन द्वारा साक्ष्य के लिए आहूत व्यक्ति भी पांच वर्षों तक साक्ष्य देने के लिए अभिमत माना जाता है।

आ तृतीयात्तथा वर्षात् सिद्धिर्गूढस्य साक्षिणः।
आ संवत्सरतः सिद्धिर्वदन्त्युत्तरसाक्षिणः॥ 169 ॥

गुप्त रूप से ऋण के लेन-देन के साक्षी का साक्ष्य तीन वर्षों तक मान्य रहता है, इस अवधि के उपरान्त उसका साक्ष्य महत्त्वहीन हो जाता है। उत्तर-साक्षी—साक्षी के मुख से उच्चरित को उद्धृत करने वाले—के वचन की प्रामाणिकता एक वर्ष के लिए है, अर्थात् यदि एक वर्ष के भीतर सुने-देखे का विवरण दिया जा रहा है, तो ठीक है, परन्तु यदि सुने-देखे को एक वर्ष से अधिक समय बीत चुका है, तो उसे नितान्त सत्य नहीं माना जा सकता।

अथवा कालनियमो न दृष्टः साक्षिणं प्रति।
स्मृत्यपेक्षं हि साक्षित्वमाहुः शास्त्रविदो जनाः ॥ 170 ॥

कतिपय शास्त्रकारों और विधिवेत्ताओं की यह भी मान्यता है कि साक्ष्य में समय की सीमा को आड़े नहीं आने देना चाहिए। यदि साक्षी चरित्रवान् व सत्यनिष्ठ है, उसके वचन शास्त्र-सम्मत तथा तथ्यों पर आधृत हैं, तो काल की अवधि की उपेक्षा करते हुए उसे यथोचित गौरव देना ही चाहिए।

अभिप्राय यह है सत्यनिष्ठ को महत्त्व देना चाहिए, समय-सीमा को गौण ही मानना चाहिए।

यस्य नोपहता बुद्धिः स्मृतिः श्रोत्रं च साक्षिणः।
सुदीर्घेणापि कालेन स साक्षी साक्ष्यमर्हति॥ 171 ॥

जिस व्यक्ति की बुद्धि, स्मृति और श्रवणशक्ति अप्रतिहत है, जो सभी बातों को ठीक ढंग से यथावत् समझता है, सही तौर पर देखता-सुनता है और जिसे वर्षों-पूर्व घटित घटनाओं की यथावत् स्मृति है, जो कुछ भी नहीं भूला है, समग्रतः जिसकी इन्द्रियां अविकल एवं अक्षुण्ण हैं, ऐसा व्यक्ति कितने भी पुराने मामले में साक्ष्य दे सकता है। ऐसे व्यक्ति के साक्ष्य को समय-सीमा अमान्य नहीं बना सकती।

असाक्षिप्रत्ययास्त्वन्ये षड्विवादाः प्रकीर्तिताः।
लक्षणान्येव साक्षित्वे येषामाहुर्मनीषिणः ॥ 172 ॥

निम्नोक्त छह विवादों में किसी प्रकार के साक्ष्य की कोई आवश्यकता ही नहीं। व्यक्ति के लक्षण (रंगे हाथों पकड़ा जाना) उसके अपराधी होने के प्रत्यक्ष एवं प्रबल प्रमाण होते हैं। विद्वानों ने प्रत्यक्ष चिह्नों को ही साक्षी-रूप में स्वीकार किया है।

उल्काद्धस्तोऽग्निदो ज्ञेयः शस्त्रपाणिस्तु धानकः।
केशाकेशिगृहीतश्च युगपत्पारदारिकः ॥ 173 ॥

छह विवाद इस प्रकार हैं—

1. हाथ में जलती हुई लकड़ी लिये पकड़ा जाने वाला निश्चित रूप से आग लगाने वाला है।

2. हाथ में शस्त्र लिये रहने पर पकड़ा जाने वाला हत्यारा है।

3. हाथ में स्त्री के सिर के केश, वस्त्र, गन्ध आदि लिये रहने वाला परस्त्रीगामी है।

4. तोड़-फोड़ के औज़ारों के साथ पकड़ा जाने वाला सेतुभञ्जक है।

5. कुल्हाड़ी आदि के साथ पकड़ा जाने वाला वृक्षों को काटने वाला है तथा

6. तमतमाये चेहरे वाला दूसरों से मार-पीट करने वाला है।

इस प्रकार के चिह्नों को देखकर किसी अन्य साक्ष्य की अपेक्षा किये बिना इन अपराधियों को तत्काल यथोचित दण्ड देना चाहिए।

कुद्दालपाणिर्विज्ञेयः सेतुभेत्ता समीपगः।
तथाकुठारपाणिश्च वनच्छेत्ता प्रकीर्तितः॥ 174॥

स्मृतिकार इस सम्बन्ध में कुछ सावधानी बरतने की चेतावनी देते हुए कहता है—कभी-कभी फावड़ा हाथ में लिये किसी पुल के पास दीखने वाला व्यक्ति पुलिया का रक्षक—टूट-फूट की मरम्मत करने वाला—और कुल्हाड़ी हाथ में लिये रहने वाला वृक्षों को काटने वाला समझ लिया जाता है। यह धारणा सही हो भी सकती है और सही नहीं भी हो सकती है। अतः सत्य के निर्णय के लिए सतर्कता अपेक्षित रहती है।

प्रत्यक्षचिह्नो विज्ञेयो दण्डपारुष्यकृन्नरः।
असाक्षिप्रत्यया ह्येते पारुष्ये तु परीक्षणम्॥ 175॥

वस्तुतः अपराधी के चेहरे के हाव-भावों, उसकी चेष्टाओं व उसके छिपने के प्रयास आदि प्रत्यक्ष चिह्नों से उसके अपराधी होने का अनुभव हो जाता है, फिर भी सत्य को सुनिश्चित करने के लिए थोड़ी-बहुत पूछताछ अवश्य करनी चाहिए। 'असत्य के पांव नहीं होते' उक्ति के अनुसार अपराध को छिपाना सम्भव नहीं होता और वास्तविकता सामने आ ही जाती है, फिर भी कुछ लोग जहां अपेक्षा से अधिक चतुर होते हैं, वहां कुछ लोग अत्यधिक भोले और सीधे-सादे होते हैं। अतः जांच-परख करना आवश्यक हो जाता है।

कश्चित्कृत्वाऽऽत्मनश्चिह्नं द्वेषात् परमुपद्रवेत्।
हेत्वर्थगतिसामर्थ्यैस्तत्र युक्तं परीक्षणम्॥ 176॥

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कुछ चतुर एवं धूर्त लोग द्वेषवश किसी को फंसाने के लिए अपने शरीर पर कुछ कृत्रिम चिह्न बना देते हैं अथवा प्रताड़ित-पीड़ित सरीखी चेष्टाएं अथवा प्रदर्शन करने लगते हैं। इस स्थिति में वास्तविकता का निर्णय करने के लिए हेतु (कारण), प्रयोजन, सामर्थ्य और गति के आधार पर जांच करनी चाहिए, अर्थात् यह देखना चाहिए कि अपराध का कारण क्या हो सकता है? उद्देश्य अथवा प्रयोजन क्या हो सकता है? अपराधी में अपराध करने

का सामर्थ्य भी है अथवा नहीं ? इसके अतिरिक्त अपराध का स्वरूप क्या है ? क्या सचमुच शिकायत करने वाले को किसी प्रकार की शारीरिक क्षति—सूजन, अंगभंग, रक्त-प्रवाह, घाव आदि—पहुंची भी है अथवा नहीं ?

इन सब तथ्यों पर विचार करने से अनुमान लगाना सम्भव हो जाता है कि अपराधी ने सचमुच अपराध किया है अथवा उस पर मिथ्या आरोप लगाया जा रहा है ?

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।
न दृष्टदोषाः प्रष्टव्याः साक्षिणः प्रतिदूषिताः ॥ 177 ॥

निम्नोक्त व्यक्तियों के वक्तव्य को सत्य के निर्णय के लिए प्रमाण के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, अर्थात् ऐसे लोगों की सत्यनिष्ठा सन्देह के घेरे में आ जाने से इनकी विश्वसनीयता खण्डित हो जाती है और वे साक्षी बनने के योग्य नहीं रहते—

1. कार्य-व्यापार में वर्तमान में सहभागी (पार्टनर) अथवा भूत में रह चुका व्यक्ति।
2. निकट सम्बन्धी अथवा घनिष्ठ मित्र।
3. अधीनस्थ कर्मचारी।
4. शत्रु, जिससे कभी मन-मुटाव अथवा झगड़ा-फ़साद हो चुका है।
5. किसी अन्य व्यवहार में मिथ्या साक्ष्य देने के लिए लाञ्छित नहीं है।
6. लोक में तथा समाज में मिथ्यावादी के रूप में कुख्यात।

दासनैकृतिकाश्राद्धवृद्धस्त्री बाल चाक्रिकाः।
मत्तोन्मत्तप्रमत्तार्तकितव ग्रामयाजकाः ॥ 178 ॥
महापथिकसामुद्रवणिक् प्रव्रजितातुराः।
व्यङ्गैकश्रोत्रियाचारहीनक्लीवकुशीलवाः ॥ 179 ॥
नास्तिक व्रात्य दाराग्नित्यागिनौऽयाज्ययाज्यकाः।
एकस्थालीसहायारिचरज्ञाति सनाभयः ॥ 180 ॥
प्रागदृष्टदोषशैलूषविषजीव्याहिनुण्डिकाः ।
गरदाग्निदकीनाशशूद्रापुत्रौपपातिकाः ॥ 181 ॥
क्लान्तसाहसिकश्रान्तनिर्धनान्त्यावसायिनः ।
भिन्नवृत्तासमावृत्तजडतैलिकमूलिकाः ॥ 182 ॥
भूताविष्टनृपद्विष्टवर्ष नक्षत्रसूचकाः।
अघशंस्यात्मविक्रेतृहीनाङ्गभगवृत्तयः ॥ 183 ॥
कुनखी श्यामदन्तश्च मित्रध्रुक्शठशौण्डिकाः।
ऐन्द्रजालिकलुब्धोग्रश्रेणीगणविरोधिनः ॥ 184 ॥

वधकश्चर्मकृत पङ्गु पतितः कूटकारकः।
कुहकः प्रत्यवसितस्तस्करो राजपुरुषः॥ 185॥
मनुष्यपशुमांसास्थिमधुक्षीराम्बुसर्पिषाम् ।
विक्रेता ब्राह्मणश्चैव द्विजो वार्धूषिकश्च यः॥ 186॥
च्युतः स्वधर्मात् कुलिकः स्तावको हीनसेवकः।
पित्रा विवदमानश्च भेदकृच्चेत्यसाक्षिणः॥ 187॥

निम्नोक्त व्यक्ति साक्षी बनने के योग्य नहीं होते, अतः इन्हें साक्षी नहीं बनाना चाहिए—

1.दास, 2. छल-कपट से व्यवहार करने वाले के रूप में प्रसिद्ध, 3. श्राद्ध के अयोग्य घोषित, अर्थात् आचारभ्रष्ट एवं पतित ब्राह्मण, 4. वृद्ध पुरुष, अर्थात् इन्द्रिय-शक्ति की क्षीणता के कारण असमर्थ बना व्यक्ति अथवा परोपजीवी, 5. स्त्री, 6. बालक, 7.चक्रजीवी—तेली, रथकार तथा शकट-चालक आदि, 8. मत्त—मदिरा आदि के प्रभाव में ग्रस्त, 9. उन्मत्त, अर्थात् विक्षिप्त, 10. प्रमत्त—प्रमादग्रस्त, आलसी, सुस्त, 11. आर्त्त—विपत्ति-ग्रस्त, 12. द्यूतकार, 13. अशिक्षितों एवं ग्रामीणों, अर्थात् निम्न लोगों (अन्त्यजों) का पुरोहित, 14. महापथिक—दूसरे देशों की यात्रा करने वाला, 15. समुद्रजीवी, अर्थात् समुद्र में मिलने वाले जीवों, शंख-सीपी आदि से अपनी आजीविका चलाने वाला—ऐसा व्यक्ति समुद्र में मल-मूत्र विसर्जित करने वाला होने से म्लेच्छ होता है, 16. संन्यासी—उसका कोई निश्चित ठिकाना ही नहीं होता, 17. रोगी, अर्थात् जीवन से निराश, 18. विकलांग—अन्धा, काणा, बहरा, लंगड़ा, 19. एकाकी, मोहमाया से रहित अथवा समाज से निरपेक्ष होने से निराश एवं उदासीन, 20. श्रोत्रिय—वेदपाठी ब्राह्मण—इन पचड़ों को अवाञ्छनीय समझने वाला, 21. आचारहीन, 22. क्लीव (नपुंसक), 23. कुशीलव—नृत्य, गीत, वाद्य, आदि से आजीविका चलाने वाला, अर्थात् दूसरों का मनोरंजन करने वाला, 24. नास्तिक-वेदनिन्दक, 25. जाति-भ्रष्ट—जिसका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ, विद्या का अनधिकारी, 26.अपनी पत्नी का त्याग करने वाला—पालन न कर सकने वाला अथवा क्लीव अथवा निर्मोही अथवा उत्तरदायित्व के निर्वहण को महत्त्व न देने वाला, 27. अग्नि-त्यागी—यज्ञ-यागादि न करने वाला, 28. अयाज्य-याजक, यज्ञ के अनधिकारियों का पुरोहित बनने वाला, 29. एक ही पात्र में भोजन करने वाला, अर्थात् स्वाद, शालीनता आदि से विमुख, 30. अपने मित्र का शत्रु, 31. सन्देशवाहक अथवा गुप्तचर, 32.जाति-बन्धु—बुआ, मासी, चाचा तथा मामा की सन्तति, 33. दृष्टदोष—पूर्व से ही दुष्ट के रूप में ज्ञात, 34. नर्तक, 35. विषजीवी—विषैले द्रव्यों का व्यापारी, 36. सर्प आदि भयंकर जीवों को पकड़ने अथवा उनसे आजीविका चलाने वाला, 37. विषदाता—दूसरों

को विष देकर-खिलाकर उनकी हत्या करने वाला, 38. दूसरों की सम्पत्ति (घर, दुकान) को आग लगाने वाला, 30. पशुओं की हिंसा से आजीविका चलाने वाला, 40. शूद्रा का पुत्र, 41. छोटे-बड़े पाप करने वाला, 42. खिन्न, निराश तथा अशान्त मन वाला, 43. डाकू-लुटेरा, 44. थका-मांदा रहने वाला, 45. चाण्डाल आदि, 46. निर्धन, अभावग्रस्त, 47. अपने वंश-परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर दूसरे किसी व्यवसाय को अपनाने वाला, 48. असमावृत्त—अपने स्तर से भिन्न, उच्च अथवा निम्न वृत्ति को अपनाने वाला, 49. जड़-अविकसित बुद्धि, 50. तैलिक—घी, तेल आदि का क्रय-विक्रय करने वाला, 51. विद्याचोर, अर्थात् गुरुकुल में प्रवेश लिये बिना और शुल्क चुकाये बिना गुप्त रूप से विद्या ग्रहण करने वाला, 52. भूत-प्रेत से घिरा, 53. राजद्रोही, 54. ग्रह-नक्षत्रों को बताकर आजीविका कमाने वाला—फलित ज्योतिषी, 55. अप्रासंगिक—ऊटपटांग बोलने वाला, 56. अपने को बेचने वाला—दासवृत्ति को अपनाने वाला, 57. अंगविहीन—एक हाथ, एक टांग आदि का न होना, 58. पेट भरने के लिए पत्नी से वेश्यावृत्ति कराने वाला, 59. मैला-कुचैला रहने वाला, गन्दे नाख़ूनों वाला, 60. तम्बाकू आदि के अधिक सेवन से काले हो गये दांतों वाला, 61. मित्रद्रोही, 62. शठ—दुष्ट प्रकृति, धूर्त, 63. मद्यविक्रेता, 64. जादूगर, 65. लोभी, 66. कठोर एवं निर्मम प्रकृति, 67. जाति-पांति का विरोधी, 68. समाज में प्रतिष्ठित वर्ण-व्यवस्था का विरोधी, 69. हत्यारा, 70. चर्म-व्यवसायी, 71. पंगु, 72. पतित, 73. कूटकर्म करने वाला, अर्थात् चोरी-छिपे लोगों की हत्या करने वाला, 74. जादू-टोना करने वाला, 75. तस्कर—अवैध व्यापारी, 76. राजपुरुष—सरकारी कर्मचारी, 77. मनुष्य के मांस का विक्रेता, 78. पशुमांस विक्रेता-क़साई, 79. अस्थि-व्यापारी, 80. मधुविक्रेता 81. क्षीरविक्रेता, 82. जलविक्रेता, 83. घृतविक्रेता, 84. वेद विक्रयी—धन लेकर वेद पढ़ाने वाला, 85. ब्याज लेने वाला—ब्याज को आजीविका का साधन बनाने वाला—द्विज, 86. धर्मभ्रष्ट, 87. शिल्पी, 88. सूत, मागध आदि आश्रयदाताओं की स्तुति करने वाला, 89. हीन (अयोग्य, शूद्र अथवा पतित) की सेवा करने वाला, 90. पिता के साथ विवाद करने वाला, 91. परिवार में फूट डालने वाला।

ये सब विवश अथवा पतित अथवा भ्रष्ट होने के कारण अविश्वसनीय होते हैं, अतः इनका साक्ष्य सर्वथा निरपेक्ष एवं सत्य पर आश्रित नहीं माना जा सकता। बिकने वाले अथवा ख़रीदे जा सकने वाले व्यक्ति से सत्य पर टिकने की आशा की ही नहीं जा सकती।

असाक्षिणो ये निर्दिष्टा दासनैकृतिकादयः।
कार्यगौरवमासाद्य भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ 188 ॥

ऊपर दासों और भ्रष्ट-चरित्र व्यक्तियों के साक्षी न होने का उल्लेख किया

गया है, परन्तु प्रचलित कहावत—'कीचड़ में कमल भी उत्पन्न होता है' अथवा 'कोयले की खान में कभी-कभी हीरा भी मिल जाता है,' अर्थात् छोटे अथवा बुरे व्यक्तियों में भी अपवाद-रूप में भी चारित्रिक उत्कर्ष देखने को मिल जाता है। ऐसे अपवाद बने सेवक और कुख्यात व्यक्ति भी विशेषतया अन्य साक्षियों के अभाव में साक्षी बनाये जा सकते हैं और इनके साक्ष्य को मान्यता दी जानी चाहिए।

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च।
पारुष्ययोश्चाप्युभयोर्न परीक्षेत् साक्षिणः॥ 189॥

व्यक्तिगत चरित्र के अतिरिक्त एक अन्य विचारणीय तथ्य यह भी है कि चोरी, डाका, छीना-झपटी, गाली-गलौच और मारपीट के मामलों के साक्षी तो वहां उपस्थित रहने वाले चोर-डाकू आदि ही हो सकते हैं। भले आदमी तो ऐसी घटनाओं से दूर रहने में ही अपना हित समझते हैं। वे तो घटनास्थल के समीप फटकते ही नहीं। अतः इस प्रकार के मामलों में साक्षी बनने वाले व्यक्तियों के चरित्र की परीक्षा नहीं करनी चाहिए, अन्यथा साक्ष्य का उपलब्ध होना ही दुर्लभ हो जायेगा।

तेषामपि न बालः स्यान्न स्त्री नैको न कूटकृत।
न बान्धवो न चारातिब्रूयुस्ते साक्ष्यमन्यथा॥ 190॥

उपर्युक्त चोरी, डाका आदि मामलों में बालक, स्त्री, अपराधी मनोवृत्ति का होने से आंख चुराने वाला, सामना न कर सकने वाला, बन्धु-बान्धव और शत्रु आदि साक्षी नहीं बन सकते। इनके साक्ष्य की अप्रामाणिकता के कारण का उल्लेख अगले पद्य में किया गया है।

बालोऽज्ञानादसत्यात्स्त्री पापाभ्यासाच्च कूटकृत्।
बिब्रुयात्बान्धवः स्नेहाद्वैरनिर्यातनादरिः॥ 191॥

बालक लगभग अनजान होता है, स्त्रियों में असत्य-भाषण की प्रवृत्ति होती है तथा वे स्वभाव से भीरु होती हैं, कूटाचारी का जीवन पापमय होता है, उसे तो सत्य-असत्य का विचार ही नहीं रहता, उसे दूसरों को लड़ाने-भिड़ाने में ही आनन्द आता है, बन्धु-बान्धवों से अनुराग और आसक्ति के कारण तथा विरोधी शत्रु के द्वेष-भाव रखने के कारण तथा शत्रु को यातना देने को तत्पर होने के कारण दोनों से यथार्थ कथन की अपेक्षा की ही नहीं जा सकती। रोग अथवा द्वेषग्रस्त व्यक्ति निरपेक्ष हो ही नहीं सकता।

उभयानुमतो यः स्याद्द्वयोर्विवदमानयोः।
असाक्षिकोऽपि साक्षित्वे प्रष्टव्यः स्यात् स संसदि॥ 192॥

न्यायाधिकारी को साक्ष्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त एवं अपात्र, परन्तु विवाद

में उलझे दोनों पक्षों को एक-समान मान्य व्यक्ति से मामले के सम्बन्ध में पूछताछ करनी चाहिए और उसके साक्ष्य को यथोचित महत्त्व देना ही चाहिए।

यस्त्वात्मदोषभिन्नत्वादस्वस्थ इव लक्ष्यते।
स्थानात् स्थानान्तरं गच्छेदेकैकं चानुधावति॥ 193॥
क्रासत्यनिभृतोऽकस्मादभीक्ष्णं निश्वसत्यपि।
भूमिं लिखति पादाभ्यां बाहु वासो धुनोति च॥ 194॥
भिद्यते मुखवर्णोऽस्य ललाटं विद्यते तथा।
शोषमागच्छतश्चोष्ठादूर्ध्वं तिर्यक् च वीक्षते॥ 195॥
त्वरमाण इवाकस्मादपृष्टो बहु भाषते।
कूटसाक्षी स विज्ञेयस्तं पापं विनयेन्नृपः॥ 196॥

कूटसाक्षी को परिभाषित करते हुए स्मृतिकार का कथन है—

1. अपने दोष के प्रकट हो जाने की आशंका से भयभीत होना।
2. किसी एक स्थान पर टिक न पाने तथा इधर-उधर भटकने वाला होना।
3. अस्वस्थ एवं असंयत दीखना।
4. एक-एक व्यक्ति की टोह लेना।
5. लोगों के मौन से घबराना।
6. क्षण-प्रतिक्षण दीर्घ श्वास लेना, पैरों से धरती को कुरेदना और धरती पर कुछ लिखना।
7. अकारण ही अपनी भुजाओं और वस्त्रों को ऊपर-नीचे करते रहना।
8. चेहरे के रंग का उड़ना।
9. माथे पर पसीना आना।
10. कण्ठ शुष्क हो जाना।
11. पागलों के समान दीखना।
12. बुद्धि में चञ्चलता का भाव आना।
13. छोटे-से प्रश्न का लम्बा-चौड़ा उत्तर देना।

उपर्युक्त लक्षणों वाले व्यक्ति को कूटसाक्षी—झूठी गवाही देने वाला—समझना चाहिए और राजा अथवा सम्बद्ध अधिकारी द्वारा उसे ऐसा कठोर दण्ड देना चाहिए, जिससे दूसरे ऐसे दुस्साहसपूर्ण दुष्कर्म के सम्बन्ध में सोच भी न सकें।

श्रावयित्वा तथान्येभ्यः साक्षित्वं यो विनिह्नुते।
स विनेयौ भृशतरं कूटसाक्ष्यधिको हि सः॥ 197॥

साक्ष्य के लिए अपनी सहमति-स्वीकृति देने के उपरान्त साक्ष्य के समय इनकार करने वला, अकारण अनुपस्थित रहने वाला अथवा टालमटोल एवं बहानेबाज़ी करने वाला कूटसाक्षी से भी बड़ा अपराधी होता है। राजा को ऐसे दुष्ट व्यक्ति को

भी अनुशासन बनाये रखने के लिए अत्यन्त कठोर दण्ड देना चाहिए।

आहूय साक्षिणः पृच्छेन्नियम्य शपथैर्भृशम्।
समस्तान् विदिताचारान् विज्ञातार्थान् पृथक् पृथक्॥ 198॥

साक्षियों के सच्चरित्र तथा उनकी सत्यनिष्ठा से भली प्रकार परिचित होने पर भी न्यायाधिकारी को प्रत्येक साक्षी को अलग-अलग बुलाकर और घुमा-फिराकर उनसे प्रश्न पूछने चाहिए। यहां तक कि उन्हें सत्य बोलने की शपथ दिलाकर वास्तविकता को सुनिश्चित करने की अपनी ओर से भरसक चेष्टा करनी चाहिए।

कभी-कभी सदाचारी व्यक्ति भी किसी विवशता—भय, लोभ, मोह, राग, द्वेष तथा प्रतिशोध की भावना—के कारण असत्य-भाषण करने लगता है। अच्छी तरह न टटोले जाने पर उसे अपने उच्च चरित्र का अनुचित लाभ मिल जाता है। अतः किसी व्यक्ति के सच्चरित्र होने के झांसे में आकर उसके वक्तव्य पर सहसा विश्वास नहीं कर लेना चाहिए।

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वेस्तु पातकैः॥ 199॥

साक्ष्य के लिए उपस्थित होने वाले ब्राह्मण को सत्य की, क्षत्रिय को अश्व, गज, रथ आदि वाहनों तथा धनुष, खड्ग आदि आयुधों की, वैश्य को गाय आदि पशु, धान्य तथा स्वर्ण आदि की और शूद्र को सभी पापों से आविष्ट होने की शपथ दिलानी चाहिए। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण को इस प्रकार शपथ लेनी चाहिए—मैं अपना साक्ष्य सत्यनिष्ठा से प्रस्तुत करूंगा, मेरे मिथ्या-भाषण करने पर मैं सत्य से पतित हो जाऊं। इसी प्रकार क्षत्रिय को कहना चाहिए—मैं अपने वाहनों और आयुधों की शपथ लेता हूं कि साक्ष्य में जो कहूंगा, सत्य कहूंगा, सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं कहूंगा। मेरे असत्य-भाषण का अर्थ मेरा वाहनों और आयुधों से वञ्चित होना होगा। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र को भी शपथ लेनी चाहिए, अर्थात् सत्य-भाषण के प्रति समर्पित होने का संकल्प प्रकट करना चाहिए।

पुराणैर्धर्मवचनैः सत्यमाहात्म्यकीर्तनैः।
अनृतस्यापवादैश्च भृशमुत्रासयेदिमान्॥ 200॥

न्यायाधीश द्वारा साक्ष्य के लिए उपस्थित व्यक्तियों को सत्य-भाषण से यश, सम्मान और गौरव की वृद्धि सम्बन्धी तथा इसके विपरीत भाषण से अपयश, लोकनिन्दा तथा मानहानि होने सम्बन्धी, कुछ प्राचीन इतिहास, पौराणिक आख्यान तथा अन्यान्य कथापरक उद्धरण एवं उदाहरण आदि सुनाकर उन्हें असत्य-भाषण के लिए निरुत्साहित एवं सत्य-भाषण के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करना चाहिए।

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः।
अन्धः शत्रुगृहं गच्छेद् यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥ 201॥

न्यायाधिकारी को साक्ष्य के लिए उपस्थित व्यक्तियों को चेतावनी के स्वर में

प्रबोधित करते हुए कहना चाहिए—मिथ्या साक्ष्य देने वाले को नंगा, गंजा, भूखा और प्यासा होकर दु:ख भोगना पड़ता है, उसे अपनी क्षुधा-निवृत्ति के लिए हाथ में कपाल लेकर भीख मांगने को विवश होना पड़ता है। झूठी गवाही देने वाले को अन्धा होना पड़ता है और यहां तक कि शत्रु के घर की चाकरी तक करनी पड़ जाती है।

नग्नो मुण्डः कपालेन परद्वारे बुभुक्षितः।
अमित्रान् भूयशः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत्॥ 202॥

मिथ्या साक्ष्य देने वाले को अभावग्रस्त जीवन जीना पड़ता है, उसे वस्त्रहीन (नंगा) सिर मुंडा फ़क़ीर बनकर अपनी भूख मिटाने के लिए शत्रु के घर से भीख मांगने को विवश होना पड़ता है। ऐसे दुर्दशाग्रस्त व्यक्ति को पग-पग पर अपने शत्रुओं का सामना करना पड़ता है, अर्थात् उसे लज्जित एवं अपमानित होना पड़ता है।

यां रात्रिमधिविन्नास्त्री यां चैवाक्षपराजितः।
यां च भाराभितप्ताङ्गो दुर्विवक्ता स तां वसेत्॥ 203॥

जिस प्रकार पुरुष द्वारा दूसरी स्त्री को अपनाने पर उसकी पत्नी असह्य वेदना से व्यथित हो उठती है, अर्थात् उसकी आंखों से नींद ग़ायब हो जाती है, उसके लिए रात्रि का एक-एक पल बिताना एक समस्या का रूप ले लेता है, वह जल बिन मछली के समान तड़पती है, जिस प्रकार द्यूत में सब कुछ हार चुके व्यक्ति की सुख-शान्ति काफ़ूर हो जाती है, ऋण उतारने की चिन्ता उसे कहीं का नहीं रखती, जिस प्रकार सामर्थ्य से अधिक भार उठाने वाले श्रमिक के लिए एक-एक पग चलना और लक्ष्य पर पहुंचना कष्टसाध्य हो जाता है, उसी प्रकार झूठा साक्ष्य देने वाला कभी सुख-शान्ति का जीवन नहीं जी सकता। उसका अपराध-बोध उसे कहीं चैन से बैठने नहीं दे सकता।

साक्षी साक्ष्ये समुद्दिशन् गोकर्णशिथिलं वचः।
सहस्रं वारुणान् पाशान् भुङ्क्त स बन्धाद्ध्रुवम्॥ 204॥

जो भी व्यक्ति साक्ष्य के लिए न्यायालय में उपस्थित होकर दृढ़ता और विश्वास के साथ अपना साक्ष्य न देकर शिथिलता बरतता है, गाय के कान के समान केवल उपस्थिति दर्ज कराता है, 'हां' 'न' में उत्तर देकर साक्ष्य को स्पष्ट वाणी नहीं देता, ऐसा व्यक्ति वरुणदेव की दृष्टि में अपराधी है। वरुणदेव उसे अपने हज़ारों पाशों से बांधकर असीम दु:ख देते हैं।

तस्य वर्षशते पूर्णे पाश एव प्रमुच्यते।
तदा पाशादविनिर्मुक्तः स्त्री सम्भवति मानवः॥ 205॥

मिथ्या-साक्ष्य देने वाला वरुण के क्रोध का पात्र बनता है और सौ वर्षों तक

उनके कठोर पाशों में बंधा विषम दु:ख भोगता है। इस अवधि के उपरान्त भी वह पाशमुक्त होने के लिए स्त्री की योनि में उत्पन्न होकर पराधीनता के कष्टपूर्ण जीवन को बिताने पर विवश होता है।

एवं सम्बन्धनात् तस्मान्मुच्यते नियताच्च सः।
पशुगोऽश्वपुरुषाणां हिरण्यं भूर्यथाक्रमम्॥ 206॥

पशु—गौ, अश्व—आदि, मनुष्य, स्वर्ण तथा भूमि सम्बन्धी विवाद में मिथ्या-साक्ष्य के लिए मनुष्य को परलोक में कौन-कौन से दण्ड भुगतने पड़ते हैं—इसकी चर्चा अगले पद्यों में की जा रही है। इतना तो निश्चित ही है कि मिथ्यासाक्षी वरुणदेव के पाशों में बंधकर दीर्घकाल तक असह्य वेदना का शिकार बनता है।

यावतो बान्धवांस्तस्मिन् हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्।
तावतः सम्प्रवक्ष्यामि शृणु सौम्यानुपूर्वशः॥ 207॥

मिथ्यासाक्षी अपने पाप से अपने वंश के कितने पूर्वजों को, किस प्रकार कलंकित करता है, उन्हें नरक-यातना सहन करने का उत्तरदायी बनाता है, इसका विवरण कुछ इस प्रकार से है—

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्त्रं पुरुषानृते॥ 208॥

बकरी आदि पशु सम्बन्धी विवाद में मिथ्या-साक्ष्य देने के अपराध के दण्ड के रूप में उसके पांच बान्धवों—माता, पिता, पत्नी, सन्तान तथा स्वयं वह—की मृत्यु हो जाती है। गाय के विषय में मिथ्या-साक्ष्य का दण्ड तो दस बान्धवों—पांच वर्तमान—माता, पिता आदि तथा पांच पूर्वपुरुषों—को भुगतना पड़ता है। अश्व के विवाद में झूठी गवाही का दण्ड सौ सम्बन्धियों का पतन तथा पुरुष—दास, स्त्री आदि—के विवाद में मिथ्या-साक्ष्य का दण्ड हज़ार सम्बन्धियों का नरकवास है।

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः॥ 209॥

इसी प्रकार स्वर्ण सम्बन्धी विवाद में मिथ्या-साक्ष्य का दण्ड झेलना पड़ता है। भूमि-सम्बन्धी विवाद में तो पूरे वंश का सर्वनाश हो जाता है। अतः भूमि के विषय में तो कभी मिथ्या-साक्ष्य का सोचना तक नहीं चाहिए।

एकमेवाद्वितीयं तत् प्राहुः पावनमात्मनः।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥ 210॥

जिस प्रकार नदी को पार करने का एकमात्र सुनिश्चित साधन नौका है, उसी प्रकार आत्मा को पवित्र करने वाला साधन सत्य है, सत्य ही स्वर्ग का सोपान है। अतः व्यक्ति को राग-द्वेष तथा लोभ-मोह आदि किसी भी कारणवश सत्य का

परित्याग कभी नहीं करना चाहिए; क्योंकि यही एकमात्र अद्वितीय और सुनिश्चित सम्बल है।

अश्वमेधसहस्त्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्त्रात्तु सत्यमेव विशिष्यते॥ 211॥

यदि तुला के एक पलड़े पर सैकड़ों अश्वमेधादि यज्ञों के फल को रखा जाये और दूसरे पलड़े में सत्य को रखा जाये, तो निश्चित समझिये कि सत्य का पलड़ा ही भारी पड़ेगा। इस प्रकार सत्य-भाषण का फल अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न करने से भी कहीं अधिक है।

वरं कूपशताद्वापी वरं वापीशतात् क्रतुः।
वरं क्रतुशतात् पुत्रः सत्यं पुत्रशताद् वरम्॥ 212॥

सौ कूपों को खुदवाने की अपेक्षा एक वापी का खुदवाना अधिक उत्तम है, सौ वापियों की अपेक्षा वेदविहित यज्ञ को सम्पन्न करने का फल अधिक है, सौ यज्ञों को सम्पन्न करने की अपेक्षा एक पुत्र को जन्म देना अधिक सार्थक है और सौ पुत्रों का पिता बनने की अपेक्षा सत्य का दृढ़ता से पालन करना अधिक फलदायक है।

भूर्धारयति सत्येन सत्येनोदेति भास्करः।
सत्येन वायुः प्लवते सत्येनापः स्त्रवन्ति च ॥ 213॥

सत्य के बल पर ही पृथिवी जगत् को धारण करती है, सत्य की शक्ति से सूर्य उदित है, वायु प्रवाहित होता है तथा जल नीचे की ओर सरकता है। सत्य की महिमा अनन्त एवं अपार है।

सत्यमेव परं दानं सत्यमेव परं तपः।
सत्यमेव परो धर्मो लोकानामिति नः श्रुतम्॥ 214॥

महर्षियों एवं सिद्ध महात्माओं ने सत्य को ही सर्वोत्तम दान, श्रेष्ठ तप एवं उत्कृष्ट धर्म माना है। श्रुति ने भी इस तथ्य का समर्थन किया है।

सत्यं देवाः समासेन मनुष्यास्त्वनृतं स्मृतम्।
इहैव तस्य देवत्वं यस्य सत्ये स्थिता मतिः॥ 215॥

सत्य की महिमा को संक्षेप में तथा निष्कर्ष-रूप में कहना चाहें, तो यही कहा जा सकता हैं कि देवता सत्य-रूप हैं और मनुष्य असत्य-रूप है। सत्य के कारण ही देवों का देवत्व है और मनुष्यलोक की अपेक्षा देवलोक की महत्ता एवं प्रतिष्ठा है। सत्य में मति होने के कारण ही देवता मनुष्यों से ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हैं।

सत्यं ब्रूह्यनृतं त्यक्त्वा सत्येन स्वर्गमेष्यसि।
उक्त्वानृतं महाघोरं नरकं प्रतिपत्स्यसे॥ 216॥

यह सब सुनाने के उपरान्त न्यायाधीश को साक्ष्य के लिए उपस्थित व्यक्तियों

को सम्बोधित करते हुए कहना चाहिए—सज्जनो! आप लोग असत्य का तथा छल-कपट का, किसी प्रकार के गोपन के प्रयास का सर्वथा परित्याग करके सत्य—यथाश्रुत एवं यथादृष्ट, अर्थात् यथार्थ—का वर्णन करें। सत्य को धारण करने से आप लोगों के मन को शान्ति मिलेगी और मरणोपरान्त स्वर्गलोक के रूप में सद्गति होगी। इसके विपरीत मिथ्या-भाषण करने का अर्थ न्याय की हत्या करना होगा। इस अपराध का दण्ड मानसिक शान्ति की समाप्ति, लोक में अपकीर्ति, न्याय न पाने वाले की हाय और मरणोपरान्त दुर्गति—नरकगमन—होगा।

नरकेषु च ते शश्वज्जिह्वामुत्कृत्य दारुणाः।
असिभिः शातयिष्यन्ति बलिनो यमकिङ्कराः॥ 217॥

शास्त्र के इस वचन को कभी नहीं भूलना कि यमराज के निर्मम, बलवान्, भयंकर एवं आतंककारी सेवक झूठ बोलने वालों की जीभ काट डालते हैं और तलवार से उनके शरीर को काटकर भरता बना देते हैं।

शूलैर्भेत्स्यसि चाक्रम्य क्रोशन्तमपरायणम्।
अवस्थितं समुत्कृत्य क्षेप्स्यन्ति त्वां हुताशने॥ 218॥

यमराज के क्रूर एवं आततायी सेवक झूठ बोलने वालों को शूलों से बींधकर और उन्हें खण्ड-खण्ड करके कुछ टुकड़े गिद्धों-कौओं को फेंक देते हैं और कुछ टुकड़े आग में फेंक देते हैं।

अनुभूय च तास्तीव्राश्चिरं नरकवेदनाः।
रह यास्यसि पापासु गृध्रकाकादियोनिषु॥ 219॥

मिथ्या-साक्ष्य देने वाले दुष्ट व्यक्ति नरक में दीर्घकाल तक अनेक घोर एवं विषम कष्टों को भोगने के उपरान्त गिद्ध, कौए आदि निकृष्ट पक्षियों की योनि में जन्म लेते हैं और दुःख झेलते हैं।

ज्ञात्वैताननृते दोषान् ज्ञात्वा सत्ये च सद्गुणान्।
सत्यं वदोद्धरात्मानं नात्मानं पातय स्वयम्॥ 220॥

अतः बन्धुओ! सत्य के गुणों और असत्य के दोषों को भली प्रकार समझ कर असत्य का परित्याग करो और सत्य को दृढ़ता से ग्रहण करो। अपनी आत्मा का उद्धार करना अथवा अपने को पतन के गर्त में डुबोना आपके अपने ही हाथ में है।

न बान्धवा न सुहृदो न धनानि महान्त्यपि।
अलं धारयितुं शक्तास्तमस्युग्रे निमज्जतः॥ 221॥

असत्य-भाषण करके स्वयं अपने आपको गहरे अन्धकार में धकेलने वाले की उसके आत्मीय बन्धु-बान्धव, हित-चिन्तक मित्र तथा विपुल धन-सम्पदा तथा समृद्ध-साधन आदि कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। उसके उद्धार में किसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकते।

पितरस्त्ववलम्बन्ते त्वयि साक्षित्वमागते।
तारयिष्यति किं तस्मात् किं चायं पातयिष्यति॥ 222॥

साक्ष्य के लिए उपस्थित आप लोगों की ओर आपके पितर बड़ी उत्सुकता से देख रहे हैं कि हमारी सन्तति हमारे नाम को उज्ज्वल करती है कि हमें अपमानित करती है। आपके सत्य बोलने से आपके पितर प्रसन्न होंगे और उन्हें सुख मिलेगा। इसके विपरीत आपके मिथ्या-भाषण से वे भी आत्मग्लानि तथा लज्जा से अपना सिर झुकाने को विवश होंगे। आपके पितर निकृष्ट आचरण वाली पीढ़ी को देखकर दुखी और खिन्न होंगे। अब यह आपके अपने हाथ में है कि आप अपने पितरों को तृप्त करते हैं कि सन्तप्त करते हैं।

सत्यमात्मा मनुष्यस्य सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।
सत्यमुक्त्वात्मनात्मानं श्रेयसा सन्नियोजय॥ 223॥

अपनी आत्मा की ध्वनि को सुनिये। आत्मा सत्स्वरूप परमात्मा का अंश होने से सत्य है। सत्य के बल पर ही धरती स्थिर है। सत्य-भाषण के द्वारा आप अपनी आत्मा को श्रेय के साथ जोड़कर अपना ही हित करेंगे। आप लोग मिथ्या-भाषण करके अपने पांवों पर कुल्हाड़ी मारने की भूल कदापि न कीजिये।

यस्यां रात्रावजनिष्ठा यस्यां रात्रौ मरिष्यसि।
वृथा तदन्तरं तुभ्यं साक्ष्यं चेदन्यथा कृथाः॥ 224॥

आपके द्वारा मिथ्या-भाषण का अर्थ—अमूल्य मानव-जीवन को सर्वथा नष्ट करना होगा। जन्म से मृत्यु की मध्यावधि में किये गये आपके सभी शुभकर्म आपके मिथ्या-साक्ष्य देते ही तत्क्षण भस्म हो जायेंगे और आप घोर पापी बन जायेंगे।

ब्रह्मघ्नस्य तु ये लोका ये च स्त्री बालघातिनाम्।
ये च लोकाः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो यथा॥ 225॥

इस तथ्य का कभी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि मिथ्या-साक्ष्य देने वालों को ब्रह्महत्या करने वाले, अबला का वध करने वाले, अबोध बालक की हत्या करने वाले और कृतघ्न व्यक्तियों को मिलने वाले घने अन्धकार से घिरे अत्यन्त दुर्गन्धित नरकों की प्राप्ति होती है।

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
साक्षिधर्मे विशेषेण सत्यमेव वदेदतः॥ 226॥

सत्य से बड़ा कोई दूसरा धर्म और असत्य से बड़ा कोई दूसरा पाप इस धरती पर है ही नहीं। साक्षियों के लिए तो सत्य-भाषण का विशेष महत्त्व है, अतः मेरा आपसे सत्य बोलने का पुनः-पुनः अनुरोध है।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में पुराण में कहा गया है—

साक्षी साक्ष्य देते समय सत्य-भाषण करता है अथवा असत्य बोलता है— इसे कुबेर, आदित्य, वरुण, इन्द्र तथा वैवस्वत आदि देवता तथा सभी लोकपाल अपनी दिव्य दृष्टि से देखते रहते हैं। अतः व्यक्ति इस लोक के प्राणियों से भले ही वास्तविकता को छिपा ले, परन्तु अन्तर्यामी, सर्वज्ञ परमात्मा एवं उसके दिव्य पुत्रों- देवों आदि से तो कुछ भी छिपाना सम्भव नहीं। इस तथ्य को जानने के उपरान्त भी मिथ्या-साक्ष्य देने वाले को तो निपट मूर्ख ही मानना होगा।

यः परार्थे प्रहिणुयात् स्वां वाचं पुरुषार्थमः।
आत्मार्थे किं न कुर्यात् स पापो नरकनिर्भयः॥ 227॥

दूसरों के लिए अपनी वाणी को कलुषित करने वाले को नीच, विवेकहीन और अधम पुरुष न कहा जाये, तो क्या कहा जाये? यहां यह भी विचारणीय हो जाता है कि दूसरों के लिए पापाचरण करने वाला भला अपने हित-साधन के लिए किस प्रकार निकृष्ट कार्य नहीं कर सकता? ऐसे आदमी पर भला कौन भरोसा करेगा?

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिस्सृता।
यो हि तां स्तेनयेद्वाचं ससर्वस्तेयकृन्नरः॥ 228॥

विश्व के सभी व्यापार—लेन-देन, सम्बन्ध-योजना, शिक्षा-दीक्षा तथा शाप-वरदान आदि—वाणी के ही विषय हैं। वाणी से उच्चरित शब्दों में ही अर्थ निहित रहते हैं। मनुष्य के मन के भाव वाणी द्वारा ही निकलते-प्रकट होते हैं। इस प्रकार वाक्इन्द्रिय का अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा विशेष महत्त्व है। इस वाक्इन्द्रिय का दुरुपयोग करने वाला, अर्थात् मिथ्या-भाषण करने वाला सभी पदार्थों के हरण के पाप का भागी होता है।

साक्षिविप्रतिपत्तौ तु प्रमाणं बहवो यतः।
तत्साम्ये शुचयो ग्राह्यस्तत्साम्ये स्मृतिमत्तराः॥। 229॥

साक्षियों के साक्ष्य में अन्तर पाये जाने पर सत्य के निर्णय के लिए प्रमाणों का निरीक्षण-परीक्षण करना चाहिए। प्रमाणों में एकरूपता मिलने पर ही साक्ष्य की पवित्रता को स्वीकार करना चाहिए। प्रमाण उपलब्ध न होने पर सुप्रसिद्ध पवित्र आचरण वालों की स्मरणशक्ति को आधार बनाकर सत्य पर पहुंचने का प्रयास करना चाहिए।

स्मृतिमत्साक्षिसाम्यं तु विवादे यत्र दृश्यते।
सूक्ष्मत्वात् साक्षिधर्मस्य साक्ष्यं व्यावर्तते ततः॥ 230॥

तीव्र स्मृति वाले सदाचारी साक्षियों के कथन में एकरूपता पाये जाने पर सत्य के निर्णय में सुविधा होती है। क्षीण स्मृति वाले लोगों को साक्षी बनने का अधिकार ही नहीं। ऐसे लोगों को साक्ष्य देने के पचड़े में पड़ना ही नहीं चाहिए; क्योंकि वे

तो इसके पात्र ही नहीं। जब उन्हें ठीक से कुछ याद ही नहीं रहता, तो फिर वे सही तथ्यों को प्रस्तुत ही कैसे कर सकते हैं?

स्वसाक्षिवर्जितो यस्तु दैववादी कथञ्चन।
उद्धारं तस्य नेच्छन्ति दिव्येनापि मनीषिणः॥ 231॥

साक्षी को साक्ष्य देने से रोकने वाले व्यक्ति को धर्म पर आस्था और ईश्वर पर विश्वास रखने वाला माना ही नहीं जा सकता; क्योंकि साक्ष्य तो विवाद-निर्णय में सहायक होने के कारण धर्मकार्य है और उसमें बाधा डालना तो बड़ा भारी पाप है। धर्म और न्याय इस पापकर्म की अनुमति नहीं देते, अपितु इसे दण्डनीय अपराध मानते हैं।

निर्दिष्टेष्वर्थजातेषु साक्षी चेत् साक्ष्य आगते।
न ब्रूयादक्षरसमं न तन्निगदितं भवेत्॥ 232॥

निर्दिष्ट विषयों में साक्ष्य देने के लिए उपस्थित व्यक्ति अपने वक्तव्य की सत्यता को सिद्ध करने के लिए समुचित प्रमाण नहीं जुटा पाता। ऐसे साक्षी की उपस्थिति को भी अनुपस्थिति के रूप में ही लेना चाहिए; क्योंकि ऐसे व्यक्ति ने आकर भी विवाद-निर्णय में कुछ सहयोग नहीं किया।

देशकालवयो द्रव्य प्रमाणाकृतिजातिषु।
यत्र विप्रतिपत्तिः स्यात् साक्ष्यं तदपि चान्यथा॥ 233॥

साक्षी द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य में और वास्तविक रूप में सम्बद्ध घटना के घटित होने के स्थान, समय, सम्बद्ध व्यक्ति की आयु, जाति तथा आकृति और विवाद का विषय बनी धन-राशि के परिमाण आदि के सम्बद्ध में उलट-फेर मिलने पर साक्ष्य को असिद्ध और अमान्य घोषित कर देना चाहिए; क्योंकि ऐसे साक्ष्य को वास्तविकता से परिचित माना ही नहीं जा सकता।

ऊनं वाप्यधिकं वार्थं प्रब्रूयत्र साक्षिणः।
तदप्यनुक्तं विज्ञेयमेष साल्यविधि स्मृतः॥ 234॥

साक्ष्य-स्वीकृति का यह भी नियम अथवा विधान है कि लेन-देन में आयी और विवाद का विषय बनी धन-राशि के परिमाण को यथार्थ रूप में बताने के स्थान पर न्यूनाधिक बताने वाले साक्षी के वक्तव्य को भी पूर्णतः अमान्य एवं असिद्ध घोषित कर देना चाहिए।

प्रमादाद्धनिनो यत्र न स्याल्लेख्यं न साक्षिणः।
अर्थ चापह्नुते वादी तत्रोक्तस्त्रिविधो विधिः॥ 235॥

उत्तमर्ण धनिक ने अधमर्ण को ऋण देते समय प्रमादवश न तो लिखा-पढ़ी की है और न ही किसी को साक्षी बनाया है, विश्वास पर धन दे दिया है और अब अधमर्ण ने विश्वास भंग करते हुए ऋण लेने को नकार दिया है। इस स्थिति में

उत्तमर्ण के विवाद की सत्यता को सिद्ध करने की निम्नोक्त तीन विधियां हैं।

चोदना प्रतिकालं च युक्तिलेशस्तथैव च।
तृतीयः शपथः प्रोक्तस्तैरेवं साधयेत् क्रमात्॥ 236॥

प्रथम विधि है—ऋण के लेन-देन का ठीक-ठीक समय—यदि उस समय अधमर्ण ने ऋण नहीं लिया, तो वह कहां था और क्या कर रहा था—के विषय में गहरी पूछताछ करनी चाहिए।

द्वितीय विधि है—ऋण की याचना करते समय अधमर्ण द्वारा प्रस्तुत कारण अथवा उद्देश्य—यदि ऋण नहीं लिया गया, तो निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति कैसे और कहां से हो गयी—के सम्बन्ध में टटोलना चाहिए।

तृतीय विधि है—धर्म, ईश्वर, न्यायवृत्ति तथा पुत्र-पौत्रादि की शपथ देकर उसे सत्य बोलने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

अभीक्ष्णं चोद्यमानो यः प्रतिहन्यान्न तद्वचः।
त्रिश्चतुः पञ्चकृत्वो वा परतोऽर्थं सदापयेत्॥ 237॥

बार-बार पूछे जाने और अधमर्ण द्वारा एक ही उत्तर देने पर उससे पांच-छह ही नहीं, दस बार भी पूछा जाना चाहिए; क्योंकि बार-बार पूछे जाने पर कभी-कभी सत्य मुंह से निकल ही पड़ता है, अपराधी द्वारा सत्य को निरन्तर छिपाना कठिन हो जाता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्रतिवादी अनेक बार वही एक प्रश्न पूछे जाने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं कर सकता। उससे जितनी बार पूछा जाये, उतनी बार उसे उत्तर देना ही होता है और यदि उसके किसी उत्तर में कहीं बदलाव आता है, तो इस आधार पर उसे आड़े हाथों लिया जा सकता है।

चोदना प्रतिघाते तु युक्तिलेशैस्तमन्वियात्।
देशकालार्थसम्बन्धपरिमाणक्रियादिभिः ॥ 238॥

सामान्य पूछताछ की अवहेलना करने वाले प्रतिवादी से देश, काल, अर्थ, सम्बन्ध, परिमाण और लेन-देन की क्रिया आदि से सम्बन्धित प्रश्नों को घुमा-फिरा कर पूछना चाहिए।

युक्तिष्वप्यसमर्थासु शपथैरेनं मर्दयेत्।
देशकालबलापेक्षमग्न्यम्बुसुकृतादिभिः ॥ 239॥

युक्ति से कार्य न बनने पर तथा देश, काल और सम्बन्ध आदि की पूछताछ का भी कुछ परिणाम न निकलने पर, उसे अग्नि, जल और उसके पुण्यों की शपथ देकर सत्य बोलने के लिए प्रेरित-प्रोत्साहित करना चाहिए। सत्य को नकारने वाले को धर्म और ईश्वर का भय दिखाकर तथा असत्य और बेईमानी के दुष्परिणाम का अतिरञ्जित वर्णन करके, उसे सत्य को उगलने के लिए बाध्य करना चाहिए।

यमन्तर्धारयन्त्यापो दीप्तोऽग्निर्न दहत्यपि।
शापयत्यभिशापं तं किल्विषी स्यादतोऽन्यथा॥ 240॥

असत्यवक्ता से कहना चाहिए—यदि तुम सत्य पर स्थित हो, तो अग्नि का स्पर्श करो, अग्नि तुम्हें नहीं जलायेगी, जल हाथ में लो, जल स्थिर रहेगा, देवों को साक्षी मानकर कहो, यदि तुम्हारा कथन सत्य होगा, तो तुम्हें उनका शाप उद्विग्न नहीं करेगा। यदि तुम ऐसा नहीं करते हो अथवा अग्नि आदि द्वारा जलाये जाते हो, तो निश्चित है कि तुम पापी हो।

अरण्ये निर्जने रात्रावन्तर्वेश्मनि साहसे।
न्यासस्यापह्नवे चैव दिव्या सम्भवति क्रिया॥ 241॥

निर्जन वन में, रात के अन्धकार में तथा घर के भीतर अकेलेपन में किये गये साहसिक बलात्कार—डाका, शीलहरण—आदि को उगलवाने के लिए तथा धरोहर में रखी वस्तु को लौटाने के लिए दिव्य-क्रिया—अग्नि, जल, इन्द्र, वरुण तथा यम आदि की शपथ दिलाना, मृत्यु के उपरान्त भीषण नरक-यातना झेलना आदि—का प्रयोग करना चाहिए।

स्त्रीणां शीलाभियोगेषु स्तेयसाहसयोरपि॥
एष एव विधिर्दृष्टः सर्वार्थापह्नवेषु च॥ 242॥

इसी प्रकार स्त्रियों के शील-भंग, बलात्कार अथवा अपमान सम्बन्धी विवाद में, चोरी-डकैती के अभियोग में तथा धरोहर को नकारने-हड़पने के व्यवहार में दैवी प्रयोगों—सत्य न बोलने पर मरने के बाद अग्नि तुम्हारे देह को जलायेगी नहीं, तुम्हें अन्न-जल सुलभ नहीं होगा, देवों का प्रकोप तुम्हारे वंश को लील लेगा, दरिद्रता तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ेगी, तुम्हें कोढ़ लग जायेगा आदि शपथों—का प्रयोग करना चाहिए।

शपथा ह्यपि देवानामृषीणामपि च स्मृताः।
वसिष्ठः शपथं शेपे यातुधानेन शङ्कितः॥ 243॥

स्मृतियों के आधार पर शपथ लेने की प्रथा का देवों और ऋषियों में भी प्रचलन सिद्ध होता है, अर्थात् ऋषि अपने को सत्यनिष्ठ सिद्ध करने के लिए शपथ लेते थे तथा देव शपथ लेकर उच्चरित वचन की सत्यता पर पूर्ण विश्वास करते थे—इतिहास इसका साक्षी है। एक समय जब एक राक्षस ने वसिष्ठजी को घेर लिया था, तो उन्होंने इसी प्रकार शपथ—ऋषि का शाप तुम्हें अनन्तकाल तक भटकाता रहेगा—देकर उसके अत्याचार से मुक्ति पायी थी।

अभिप्राय यह है कि दैवी उपायों का व्यक्ति पर अनुकूल और निश्चित प्रभाव पड़ता है—इसमें किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं है।

सप्तर्षयस्तथेन्द्रेण पुष्करार्थेन शङ्किताः।
शेपुः शपथमव्यग्राः परस्परविशुद्धये॥ 244॥

इसी प्रकार पुष्कर के विषय में इन्द्र द्वारा डराये गये सप्तर्षियों ने भी दैवी प्रयोग का आश्रय लिया था। सप्तर्षियों ने इन्द्र को दुर्गति का पात्र बनने, नरक भोगने, पतित होने-जैसे शाप के रूप में चेताया था और इन्द्र ने इसे गम्भीरता से लेते हुए अपनी भूल को स्वीकार किया था और पश्चात्ताप करते हुए भविष्य में कभी ऐसा औद्धत्य न करने का आश्वासन देते हुए क्षमायाचना का निवेदन किया था।

अयुक्तं साहसं कृत्वा प्रत्यापत्तिं भजेत् यः।
ब्रूयात् स्वयं वा सदिति तस्यार्धविनयः स्मृतः॥ 245॥

अकरणीय एवं अवाञ्छनीय दुष्कर्म अथवा साहसिक कर्म करके स्वयं ही अपनी भूल को स्वीकार करने वाले, पश्चात्ताप करने वाले तथा दण्ड के लिए आत्मसमर्पण करने वाले को उसके अपराध के लिए निर्धारित दण्ड का आधा दण्ड देना चाहिए।

वस्तुतः दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति को सुधारना और सत्पथ पर लाना है। सुधारकों और मनोवैज्ञानिकों ने दण्ड के भय से सुधार की सम्भावना में अपनी आस्था प्रकट नहीं की। उनके अनुसार भय किसी भी बुराई को मिटाने का प्रभावी एवं स्थायी समाधान नहीं। इसकी अपेक्षा शिक्षा एवं उपदेश अधिक उपयोगी हैं। इस सन्दर्भ में अपना अपराध स्वीकार करने वाला तो क्षमा का पात्र है; क्योंकि उसने दण्ड से पूर्व ही दण्ड के उद्देश्य को पूरा कर दिया तथा न्याय-प्रक्रिया को जांच-परख के झंझट से बचा दिया। निष्कर्षतः दण्ड में न्यूनता लाने का स्मृतिकार का मत व्यावहारिक एवं युक्तिसंगत है।

गूह्यमानस्तु वैचित्र्याद्यदि पापः स जीयते।
सभ्यास्तस्य न तुष्यन्ति तीव्रो दण्डश्च पात्यते॥ 246॥

विचित्र ढंग से अनोखी चर्चा करके न्याय-प्रक्रिया को भटकाने की चेष्टा करने वाले अपराधी मनोवृत्ति के वादी अथवा प्रतिवादी अथवा साक्षी के असन्तुष्ट एवं खिन्न सभ्यों (न्यायाधिकारियों) को उसे उसके अपराध के लिए निर्धारित दण्ड से दुगुना दण्ड देकर भली प्रकार अनुशासित करना चाहिए।

यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्ष्येत शपथैश्च पृथग्विधैः॥ 247॥

विवाद करने वाले वादी-प्रतिवादी के साक्षीविहीन होने पर शपथों तथा दिव्य उपायों—धर्म और ईश्वर को साक्षी मानकर सत्य बोलने का अनुरोध, असत्य बोलने पर दैवी प्रकोप का भय दिखाना तथा वंश-नाश की आशंका आदि—द्वारा यथार्थ को जानने और तदनुरूप निर्णय पर पहुंचने का प्रयास करना चाहिए।

सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च।
देवतापितृपादांश्च दत्तानि सुकृतानि च॥ 248॥

साक्ष्य सुलभ न होने पर अभियुक्त से सत्य उगलवाने के लिए वाहन, शस्त्र आदि तथा गाय, बीज, कनक, देवता, पितर और सुकृत (पुण्य) आदि की शपथ दिलानी चाहिए। इनका अभीष्ट परिणाम निकलता है—इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं।

महापराधे दिव्यानि दापयेत्तु महीपतिः।
अल्पेषु तु नृपश्रेष्ठ शपथैः श्रावयेन्नरम्॥ 249॥

राजाओं से जब कभी जाने-अनजाने कोई महान् अपराध हो गया है, तो उन्होंने पश्चात्ताप के रूप में देवों की आराधना की है, दिव्य प्रयोगों का आश्रय लिया है और साधारण अथवा छोटा-मोटा अपराध हो जाने पर दुःख प्रकट करते हुए भविष्य में ऐसा न करने की शपथ ली है।

इस प्रकार देवाराधन और शपथों से उन्हें विहित अपराधों के दण्ड-भोग से निवृत्ति मिली है। अतः अपराध-बोध की भावना से ग्रस्त होकर प्रायश्चित्त भी दण्ड-भोग का रूप बन जाता है।

टिप्पणी—महर्षि याज्ञवल्क्य ने निम्नोक्त को परमपवित्र मानते हुए इनकी शपथ लेने का विधान किया है। झूठी शपथ लेने का अर्थ होता है—इनसे वञ्चित होना, देवों के प्रकोप को आमन्त्रित करना तथा अपना सर्वनाश सुनिश्चत करना—

सत्यं वाहनमस्त्राणि गोबीजकनकानि च।
देवब्राह्मणपादाश्च पुत्रदारशिरांसि च॥

अर्थात् वाहन—रथ, अश्व, गज आदि, अस्त्र—धनुष, बाण, भाला आदि गाय, बीज, स्वर्ण, देव, ब्राह्मण के चरण, पुत्र, पत्नी तथा अपने सिर की झूठी क़सम कभी नहीं खानी चाहिए।

इत्येते शपथाः प्रोक्ता मनुना स्वल्पकारणे।
पातकेऽष्टाभियोगे च विधिर्दिव्यः प्रकीर्त्तितः॥। 250॥

मनु आदि स्मृतिकारों ने छोटे-मोटे अपराधों के लिए शपथों का विधान किया है, अर्थात् भविष्य में ऐसा अपराध न करने की शपथ लेने को पर्याप्त माना है, परन्तु बड़े तथा जान-बूझकर किये गये अपराधों में तो दिव्य प्रयोग—घोर प्रायश्चित्त—का करना ही अपेक्षित है।

सन्दिग्धेऽर्थेऽभियुक्तानां प्रच्छन्नेषु विशेषतः।
दैवं पञ्चविधं ज्ञेयमित्याह भगवान्मनुः॥ 251॥

भगवान् मनु ने सन्दिग्ध, विशेषतः आपराधिक मामलों में, अभियुक्त से सत्य उगलवाने तथा यथार्थ का पता लगाने के लिए निम्नोक्त पांच प्रकार के दिव्य उपाय बतलाये हैं।

घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः।
उक्तान्येतानि दिव्यानि विशुद्ध्यर्थं महात्मनाम्॥ 252॥

महात्माओं की विशुद्धि के निर्णय के लिए घट, अग्नि, उदक, विष और कोश की शपथ ही पांच दिव्य प्रयोग हैं।

सन्दिग्धेऽर्थेऽभियुक्तानां विशुद्ध्यर्थं दुरात्मनाम्।
प्रोक्तानि नारदेनेह सत्यानृतविशुद्धये॥ 253॥

सन्देह के आरोप में घिरे दुर्जन अभियुक्तों की वास्तविकता—सच्चा है अथवा झूठा—को जानने के लिए निम्नोक्त दिव्य प्रयोग अपनाने चाहिए।

वर्षासु वह्निरित्युक्तः शिशिरे तु घटः स्मृतः।
ग्रीष्मे सलिलमित्युक्तं विषं काले तु शीतले॥ 254॥

वर्षा ऋतु में अग्नि दिव्य का, शिशिर ऋतु में घट दिव्य का, ग्रीष्म ऋतु में जल दिव्य का तथा शीतकाल में विष दिव्य का प्रयोग करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि वर्षा ऋतु में अभियुक्त को अग्नि प्रकट करने को कहना चाहिए। प्राचीनकाल में अरणि-मन्थन से अग्नि प्रकट की जाती थी। वर्षा ऋतु में लकड़ियां गीली होती हैं, अतः अग्नि का प्रकट होना दुष्कर होता है। यदि अभियुक्त सच्चा है, तो अग्निदेव प्रकट हो जायेंगे, अग्नि को प्रकट करने में विफलता का अर्थ उसका झूठा होना है। इसी प्रकार अन्य दिव्य प्रयोगों से सत्यासत्य का निष्कर्ष निकालना चाहिए।

नार्तानां तोयशुद्धिः स्यान्न विषं पित्तरोगिणाम्।
शिवत्र्यन्धकुनखानां च नाग्निशुद्धिर्विधीयते॥ 255॥

रोगपीड़ित अभियुक्तों की सत्यता-असत्यता के निर्णय के लिए जल दिव्य का प्रयोग करना चाहिए, अर्थात् उन्हें जल में एक निश्चित समय के लिए खड़ा रखना चाहिए। उनके सच्चा होने पर शीतल जल से उन्हें कोई हानि नहीं पहुंचेगी और झूठा होने पर कंपकंपी होने लगेगी। इसी प्रकार पित्तरोगियों पर विष का प्रयोग करना चाहिए। सच्चे व्यक्ति को विष के सेवन से कोई हानि नहीं पहुंचेगी और झूठा अभियुक्त मृत्यु का ग्रास बन जायेगा। कुष्ठरोगी, अन्धे और गन्दे नाख़ून वालों को अग्नि दिव्य का प्रयोग करना चाहिए। यदि वे सच्चे हैं, तो अग्नि की दाहकता अपना प्रभाव नहीं दिखायेगी, अन्यथा वे ज्वलन की विषम वेदना से तड़पते दिखाई देंगे।

टिप्पणी—आज के युग में इन दिव्य प्रयोगों की प्रासंगिकता स्वीकार नहीं की जा सकती। इन्हें तो अमानवीय और अवाञ्छनीय ही कहा जायेगा। पता नहीं, क्या प्रचीनकाल में सचमुच सच्चे व्यक्ति के लिए अग्नि शीतल बन जाती होगी?

वह अपना दाहक धर्म त्याग देती होगी? आज का प्रबुद्ध व्यक्ति इस मान्यता पर विश्वास कर सकेगा—इसमें सन्देह ही है।

सव्रतानां भृशार्तानां व्याधितानां तपस्विनाम्।
स्त्रीणां च न भवेद्दिव्यं यदि धर्मस्त्ववेक्षते॥ 256॥

धर्म की रक्षा में तत्पर राजा—न्यायाधिकारी—को व्रतशीलों, आचार-परायण व्यक्तियों, रोग-पीड़ितों, शोकग्रस्त लोगों, तपस्वियों तथा स्त्रियों को कभी दिव्य प्रयोगों के लिए नहीं कहना चाहिए।

टिप्पणी—रामायण के अनुसार श्रीराम ने लंकाविजय के उपरान्त सीता को अपना सतीत्व सिद्ध करने के लिए अग्निपरीक्षा देने का निर्देश दिया था।

रजक के कथन पर परित्यक्ता सीता ने पुनः अपना सतीत्व सिद्ध करने के लिए धरती से फट जाने का अनुरोध किया था।

इन दो उद्धरणों से प्राचीनकाल में इस प्रकार के दिव्य प्रयोगों का प्रचलन सिद्ध होता है।

शिरोवर्ती यदा न स्यात्तदा दिव्यं न दीयते।
कारणैः सहितं प्रोक्तं न दिव्यं चार्थिनान्नृणाम्॥ 257॥

अभियुक्त के अपराधी सिद्ध न होने तक उसे दिव्य प्रयोगों का दण्ड कदापि नहीं देना चाहिए; क्योंकि दिव्य प्रयोगों का अकारण प्रवर्तन सर्वथा अनुचित है, उनका तो केवल सकारण प्रयोग ही वाञ्छनीय होता है।

तत्प्राज्ञेन विनीतेन धार्मिकेण विजानता।
उभयानुमते देयं दिव्यं सर्वं प्रयत्नतः॥ 258॥

दिव्य दण्ड देना न्यायाधिकारी का एकाधिकार कदापि नहीं है। इस प्रयोग को दोनों—वादी तथा प्रतिवादी—की स्वीकृति लेकर तथा विवेकसम्पन्न, बुद्धिमान्, विनीत, धार्मिक, उदार तथा राग-द्वेष से मुक्त न्यायशास्त्रियों और सभ्यों द्वारा भली प्रकार सोच-विचार के उपरान्त ही करना चाहिए।

न शीते तोयशुद्धिः स्यान्नोष्णकालेऽग्निशोषनम्।
न प्रावृषि विषं दद्यात् प्रवाते न तुलां नृणाम्॥ 259॥

शीतकाल में जल दिव्य का और ग्रीष्मकाल में अग्नि दिव्य का, वर्षा ऋतु में विष दिव्य का और प्रचण्ड वायु के चलते समय तुला दिव्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि इन ऋतुओं में ये प्रयोग असह्य ही नहीं होते, अपितु अमानवीय भी होते हैं। इसके अतिरिक्त प्राणों के मूल्य पर सत्य का ज्ञान कोई महंगा सौदा नहीं है।

विचार्य धर्मनिपुणैः सर्वधर्मविशारदैः।
इदं सर्वर्तुकं प्रोक्तं पण्डितैर्घटधारणम्॥ 260॥

वास्तव में धर्मनिष्ठ, न्याय-विशारद, लोकप्रतिष्ठित, बुद्धिमान् एवं सदाचारी विद्वानों ने दिव्य प्रयोग सम्बन्धी दण्ड के रूप में सभी ऋतुओं में घट दिव्य को अपनाने का ही एकमत से समर्थन किया है।

हस्तद्वयं तु निखेयमुक्तं मुण्डकयोः सदा।
षड्ढस्तं तु तयोर्द्दष्टं प्रमाणं परिणाहतः ॥ 261 ॥

घट दिव्य में छह हाथ विस्तृत दो दण्डों को दो हाथ गहरे गड्ढों में दबाया जाता है।

चतुर्हस्ता घटतुला पादौ चापि प्रकीर्तितौ।
पादयोरन्तरं हस्तो भवेदध्यर्धमेव च ॥ 262 ॥

दो ऊंचे स्तम्भों के मध्य लगी तुला में चार हाथ ऊंचे पलड़े लटकते रहते हैं। दो पलड़ों के बीच डेढ़ हाथ की दूरी रहती है। एक पलड़े में अभियुक्त को बिठाया जाता है और दूसरे पलड़े में उसके शरीर के भार के समकक्ष स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह अथवा नक़दी रखी जाती है। यही भार क्षति-पूर्ति के रूप में वादी को दिया जाता है।

ऋज्वी घटतुला कार्या खादिरी तन्दुकापि वा।
चतुरस्त्रा त्रिभिः स्थानैर्घटकर्कटकादिभिः ॥ 263 ॥

घट की तुला खदिर अथवा तन्दुक आदि की सीधी लकड़ी से बनानी चाहिए। विशेष प्रकार की चौकोर तराजू में तीन स्थानों पर कील लगे रहते हैं। इस लकड़ी पर लटके रहने के कारण तराजू के पलड़े झूलते रहते हैं।

खादिरं कारयेत्तं च निर्व्रणं शुष्कवर्जितम्।
शांशपं तदभावे च शालं वा कोटरैर्विना ॥ 264 ॥

तराजू बनाने के काम में लायी जाने वाली खदिर की लकड़ी सूखी, सीधी और गांठों से रहित होनी चाहिए। खदिर की लकड़ी न मिलने पर—शांशप की लकड़ी का तथा उसके भी सुलभ न होने पर—शाल की लकड़ी का प्रयोग करना चाहिए। ध्यान यह रखना चाहिए कि तराजू बनाने के काम में आने वाली लकड़ी में खुरदरापन कदापि नहीं होना चाहिए। रन्दा से सही न हो सकने वाली लकड़ी का प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए।

एवंविधानि काष्ठानि घटार्थे परिकल्पयेत्।
समाराजकुलद्वारे सुरायतन चत्वरे ॥ 265 ॥

राजदरबार में, राजभवन में तथा देवमन्दिर में जहां कहीं भी घटतुला लगानी पड़े, वहां इसी प्रकार उपुर्यक्त ढंग से निर्दिष्ट लकड़ी और खम्भों की व्यवस्था करनी चाहिए।

निखेयो निश्चलः कार्यो गन्धमाल्यानुलेपनः।
दध्यक्षतहविर्गन्धिकृतपावनमङ्गलः ॥ 266 ॥

तुलाखण्ड को इस प्रकार स्थापित करना चाहिए, जिससे वह स्थिर और निश्छल खड़ा रह सके। उसे गन्ध, माला और चन्दनादि के लेप से सजाना चाहिए, दही, अक्षत, गन्ध और हवि आदि से उसे पवित्र और मंगलमय स्वरूप प्रदान करना चाहिए।

रक्षार्थमाहूतैर्लोके लोकपालैरधिष्ठितः।
सर्वदा स तु देयः स्यात् सर्वलोकस्य पश्यतः ॥ 267 ॥

तुला की रक्षा के लिए लोकपालों का आवाहन करके उन्हें वहां अधिष्ठाता के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए। तुला के सम्बन्ध में सारी कार्यवाही सार्वजनिक रूप में, अर्थात् सभी लोगों की उपस्थिति में करनी चाहिए।

अहोरात्रोषिते स्नाते आर्द्रवाससि मानवे।
पूर्वाह्णे सर्वदिव्यानां प्रदानमनुकीर्तितम् ॥ 268 ॥

दिव्य परीक्षा देने वाले को दिन-रात का उपवास रखना होता है, उसे स्नान करके गीले वस्त्र पहने हुए पूर्वाह्ण में ही तुला दिव्य कर्म करना होता हे।

शिरोपस्थायिनि नरे अभियोक्तर्युपस्थिते।
दिव्यप्रदानं विहितमन्यत्र नृपहिंसनम् ॥ 269 ॥

दिव्य कर्म अभियोक्ता की उपस्थिति में ही किया जाना चाहिए। राजगृह में किसी प्रकार की सम्भावित हिंसा को टालने के लिए अभियोक्ता की अनुपस्थिति में भी दिव्य कर्म किया जा सकता है।

अशिरांस्यपि दिव्यानि राजा भृत्येषु दापयेत्।
अभियोगाभियुक्तानामन्येषां तु यथाक्रमम् ॥ 270 ॥

राजा (न्यायाधिकारी) अभियोग का विषय बने तथा दण्ड ग्रहण के अनिच्छुक अपने सेवकों को दिव्य परीक्षा देने के लिए बाध्य कर सकता है। सेवकों से भिन्न अभियुक्तों को दण्ड ग्रहण करने अथवा दिव्य कर्म से अपने को निर्दोष करने की छूट रहती है। राजा के सेवकों को यह छूट नहीं रहती।

शिक्यद्वयं समासज्य घटकर्कटयोर्दृढम्।
एकत्र शिक्ये पुरुषमन्यत्र तुलयेच्छिलाम् ॥ 271 ॥

घट के दोनों किनारों पर ठोकी गयी कील से उसे सुदृढ़ रूप देकर एक ओर शिला को रखकर, उसके दूसरी ओर बैठे परीक्षा देने वाले अभियुक्त को तोलना चाहिए।

धारयेदुत्तरे पार्श्वे पुरुषं दक्षिणे शिलाम्।
पिटिकां पूरयेत्तस्मिन्निष्टकालोष्टपांशुभिः ॥ 272 ॥

घट के उत्तर-पार्श्व में पुरुष को बिठाना चाहिए और दक्षिण-पार्श्व में शिला रखनी चाहिए। शिला धारण करने वाले पलड़े को पिटिका कहा जाता है। इस

पिटिका में शिला के स्थान पर उसी भार की ईंटें, मिट्टी का ढेला अथवा राख आदि को भी रखा जा सकता है।

प्रथमारोपणे ग्राह्यं प्रमाणं निपुणैः सह।
तुलाशिलाभ्यां तुल्यं च तोरणं न्यस्तलक्षणम्॥ 273॥

पहली बार जब शिला अथवा ईंटों के भार के साथ पुरुष के भार की तुलना की जाती है, तो भार की जांच-परख में निपुण लोगों को वहां उपस्थित रहना चाहिए और यदि तुला और शिला का भार बराबर हो, अर्थात् तराज़ू के दोनों पलड़े समरूप हों, तो उस स्थिति को 'तोरण' का नाम देना चाहिए।

सुवर्णकारा वणिजः कुशलाः कांस्यकारकाः।
अवेक्षेरन् घटतुलां तुलाधारणकोविदाः॥ 274॥

घट दिव्य के समय, तुला-धारण में विशिष्ट निपुणता प्राप्त स्वर्णकारों, कांस्यकारों, व्यापारियों तथा व्यवसायियों को घट तुला के निरीक्षण और सत्यापन के लिए निमन्त्रित ही नहीं करना चाहिए, अपितु उनकी उपस्थिति को सुनिश्चित भी करना चाहिए।

तुलयित्वा नरं पूर्वं चिह्नं कृत्वा घटस्य च।
कक्षास्थाने यदा तुल्यमवतार्य ततो घटात्॥ 275॥

प्रथम पुरुष को तोलते हुए तुला में उत्कीर्ण चिह्नों पर उसके भार को अंकित कर देना चाहिए और पुनः व्यक्ति को तुला से उतार लेना चाहिए।

समयैः परिगृह्यार्थं पुरारोपयेन्नरम्।
निर्वाते वृष्टिरहिते शिरस्यारोप्य पत्रकम्॥ 276॥

थोड़े समय के अन्तराल के पश्चात् पुरुष को फिर तुला पर चढ़ाना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि न तो वृष्टि होनी चाहिए और न ही पवन आन्दोलित होना चाहिए; क्योंकि आंधी-वर्षा में तुला के पलड़ों का अविचल रहना सम्भव नहीं होता। शान्त और निश्छल परिवेश में तोले जाने वाले व्यक्ति के सिर में एक लिखित पत्र रख देना चाहिए। इस पत्र के रखने का अभिप्राय यह है कि अभियुक्त अपने सिर पर किसी प्रकार का कोई भार रखकर कृत्रिम रूप से अपने वज़न को बढ़ा हुआ न दिखा सके।

तस्मिन्नेव समारूढे धृत्वा कक्षां द्विजो वदेत्।
धर्मपर्यायवचनैर्घट इत्यभिधीयते॥ 277॥

घट (तुला के पलड़े) में समारूढ़ होने के उपरान्त सच्चा सिद्ध होने वाला व्यक्ति लोक में धर्म के पर्यायवाची शब्द 'घट' नाम से अभिहित होता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार आज मुसलमान हज—मक्का—तीर्थ-यात्रा करने के उपरान्त सम्मानसूचक 'हाजी' पदवी को धारण करता है, उसी प्रकार तुला-

परीक्षा में खरा उतरने वाले व्यक्ति भी 'घटारोही' के रूप में लोक में प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि प्राप्त करता है। 'घट' को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में ही ग्रहण किया जाता है।

घट-तुला के साथ हेराफेरी अथवा बेईमानी करने वाले के सम्बन्ध में 'सरस्वती विलास' ग्रन्थ में लिखा है—

ब्रह्मघ्नोये स्मृता लोका ये लोकाः कूटसाक्षिणः।
तुलाधारस्य ते लोकास्तुलां धारयतो मृषा॥

ब्रह्महत्या और मिथ्यासाक्ष्य देने वाले के समकक्ष ही तुला के साथ बेईमानी जघन्य पाप है। इन सब अपराधों का एक-समान भयंकर दण्ड मिलता है।

त्वं वेत्सि सर्वभूतानां पापानि सुकृतानि च।
व्यवहाराभिशस्तोष्यं मानवस्तुल्यते त्वया॥ 278॥

घट-तुला के समय विनम्र शब्दों में प्रार्थना करनी चाहिए—तुलादेव! तुम सभी प्राणियों के पाप-पुण्यों को भली प्रकार जानते हो, व्यवहार में अभिशप्त मनुष्य आपके द्वारा तुलित होता है, आप उसकी वास्तविकता के ज्ञाता हो, हमें उस सत्य से परिचित कराने की कृपा करो।

देवासुरमनुष्याणां सत्ये त्वमतिरिच्यसे।
त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता॥ 279॥

तुलादेव! सत्य-ज्ञान तथा उसके प्रकाशन के सम्बन्ध में तो आप देवों से भी आगे हो। आप सत्य के धाम एवं अधिष्ठान हो। पूर्वकाल में देवों की रचना के समय ही आपकी भी रचना हुई थी—ऐसी लोकमान्यता है।

तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय।
यद्यहं पापकर्मास्मि तदा त्वं मामधो नय॥ 280॥

अभियुक्त को तुला पर आरूढ़ होने से पूर्व प्रार्थना करनी चाहिए—तुलादेव! आप सत्य के ज्ञाता हो, मेरे सत्य को प्रकाशित करके मुझ पर लगे लाञ्छन से मुझे मुक्त करो। मुझे सन्देह के आवरण से बाहर निकालो। यदि मुझसे अनजाने में कोई पाप हो गया हो, तो उसके लिए मुझे क्षमा प्रदान करो। मुझे लोक में अपमानित होने से बचा लो। आप तो भली-भांति जानते हैं कि मैंने जान-बूझकर कोई अपराध नहीं किया और फिर अनजाने में हो गये किसी कर्म पर मेरा वश नहीं है। इस प्रकार आप मेरी सहायता एवं रक्षा करो।

शुद्धं चैवं विजानासि तत ऊर्ध्वं गृहाण माम्।
तदेनं संशयारूढं धर्मतस्त्रातुमर्हसि॥ 281॥

यदि आप मुझे निष्पाप एवं निर्दोष मानते हैं, तो मेरे भार को हलका करते हुए मुझे ऊपर उठाने की कृपा करें। सन्देह और संशय का केन्द्र बने मेरे सम्मान की

रक्षा आपके ही हाथ में है। मैं आपका शरणागत हूं, मेरा उद्धार करो।

इत्यादि कृतश्रावणं लोकपालैः सुरैश्च वै।
पुरुषं पुनरारूढं समुद्धृत्य निरीक्षयेत॥ 282॥

इस प्रकार अभियुक्त द्वारा तुलादेव के अतिरिक्त दिक्पालों और लोकपालों की प्रार्थना करने के उपरान्त उसे तुला के पलड़े में बिठाना चाहिए और फिर पलड़े के उठने-न उठने को देखना-परखना चाहिए।

तुलिता यदि वर्धेत स शुद्धः स्यान्न संशयः।
समो वा हीयमानो वा अविशुद्धो भवेन्नरः॥ 283॥

तुला के दूसरे पलड़े में रखी शिला के भार से अभियुक्त के पलड़े के ऊपर उठ जाने पर उसे असन्दिग्ध रूप से सर्वथा निर्दोष एवं निष्पाप मानना चाहिए। इसके विपरीत अभियुक्त वाले पलड़े के शिला वाले पलड़े के बराबर अथवा नीचे रहने पर उसे अशुद्ध-पापकर्ता घोषित करना चाहिए।

कक्षाछेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा।
रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च मूर्तितः शुद्धिमादिशेत्॥ 284॥

तुला के आधार (दोनों पलड़ों को थामने वाला साधन—लकड़ी, लौह आदि) के चटक जाने पर, पलड़ों के चरमरा जाने पर, शिलाखण्ड के गिर-टूट जाने पर, रस्सी अथवा शृंखला के छिन्न-भिन्न हो जाने पर तथा खम्भों के गिर जाने पर अभियुक्त को निर्दोष समझना चाहिए। इनमें किसी के भी टूटने-फूटने अथवा गिरने-चटकने का अर्थ अभियुक्त को तोलने के रूप में अपमानित न होने देना है। तुलादेव, लोकपालों एवं दिक्पालों को यह सब सहज-स्वीकार्य नहीं है।

अतः परं प्रवक्ष्यामि विधिमग्नेस्तथोत्तमम्।
द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम्॥ 285॥

अब हम तुला दिव्य के उपरान्त अग्नि दिव्य की विधि का वर्णन करेंगे। यहां संक्षेप में इतने कथन को पर्याप्त समझना चाहिए कि एक मण्डल से दूसरे मण्डल की दूरी बत्तीस अंगुल होती है।

अष्टभिर्मण्डलैरेवमङ्गुलानां शतद्वयम्।
षट्पञ्चाशत्समधिकं भूमेस्तु परिकल्पना॥ 286॥

दो सौ छप्पन अंगुलियों की परिसीमा—कनिष्ठिका अंगुलियों को अंगूठे तक फैलाया जाये, तो उसका विस्तार लगभग एक फुट होगा। इस प्रकार दो सौ छप्पन विस्तार का अर्थ लगभग पचासी गज़ लम्बी और पचासी गज़ चौड़ी धरती का घेराव होगा—में आठ मण्डलों का निर्माण करना चाहिए।

सप्ताश्वत्थस्य पत्राणि अभियुक्तस्य हस्तयोः।
कृत्वा न्यसेत्तु पत्राणि सप्तभिः सूत्रतन्तुभिः॥ 287॥

दिव्य कर्म करने वाले के दोनों हाथों में पवित्र पीपल के सात पत्ते रखे जाते हैं और उन पत्तों को सात धागों से बांधा जाता है।

जात्यैव लोहकारो यः कुशलश्चाग्निकर्मणि।
दृष्टयोगश्चान्यत्रापि तेनायोऽग्नौ प्रतापयेत्॥ 288॥

जाति से लोहार तथा अग्निकर्म में कुशल होने के अतिरिक्त पहले से इस कार्य के अनुभवी-अभ्यस्त व्यक्ति को अग्नि में लोहे का गोला तैयार करने के लिए नियुक्त करना चाहिए।

अग्निवर्णमयः पिण्डं सस्फुलिङ्गं सुरक्तिकम्।
पञ्चाशत्पलिकं भूयः कृत्वैवं तं शुचिर्द्विजः॥ 289॥

लोहे के गोले को इतना अधिक तपाना चाहिए कि वह लाल हो जाये और उससे चिनगारियां निकलने लगें। ऐसा हो जाने पर एक आचारनिष्ठ शुद्ध-पवित्र ब्राह्मण को अभियुक्त को शपथपूर्वक सचेत करते हुए इस प्रकार कहना चाहिए—

तृतीयतापतातं तं ब्रूयात् सत्यपुरस्कृतः।
श्रूयतां मानवो धर्मो लोकपालैरधिष्ठितः॥ 290॥

भद्र! मैं तुम्हें सचेत करता हूं और यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि जितना तुम समझते हो, उससे तीन गुना अधिक ताप इस लौहपिण्ड में विद्यमान है, अर्थात् यह स्पर्शमात्र से दाहक है, परन्तु सत्यनिष्ठ के लिए शीतल है। इस सम्बन्ध में मनु तथा लोकपालों द्वारा अधिष्ठित महर्षियों द्वारा निर्दिष्ट-निरूपित सत्य को सुनो।

त्वमग्ने सर्वदेवानां पवित्रं परमं सुखम्।
त्वमेतत् सर्वभूतानां हृदिस्थो वेत्सि चेष्टितम्॥ 291॥

सभी वेदवेत्ता महात्माओं का मानना है कि अग्नि सभी देवों का परम पवित्र मुख है। वह सभी प्राणियों के मनोभावों, विचारों तथा चेष्टाओं का प्रत्यक्ष द्रष्टा एवं ज्ञाता है।

सत्यानृते च जिह्वायास्त्वत्तः समुपजायते।
वेदादिभिरिदं प्रोक्तं नान्यथा कर्त्तुमर्हसि॥ 292॥

जिह्वा से उच्चरित होने वाला सत्य तथा असत्य अग्निदेव से छिपा नहीं रहता—वेदशास्त्रों का यह सर्वसम्मत मत है। अतः हे अग्निदेव! इस अभियुक्त के भी सच्चा-झूठा होने का निर्धारण आपको ही करना है।

अनेनायमिदं प्रोक्तो मिथ्या चेदमथाब्रवीत्।
सर्वथा च यथा मिथ्या तथाग्निं धारयाम्यहम्॥ 293॥

हे अग्निदेव! अभियोक्ता ने अभियुक्त को अपना अपराध स्वीकार करने के लिए पर्याप्त समझाया-बुझाया है और आपसे अपनी वास्तविकता को छिपा न पाने के प्रति भी भली प्रकार सतर्क किया है, फिर भी वह अपने हठ पर अडिग है और

आपको (अग्नि को) धारण कर एवं साक्षी मानकर अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने के लिए उद्यत है।

एष धारयते च त्वां सत्येनानेन मानवः।
तदस्य सत्यवाक्यस्य शीतो भव हुताशन॥ 294॥

हे अग्निदेव! अभियुक्त अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिए आपको धारण करने जा रहा है। यदि यह व्यक्ति सचमुच निर्दोष एवं शुद्ध चरित्र है, तो आप अपनी दाहकता को त्याग कर शीतल हो जायें।

अमुमर्थं च पत्रस्थमभिलिख्य यथार्थतः।
श्रावितस्यैवं तन्मूर्ध्नि तस्य देयं यथाक्रमम्॥ 295॥

उपर्युक्त प्रार्थना को यथार्थ में लिखकर अभियुक्त को और उपस्थित व्यक्तियों को सुनाना चाहिए तथा प्रार्थना-पत्र को अभियुक्त के सिर पर बांध देना चाहिए। तत्पश्चात् यथानिर्दिष्ट विधि से क्रमानुसार उसे लौहपिण्ड देना चाहिए।

स्नातश्च मण्डलस्थश्च ततः संगृह्य पावकम्।
स्थित्वैकस्मिन् ततोऽन्यानि व्रजेत् सप्त शनैःशनै॥ 296॥

अभियुक्त को स्नान-ध्यान के उपरान्त एक मण्डल पर खड़ा हो जाना चाहिए और फिर हाथ में लौहपिण्ड को धारण कर एक से दूसरे मण्डल पर धीरे-धीरे चल कर—भागकर कदापि नहीं—आगे बढ़ना चाहिए।

पातयेन्न तमप्राप्य या भूमिः परिकल्पिता।
अष्टमं मण्डलं गत्वा ततोऽग्निं विसृजेन्नरः॥ 297॥

एक मण्डल से दूसरे मण्डल पर जाने के लिए घेरी गयी धरती पर पैर बढ़ाते समय लौहपिण्ड को फेंक नहीं देना चाहिए, अपितु पूरा समय, अर्थात् आठ मण्डलों पर पहुंचने तक, लौहपिण्ड धारण किये रहना चाहिए। आठवें मण्डल पर पहुंचने के उपरान्त ही लौहपिण्ड का विसर्जन करना चाहिए।

टिप्पणी—'सरस्वती विलास' के अनुसार अभियुक्त को एक-एक मण्डल पार करते समय हाथ पर बंधे पीपल के सात पत्तों को भी एक-एक कर फेंकते जाना चाहिए। इस प्रकार एक-एक पत्ते के फेंकने को एक-एक परीक्षा में उत्तीर्णता समझना चाहिए। आठवें मण्डल पर पहुंचना, निर्दोषिता की सिद्धि को सार्वजनिक करना होगा।

यस्तु पातयते त्रासाद्दग्धो वा न विभाव्यते।
पुनस्तं धारयेदग्निं स्थितिरेव दृढीकृता॥ 298॥

भय से लौहपिण्ड को सहसा अथवा देर में फेंक देने वाला अथवा हाथ जला बैठने वाला अभियुक्त वैसे तो अपराधी निर्णीत माना जाता है, फिर भी उसके अनुरोध करने पर उसे एक बार फिर अपने को निर्दोष सिद्ध करने का अवसर देना

चाहिए—ऐसा शास्त्रसम्मत निर्देश है। शास्त्र के अनुसार सहमे अभियुक्त द्वारा अनुरोध न किये जाने पर उससे एक बार पुनः प्रयास करने की इच्छा-अनिच्छा के सम्बन्ध में पूछना चाहिए।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार के अनुसार—भय के कारण लौहपिण्ड के अभियुक्त के हाथ से गिर जाने तथा हाथ के जलने-न जलने के सम्बन्ध में अनिश्चय होने पर अभियुक्त की जय-पराजय को निर्णीत नहीं मान लेना चाहिए। सन्देह की निवृत्ति के लिए उसे पुनः एक अवसर देना चाहिए—**त्रासात्पातितदिव्ये दग्धादग्धसंशये च न जयो नापराधः न पराजय इत्यर्थः। अतस्तं परं पुनर्दिव्यं धारयेन्निः संशयार्थमिति।**

मण्डलस्य प्रमाणं तु कुर्यात्तत्पद सम्मितम्।
न मण्डलमतिक्रामेन्नाप्यर्वाक् स्थापयेत्पदम्॥ 299॥

मण्डलों का क्षेत्रफल—लम्बाई, चौड़ाई (घेराव)—अभियुक्त के पैर की चाल—एक पग कितना लम्बा रखता है—के अुनसार बनाना चाहिए। यदि इस तथ्य की उपेक्षा करके घेरा (सर्कल) बनाया जाता है, तो अभियुक्त सभी मण्डलों तक पहुंच नहीं पाता। उसके लिए सारे क्षेत्र को पार करना कठिन हो जाता है अथवा यदि उसका पैर अधिक बड़ा है, तो एक साथ दो मण्डलों को घेर लेता है। इस प्रकार अभियुक्त की गति-क्षमता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु उसके आधार पर ही क्षेत्र के आकार का निर्धारण करना चाहिए।

टिप्पणी—स्मृतिचन्द्रिकाकार ने अग्नि दिव्य के सम्बन्ध में एक अन्य सावधानी बरतने के प्रति सतर्क किया है। उसके अनुसार—तप्त लौहपिण्ड को हाथों में लेने वाले अभियुक्त के दोनों हाथों की भली प्रकार परीक्षा करते हुए यह देखना चाहिए कि उन हाथों में कोई घाव तो नहीं है अथवा कोई गुप्त चर्मरोग तो नहीं है अथवा उसने अग्नि की दाहकता से बचने के लिए कोई औषध तो नहीं लगा रखी है।

लक्षयेत्तस्य चिह्नानि हस्तयोरुभयोरपि।
प्राकृतानि च गूढानि सव्रणान्यव्रतानि च॥
अनेन विधिना कार्यो हुताशः समयः सदा।
ऋते ग्रीष्मात् सदा युक्तः कालेऽन्यत्र सुशीतले॥ 300॥

ग्रीष्म ऋतु और शीत ऋतु को छोड़कर शेष ऋतुओं—हेमन्त, शिशिर, वसन्त और वर्षा—में उपर्युक्त विधि से अग्नि दिव्य किया जाता है।

हस्तक्षतेशु सर्वेषु कुर्यात् काकपदानि च।
तान्येव पुनरवेक्षेद्धस्तौ बिन्दुविचित्रितौ॥ 301॥

अग्नि दिव्य करने वाले अभियुक्त के हाथों के क्षत-विक्षत हो जाने पर व्रणों

पर कौए के पंख से काले पैरों के चिह्न बना देने चाहिए। इस प्रकार बिन्दुओं से चिह्नित उन हाथों का भली प्रकार निरीक्षण करना चाहिए।

यत्पुनर्न विभाव्येते दग्धावेतौ करौ तदा।
व्रीहीन् प्रगृह्य यत्नेन सप्त वारांस्तु मर्दयेत्॥ 302॥

अग्नि दिव्य में उपर्युक्त क्रिया से काम न चलने पर अभियुक्त के दोनों हाथों में अथवा दोनों में से एक दायें अथवा बायें हाथ के जलने-न जलने के सम्बन्ध में सन्देह अथवा विवाद उत्पन्न हो जाने पर शरद ऋतु में पके धान्य को अभियुक्त के हाथों पर सात बार रगड़ना-मलना चाहिए। इससे वास्तविकता स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आ जायेगी।

मर्दितैर्यदि नो दग्धः सभ्यैरेवं विनिश्चितः।
मोच्यः स शुद्धः सत्कृत्य दग्धो दण्ड्यो यथाक्रमम्॥ 303॥

अभियुक्त के हाथों पर धान्य के मर्दन के उपरान्त सभ्यों द्वारा हाथों के न जला होने का निर्णय करना चाहिए और इसके विपरीत हाथ के दग्ध पाये जाने पर उसे नियमानुसार दण्डित करना चाहिए।

अतः परं प्रवक्ष्यामि पानीयविधिमुत्तमम्।
हैमन्तकालादन्यत्र शिशिराच्च यथाक्रमम्॥ 304॥

अग्नि दिव्य के वर्णन के उपरान्त अब हम जल दिव्य की विधि का परिचय देंगे। यह जल दिव्य हेमन्त और शिशिर ऋतु में नहीं करना चाहिए। शेष ऋतुओं में इसका प्रयोग-उपयोग किया जा सकता है।

नदीषु नातिवेगासु सागरेषु वहेषु च।
ह्रदेषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च॥ 305॥

जल दिव्य निम्नोक्त सभी प्रकार के जल-स्रोतों में किया जा सकता है, परन्तु विचारणीय केवल यह है कि निर्वाचित जल-स्रोत का प्रवाह अतितीव्र न हो, अर्थात् व्यक्ति जल के बीच ठहरने में असुविधा अनुभव न करे। ये जल-स्रोत हैं—नदियां, सागर, नद (दरिया), ह्रद (कच्चे तालाब, जोहड़), बावलियां, झीलें, सरोवर, प्रस्रवण तथा प्रपात (झरना) आदि।

नाति क्रूरेण धनुषा प्रेषयित्वा शरत्रयम्।
पानीयमज्जनं क़ार्यं कियच्च विपश्चितः॥ 306॥

विद्वानों के अनुसार जल-स्रोतों की गहराई ऊंचे क़द वाले व्यक्ति के चार हाथों की लम्बाई से, मध्यम स्तर के लम्बे शरीर वाले व्यक्ति के पांच हाथों की लम्बाई से और छोटे क़द-काठी व्यक्ति वाले के छह हाथों की लम्बाई से अधिक नहीं होनी चाहिए। अधिक गहरे पानी में व्यक्ति का ठहर पाना सम्भव ही नहीं हो पाता। वस्तुतः यह कहना चाहिए कि जल-स्रोत की गहराई व्यक्ति की कमर अथवा अधिक-से-अधिक सीने तक ही होनी चाहिए।

जल में स्थित अभियुक्त को साधारण धनुष से तीन छोड़े गये बाणों से बींधा जाता है। इससे उसका जल में डूबने लगना-न लगना ही उसके सच्चा-झूठा होने का निर्णायक तत्त्व है।

क्रूरं धनुः सप्तशतं मध्यमं षट्शतं स्मृतम्।
मन्दं पञ्चशतं ज्ञेयमेष ज्ञेयो धनुर्विधिः॥ 307॥

सात सौ, छह सौ और पांच सौ अंगुल लम्बे धनुषों को क्रमशः क्रूर, मध्यम और मन्द (साधारण) माना गया है।

नाभिमात्रे जले स्थाप्यः पुरुषः स्तम्भवद्बली।
तस्योरु सम्प्रगृह्याय निमज्जेदभिशस्तवान्॥ 308॥

एक बलवान् पुरुष को नाभि तक गहरे पानी में स्तम्भ की भांति ठहरा दिया जाता है। अभिशप्त व्यक्ति बलवान् व्यक्ति के घुटने को पकड़कर डुबकी लगाता है।

शरप्रक्षेपणस्थानाद्युवा जवसमन्वितः।
गच्छेत् परमया शक्त्या यत्र स्यान्मध्यमः शरः॥ 309॥

एक युवक अपनी पूरी शक्ति को लगाकर भारी वेग से दौड़ता हुआ शर के प्रक्षेपण स्थल से शर-स्थान की ओर जाता है।

मध्यमं तु शरं गृह्य पुरुषोऽन्यस्तथाविधिः।
प्रत्यागच्छेत वेगेन यतः स पुरुषो गतः॥ 310॥

दूसरा पुरुष मध्यम शर को लेकर ठीक उसी स्थान पर आ जाता है, जहां पहला व्यक्ति ठहरा हुआ है।

आगतश्च शरग्राही न पश्यति यदा जले।
अन्तजलं यदा सम्यक् तदा शुद्धिं विनिर्दिशेत्॥ 311॥

अभिशप्त पुरुष द्वारा शर को लाने वाले पुरुष को न देख पाना, अर्थात् इस अवधि में जल में डूबे रहना अभिशप्त की शुद्धि का प्रमाण माना जाता है।

अन्यथा न विशुद्धः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात्।
स्थानाद्वान्यत्र गमनाद्यस्मिन् पूर्वं निवेशितः॥ 312॥

इसके विपरीत अभिशप्त व्यक्ति के समग्र शरीर के अथवा कुछ अंगों के दीख जाने पर अथवा उसके बहकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाने पर उसे निर्दोष घोषित नहीं किया जा सकता। ऐसे व्यक्ति को अपराधी मानकर दण्ड देना ही उचित है।

न मज्जनीयं स्त्रीबालं धर्मशास्त्रविशारदैः।
रोगिणश्चापि वृद्धाश्च पुमांसो ये च दुर्बलाः॥ 313॥

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार—स्त्रियों, बालकों, वृद्धों तथा रोगियों को जल दिव्य—अपनी निर्दोषिता को सिद्ध करने के लिए जल में डुबोना—की अनुमति कदापि नहीं देनी चाहिए।

निरुत्साहान् रुजा क्लिष्यनार्तांश्च न निमज्जयेत्।
सद्यो म्रियन्ते मज्जन्तः स्वल्पप्राणा हि ते स्मृताः ॥ 314 ॥

उत्साहहीन लोगों, रोग-पीड़ितों तथा दुःख-शोक-सन्तप्तों को भी जल दिव्य की अनुमति नहीं देनी चाहिए; क्योंकि ये लोग अपने मनोबल के क्षीण होने के कारण तत्काल घबरा जाते हैं और तनावग्रस्त होकर पानी में स्थिर नहीं रह पाते, अपितु डूबकर शीघ्र ही मर जाते हैं।

साहसेनागतानेतान्नैव तोये निमज्जयेत्।
न चापि साधयेदाग्निं न विषेण विशोधयेत् ॥ 315 ॥

जल दिव्य के लिए साहस जुटाकर सहमत होने पर भी जल में उतरने से बिदक जाने वालों की निर्दोषिता की सिद्धि के लिए अग्नि दिव्य तथा विष दिव्य आदि साधनों-उपायों को कदापि नहीं अपनाना चाहिए।

सत्यानृतविभागस्य तोयाग्नी स्पष्टकृत्तमौ।
अद्भ्यश्चाग्निरभूद्यस्मात्तस्मात्तोये विशेषतः ॥ 316 ॥

वस्तुतः किसी भी अभियुक्त के सच्चा-झूठा होने के निर्णय के लिए अग्नि और जल आदि स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष प्रमाणों के समान कोई दूसरा साधन नहीं है। अग्नि की उत्पत्ति जल से हुई है, अतः जल की विशिष्टता-महत्ता तो असन्दिग्ध एवं निर्विवाद भी है।

क्रियते धर्मतत्त्वज्ञैर्दूषितानां विशोधनम्।
तस्मात् सत्येन भगवज्जलेश त्रातुमर्हसि ॥ 317 ॥

अतः धर्म-तत्त्वज्ञ सिद्ध-पुरुष तथाकथित दोषियों को अपनी निर्दोषिता को प्रमाणित करने के लिए जल दिव्य को अपनाने का परामर्श देते हैं। उनके अनुसार अभिशप्त व्यक्ति को जल देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे वरुणदेव! मैं आपकी शरण में आया हूं, आप तो सर्वज्ञ हैं, आप मेरी वास्तविकता से भी परिचित हैं। अतः आप ही मुझ पर लगे मिथ्या आरोप के कलंक से मुझे मुक्त एवं शुद्ध कर सकते हैं। आप मुझे अपनी कृपा से वञ्चित न करें।

अतः परं प्रवक्ष्यामि विषस्य विधिमुत्तमम्।
यस्मिन् काले यथा प्रोक्तं यादृशं परिकीर्तितम् ॥ 318 ॥

अब हम सही ढंग से विष विधि का परिचय देंगे और यह बतायेंगे कि कब, कैसे और किस रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

यावन्मात्रं समुद्दिष्टं धर्मतत्त्वार्थदर्शिभिः।
तुलयित्वा शरत्काले देयमेतद्धिमागमे ॥ 319 ॥

विष दिव्य के अन्तर्गत धर्मशास्त्रियों ने विष के जितने परिमाण के सेवन का उल्लेख किया है, हेमन्त ऋतु में विष का उतना वज़न तुला में तोलकर रख देना चाहिए और शरद ऋतु के आने पर उसका उपयोग करना चाहिए।

नापराह्ने न सन्ध्यायां न मध्याह्ने तु धर्मवित्।
शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु वर्षासु च विवर्जयेत्॥ 320॥

धर्मशास्त्रियों के मतानुसार विष दिव्य के प्रयोग के उपयुक्त समय हैं—अपराह्न, सन्ध्याकाल, मध्याह्न, शरद ऋतु, ग्रीष्म ऋतु, वसन्त ऋतु तथा वर्षा ऋतु। अभिप्राय यह है कि शरद, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में मध्याह्न, अपराह्न तथा सन्ध्याकाल में विष दिव्य का प्रयोग करना उचित है।

भग्नं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा।
कालकूटमलावुं च विषं यत्नेन वर्जयेत्॥ 321॥

सभी शास्त्रकारों ने एक मत से तिल-घी से चुपड़े-लिथड़े, गरम-तप्त किसी सुगन्धित पदार्थ में मिले-घुले तथा कालकूट और अलावु से बनने वाले विष के प्रयोग का निषेध किया है। वस्तुतः ऐसे विष व्यक्ति के शरीर पर घाव, खुजली, पीड़ा आदि के अतिरिक्त चमड़ी को झुलसाने वाले होते हैं। मानवीय आधार पर भी इनका प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय होता है।

शार्ङ्गं हैमवतं शस्तं वर्णगन्धरसान्वितम्।
अभिन्नं तत् प्रदातव्यं क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु॥ 322॥

उत्तम वर्ण, गन्ध व रस वाला विष हिमालय के शृंग (शिखर) पर उत्पन्न होता है, जो 'शांर्ङ्ग' नाम से जाना जाता है। यह प्राकृतिक विष है, इसमें किसी प्रकार की कोई कृत्रिमता नहीं है। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अभियुक्त-अभिशप्त होने पर उन्हें विष दिव्य के अन्तर्गत इसी प्राकृतिक विष का सेवन कराना चाहिए।

विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः।
तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्यात् घृतप्लुतम्॥ 323॥

विष दिव्य के अन्तर्गत कितने वज़न में और किस रूप में विष देना चाहिए—इस सम्बन्ध में आचार्यों का मत है कि सात जौ के परिमाण-भर विष ही पर्याप्त है। इसे शास्त्रीय भाषा में इस प्रकार कहा गया है—एक सौ साठ यवों का एक पल होता है। इस पल के छठे भाग लगभग 27 यवों में से बीस यव निकाल देने चाहिए। अब बचे सात यवों में से भी आठवां भाग निकाल देना चाहिए, इस प्रकार 6-7 यवों के भार बराबर विष में घी मिलाकर सेवन कराना चाहिए। रूखा विष कभी नहीं देना चाहिए।

वर्षासु षड्यवा मात्रा ग्रीष्मे पञ्च यवाः स्मृताः।
हेमन्ते सप्त वाष्टौ वा शरद्यस्यापि नेष्यते॥ 324॥

वर्षा ऋतु में छह यव, ग्रीष्म ऋतु में पांच यव और हेमन्त ऋतु में सात अथवा आठ यव परिमाण जितने विष का सेवन कराना चाहिए, शरद् ऋतु में विष का सेवन सर्वथा वर्जित है।

त्वं विषं ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मव्यवस्थितः।
शोधयेत्तं नरं पापात् सत्येनास्यामृतो भव॥ 325॥

विष सेवन कराने से पूर्व विष को हाथ में लेकर इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिए—हे विष! आप ब्रह्माजी की सन्तान होने से सत्स्वरूप हैं। धर्म और सत्य की व्यवस्था का भार आपके सिर पर है। अमुक अभियुक्त आपकी शरण में आया है, आप उसके लिए अमृत बनकर उसकी सत्यता को प्रकाशित करके व उसकी निष्पापता को सार्वजनिक करके उसे कृतकृत्य कर दें।

छायानिवेशितो रक्ष्यो दिनशेषमभोजनः।
विषवेगकलमातीतः शुद्धोऽसौ मनुरब्रवीत्॥ 326॥

मनु महाराज के अनुसार विष सेवन करने वाले अभियुक्त को दिन के समय एक तो शीतल स्थान पर—वृक्ष की छाया, भवन के भीतर—रखना चाहिए तथा दूसरे, उसे खाने के लिए कुछ नहीं देना चाहिए, अर्थात् उपवास कराना चाहिए। विष के प्रभाव से अभियुक्त के मुख की कान्ति के मलिन न पड़ने, अर्थात् पूर्ववत् तेजोमय बने रहने तथा व्यक्ति के स्वास्थ्य में विकार न आने, अर्थात् पूर्ववत् स्फूर्त बने रहने पर उसे शुद्ध एवं निर्दोष प्रमाणित मानना चाहिए।

अतः परं प्रवक्ष्यामि कोशस्य विधिमुत्तमम्।
शास्त्रविद्भिर्यथा प्रोक्तं सर्वकालाविरोधि यत्॥ 327॥

अब हम सर्वोत्तम दिव्य कोश की विधि का वर्णन करेंगे। यहां इतना समझना चाहिए कि सभी देशों और कालों के सभी आचार्यों ने इस विधि को एकमत से सर्वश्रेष्ठ दिव्य घोषित किया है। इसका प्रयोग सर्वत्र समान रूप से मान्य एवं प्रचलित है।

पूर्वाह्णे सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च।
सशूकस्याव्यसनिनः कोशपानं विधीयते॥ 328॥

उल्लेखनीय यह है कि इस दिव्य का अधिकार केवल आस्तिक और व्यसनमुक्त व्यक्ति को है। वेदों और ईश्वर पर आस्था न रखने वाले तथा किसी दुर्व्यसन का शिकार बने व्यक्ति को तो इस दिव्य के सम्बन्ध में सोचना ही नहीं चाहिए।

यद्भक्तः सोऽभियुक्तः स्यात्तद्दैवत्यं तु पापयेत्।
अभ्यर्च्य देवतां स्नाप्य जलस्य प्रसृतित्रयम्॥ 329॥

किसी भक्त के अभियुक्त होने पर उसके स्नान-ध्यान आदि से निवृत्त होने पर उसे उसके आराध्य देव का पाद्य-अर्घ्य तथा आचमनीय आदि के उपरान्त धूप-

दीप, नैवेद्य आदि से अर्चन-पूजन करने के लिए कहना चाहिए। इस पूजन से निवृत्त हुए भक्त को तीन बार उसके आराध्य देव के चरणोदक का आचमन कराना चाहिए।

सप्ताहाभ्यन्तरे यस्य द्विसप्ताहेन वाशुभम्।
प्रत्यात्मिकं तु दृश्येत सैव तस्य विभावना॥ 330॥

कोश दिव्य के प्रति समर्पित अभियुक्त व्यक्ति की स्वयं की अथवा उसके किसी आत्मीय व्यक्ति की एक सप्ताह अथवा दो सप्ताहों के भीतर हानि होने अथवा क्षति पहुचंने पर उसे झूठा और दोषी समझना चाहिए, अन्यथा उसे सर्वथा शुद्ध, निर्दोष और सच्चा प्रमाणित मानना चाहिए।

ऊर्ध्वं यस्य द्विसप्ताहान्महदप्यशुभं भवेत्।
नाभियोज्यः स केनापि कृतकालव्यतिक्रमात्॥ 331॥

दो सप्ताहों के उपरान्त अभियुक्त के साथ घटने वाली किसी अशुभ घटना का सम्बन्ध कोश दिव्य के साथ नहीं जोड़ना चाहिए; क्योंकि परीक्षा के लिए निर्धारित समय बीत चुका होता है और एक बार निर्दोष घोषित व्यक्ति को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। अभियुक्त समय-सीमा के लिए प्रतिबद्ध होता है, न कि जीवन-भर के लिए उत्तरदायी होता है।

महापराधे निर्धर्मे कृतघ्ने क्लीवकुत्सिते।
नास्तिकव्रात्यदासेषु कोशपानं विवर्जयेत्॥ 332॥

कोशपान सामान्य अपराधों के लिए है, किसी बहुत बड़े अपराध, यथा ब्रह्महत्या, गोवध व गुरुपत्नी-गमन आदि के हो जाने पर इस दिव्य का प्रयोग वर्जित है। किसी धर्मरहित स्थल—द्यूतशाला तथा वेश्यागृह आदि—में हुए पाप में भी इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके अतिरिक्त, कृतघ्न, क्लीव, कुत्सित, नास्तिक, व्रात्य (आचार-भ्रष्ट तथा अतिच्युत) और दासों के लिए भी यह प्रयोग निषिद्ध है। केवल धर्मनिष्ठ एवं आचार-परायण द्विजों के लिए ही यह प्रयोग है।

संक्षेपतः धर्मभीरु पुरुषों पर लगे साधारण अपराधों के आरोप की सत्यता-असत्यता के निर्णय के लिए कोशपान का विधान है।

यथोक्तेन विधानेन पञ्चदिव्यानि धर्मवित्।
दत्त्वा राजाभिशस्तानां प्रेत्य चेह च नन्दति॥ 333॥

राजा उपर्युक्त विधि के अनुसार पांच दिव्यों—घट दिव्य, अग्नि दिव्य, जल दिव्य, विष दिव्य तथा कोश दिव्य—से अभियुक्तों को अपनी निर्दोषिता को सिद्ध करने का अवसर देने के रूप में न्याय की रक्षा करने के पुण्य के फलस्वरूप इस लोक में तथा परलोक में सुख भोगता है और यश अर्जित करता है।

ग्रीष्मे तु सलिलं प्रोक्तं विषं काले सुशीतले।
ब्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्याग्निरुच्यते॥ 334॥

जल दिव्य का प्रयोग केवल ग्रीष्मकाल में और विष दिव्य का प्रयोग केवल शीतकाल में ही करना चाहिए। ब्राह्मण के लिए घट दिव्य का तथा क्षत्रिय के लिए अग्नि दिव्य का प्रयोग शास्त्र-सम्मत है।

वैश्यं तु सलिलं देयं विषं शूद्रे प्रदापयेत्।
न ब्राह्मणं विषं दद्यान्न लोहं क्षत्रियो हरेत्॥ 335॥

ब्राह्मण को विष दिव्य और क्षत्रिय को लौह दिव्य कभी नहीं देना चाहिए। वैश्य को जल दिव्य और शूद्र को विष दिव्य दिया जाता है।

कोशान्तानि तुलादीनि गुरुष्वर्थेषु दापयेत्।
शतार्धं दापयेच्छुद्धावशुद्धो दण्डभाग्भवेत्॥ 336॥

बड़े पापों के मामलों में भी अभियुक्त द्वारा तुला दिव्य से कोश दिव्य तक किसी दिव्य को अपनाने—अपने को उस दिव्य द्वारा निर्दोष सिद्ध करने का अवसर प्रदान करने—का आग्रह करने पर उसे अवसर तो देना चाहिए, परन्तु यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि उसके शुद्ध-निर्दोष सिद्ध होने पर भी उसे वादी को एक सौ पचास पणों का भुगतान करना पड़ेगा।

तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणचोदितम्।
चौर्ये तु तण्डुला देया नान्यत्रेति विनिश्चयः॥ 337॥

अब हम तण्डुलों के सेवन से सम्बन्धित दिव्य विधि की जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं। तण्डुल एकान्त में चोरी से दिये जाते हैं। तण्डुलों के आदान-प्रदान को सार्वजनिक नहीं किया जाता है।

तण्डुलान् कारयेच्छुक्लाञ्छालेर्नान्यस्य कस्यचित्।
मृण्मये भाजने कृत्वा भास्करस्याग्रतः शुचिः॥ 338॥

चावलों को भूसी से अलग और साफ़-सुथरा करके मिट्टी के पात्र में भर देना चाहिए और उस पात्र को सूर्यदेव के सामने रख देना चाहिए।

स्नानोदकेन सम्पृक्तान् रात्रौ तत्रैव वासयेत्।
प्रभातायां रजन्यां तु त्रिः कृत्वा प्राङ्मुखाय च॥ 339॥

रात्रि में स्नान करके व चावलों को शुद्ध करके जल में भिगोकर रख देना चाहिए। प्रातःकाल उठकर पूर्वाभिमुख होकर उन्हें शुद्ध जल से तीन बार भली प्रकार धोकर साफ़ करना चाहिए।

स्नानाय सोपवासाय दद्याद्देवार्चकः स्वयम्।
स्वयं कार्यं समुद्दिश्य सत्यासत्यपरीक्षणे॥ 340॥

तण्डुल दिव्य करने वाले को स्नान आदि से शुद्ध होकर व उपवास रखकर

देव-पूजा के लिए नियुक्त व्यक्ति-पुजारी के हाथ से तण्डुल ग्रहण करने चाहिए।

तण्डुलान् भक्षयित्वा तु पत्रे निष्ठीवयेत्ततः।
अश्वत्थपत्राभावे तु भूर्जपत्रे ततः स्मृतम्॥ 341॥

चावलों को खाकर खाने वाले को किसी एक पत्ते पर थूकना होता है। स्मृति के अनुसार इसके लिए सर्वाधिक उपयुक्त तो पीपल का पत्ता है। पीपल के पत्ते के उपलब्ध न होने पर भोजपत्र को लेना चाहिए।

दृश्येत शोणितं यस्य दन्तजालं च सीदति।
गात्रं च कम्पते यस्य तमशुद्धं विनिर्दिशेत्॥ 342॥

उस थूक में रक्त का दिखाई देना अथवा अभियुक्त का दन्तपीड़ा से व्यथित होना अथवा उसके देह में कम्पन का होना आदि को अभियुक्त के पापी होने के सूचक लक्षण समझने चाहिए।

अतः परं प्रवक्ष्यामि तप्तमाषकलक्षणम्।
शुभाशुभपरीक्षार्थं ब्रह्मणाभिहितं स्वयम्॥ 343॥

अब हम ब्रह्माजी द्वारा निर्दिष्ट दोषी अथवा निर्दोष के सूचक तप्त भाव के लक्षणों का परिचय देंगे। यह अभियुक्त के शुद्ध-अशुद्ध होने वाली परीक्षा की उत्तम विधि है।

सौवर्णे रजते पात्रे आयसे मृण्मयेऽपि वा।
क्षिप्रं घृतमुपादाय तदग्नौ स्थापयेच्छुचिः॥ 344॥

स्वर्ण अथवा रजत अथवा लौह अथवा मिट्टी के पात्र में घृत डालकर शुद्ध भाव से उसे अग्नि पर तपाना चाहिए।

सौवर्णीं राजसीं ताम्रीमायसीं वा सुशोभिताम्।
सलिलेनासकृद्धौतां निक्षिपेत्तत्र मुद्रिकाम्॥ 345॥

सोने अथवा चांदी, तांबे अथवा लौह से बनी सुन्दर मुद्रिका (अगूंठी) को कई बार जल से धोकर तपे हुए घी वाले बरतन में डाल देना चाहिए।

भ्रमत् पतितायामन्तः स नः स्पर्शसुभीषणः।
ततस्त्वनेन मन्त्रेण घृतं तदभिमन्त्रयेत्॥ 346॥

अब घी के पात्र में पड़ी इधर-उधर लुढ़कती अंगूठी के साथ घी को इतना अधिक तपाना चाहिए कि अंगूठी आग का गोला बन जाये और इतनी अधिक भीषण एवं प्रज्वलित हो जाये कि उसका स्पर्श भयोत्पादक एवं दाहक बन जाये। अब उस घृत को मन्त्रों से अभिमन्त्रित करना चाहिए।

परं पवित्रममृतं घृतं त्वं यज्ञकर्मसु।
दहाग्रे यद्ययं पापो हिमशीतं शुचौ भव॥ 347॥

इसके उपरान्त प्रार्थना करनी चाहिए—हे घृत! आप देवों को यज्ञ में आहुति

देने का आधार अमृत-रूप हैं। आपसे प्रार्थना है कि यदि अभियुक्त सचमुच पापी है, तो उसे दग्ध कर दें और यदि वह निर्दोष है, तो आप जल के समान शीतल हो जायें।

प्रदेशिन्यक्षता यस्य संस्पृष्टायां परीक्षणे।
यदि विस्फोटका न स्युः शुद्धीऽसावन्यथा न हि॥ 348॥

अब अभियुक्त को अपनी तर्जनी अंगुली से मुद्रिका को उठाने को कहना चाहिए। तर्जनी के जलने अथवा क्षतिग्रस्त होने पर व्यक्ति को दोषी तथा तर्जनी के अक्षत (अप्रभावित) रहने पर उसे निर्दोष-शुद्ध समझना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का प्रथम प्रकरण समाप्त॥

2. निक्षेप प्रकरण

स्वं द्रव्यं यत्र विश्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः।
निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः॥ 1॥

'निक्षेप' भी एक प्रकार का व्यवहार—लेन-देन से सम्बन्धित विषय—है। अपनी किसी मूल्यवान् चल-अचल सम्पत्ति को किसी शंका, संशय अथवा सन्देह के बिना, पूर्ण विश्वास के साथ किसी के पास रख देने का नाम ही 'निक्षेप' है।

टिप्पणी—नारदभाष्य के अनुसार निक्षेप शब्द का अर्थ है—"**निःशंकम् निक्षिप्यते स्थाप्यते इति निक्षेपः।**" अर्थात् निःशंक होकर (पूर्ण विश्वास रखकर) अपनी कोई वस्तु किसी दूसरे को सौंपना अथवा उसके पास रखना ही निक्षेप है।

'व्यवहार प्रकाश' के अनुसार—**निक्षेप एव ग्राहकस्यासमक्षं समर्पितो न्यासः।** अर्थात् बिना किसी साक्ष्य के अपनी सम्पत्ति किसी के पास रखने का नाम निक्षेप है और इसी का दूसरा नाम न्यास है।

असहाय भाष्यकार के अनुसार—**स्वं द्रव्यं यो निक्षिपति यच्च मतिवि-स्रम्भादविशंकितो निक्षिपति। अनेनोक्तेनैतदुक्तं भवति किल यत्र अविश्वासात् शंका भवति तत्र साक्षिलिखितग्रहणविरहितं कोऽपि वराटकापि न ददाति। यत्र पुनर्विश्वासान्निशंकः पुरुषो भवति तत्र साक्षिलिखितग्रहणवर्जितमेव सुवर्ण सहस्त्रादिकमपि निक्षिपति।**

अर्थात् जहां विश्वास नहीं होता, वहां व्यक्ति बिना लिखा-पढ़ी और गवाह के किसी को एक कौड़ी भी देने को उद्यत नहीं होता। इसके विपरीत जहां विश्वास होता है, वहां किसी को कानों-कान सूचना दिये बिना ही हज़ारों रुपये और स्वर्णादि मूल्यवान् पदार्थ दे दिये जाते हैं। इस प्रकार निक्षेप का आधार है—व्यक्ति-विशेष के प्रति मन में विश्वास का दृढ़ होना।

कुलजे वृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि।
महापक्षे धनिन्यार्ये निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः॥ 2॥

निम्नोक्त सात गुणों से सम्पन्न व्यक्ति के पास ही निक्षेप का व्यवहार करना चाहिए—1. कुलीन—श्रेष्ठ, निष्कलंक कुल में उत्पन्न व्यक्ति, 2. शुद्ध—पवित्र चरित्रवान्, 3. धर्मात्मा, अर्थात् धर्म-विरुद्ध आचरण से भय खाने वाला, 4. सत्यवादी,

5. उदार-हृदय, 6. धनसमृद्ध तथा 7. लोक में सम्मानित एवं प्रतिष्ठित।

उपर्युक्त सात गुणों से युक्त पुरुष के पास निक्षिप्त सम्पत्ति समय बीतने पर भी सुरक्षित रहती है। उसे किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं पहुंचती। निक्षेप्ता को चिन्ता नहीं करनी पड़ती।

यो यथा निक्षिपेद्धस्ते यमर्थं यस्य मानवः।
स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः॥ 3॥

जिस व्यक्ति को, जिस स्थिति में और जिस प्रकार जो वस्तु निक्षेप के रूप में सौंपी जाती है, निक्षेप रखने वाले का कर्तव्य हो जाता है कि वह उस व्यक्ति को उस स्थिति में और उसी प्रकार से गृहीत वस्तु लौटा दे। दाय के अनुरूप ही ग्रहण का होना धर्म और न्याय है।

न चेद्दद्यात्तु निक्षेप्तुस्तद् द्रव्यं तु यथाविधि।
उपसंगृह्य दाप्योऽसौ दिव्यादिभिर्व्यवस्थितः॥ 4॥

निक्षेप्ता से गृहीत वस्तु को ग्रहीता द्वारा यथावत् लौटाने से इनकार करने पर धर्माधिकारी द्वारा दिव्य उपायों के प्रयोग से ग्रहीता से सत्य उगलवाना चाहिए और निक्षेप्ता को उसकी वस्तु दिलवानी चाहिए।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में मनु की व्यवस्था इस प्रकार है—

अथ निक्षेपग्राही लोभं गच्छति, निक्षेप्तुस्तद् द्रव्यं न प्रयच्छति, तदावेदितो राज्ञा उपसंगृह्य दिव्यादिप्रमाणसाधितो द्विगुणदण्डाकोदितः कृतो दाप्यः।

अर्थात् यदि निक्षेप रखने वाला धनिक लोभवश निक्षेप्ता की सम्पत्ति को हड़पना चाहता है और वस्तु के निक्षेप रखे जाने से मुकर जाता है और फिर पीड़ित व्यक्ति राजा से न्याय की गुहार करता है, तो राजा को दिव्य अथवा अदिव्य उपायों से सत्य का पता लगाना चाहिए। धनिक के दोषी पाये जाने पर न केवल उससे निक्षेप्ता की सम्पत्ति लेकर सम्बद्ध पक्ष को दिलानी चाहिए, अपितु व्यक्ति की धूर्तता के लिए दण्ड-रूप में उससे वस्तु के मूल्य से दुगुनी धनराशि भी वसूल करनी चाहिए।

अन्यद्रव्यव्यवहितं द्रव्यमव्याहृतं च यत्।
निक्षिप्यते परगृहे तदौपनिधिकं स्मृतम्॥ 5॥

तालाबन्द बक्सा, पेटी, गठरी अथवा पैकेट—भीतर रखे सामान के विषय में जानकारी दिये बिना सोना है अथवा मिट्टी है—कुछ भी बताये बिना—निक्षेप के रूप में दूसरे के घर में रखे जाने को उपनिधि अथवा औपनिधिक निक्षेप नाम दिया जाता है।

स पुनर्द्विविधः प्रोक्तः साक्षिमानितरस्तथा।
प्रतिदानं तथैवास्य प्रत्ययः स्याद्विपर्यये॥ 6॥

निक्षेप दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम, साक्षी की उपस्थिति में तथा

द्वितीय, किसी साक्षी को बीच में लाये बिना। उल्लेखनीय यह है कि जिस भी रूप में निक्षेप किया जाता है, उसी रूप में उसकी वापसी होनी चाहिए, अर्थात् यदि साक्षी को बीच में डाला गया है, तो वापसी के समय भी उसकी उपस्थिति अनिवार्य समझनी चाहिए।

याच्यमानस्तु यो दात्रा निक्षेपं न प्रयच्छति।
दण्ड्यः स राज्ञा दुष्टात्मा नष्टे दाप्यश्च तत्समम्॥ 7॥

निक्षेप्ता (निक्षेप रखने वाला) द्वारा अपना सामान वापस मांगने पर इनकार करने वाले ग्रहीता को दुरात्मा एवं धूर्त मानकर राजा के द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए। राजा का यह भी कर्तव्य है कि निक्षेप में रखे सामान के नष्ट हो जाने पर अथवा गुम हो जाने पर निक्षेप ग्रहण करने वाले से निक्षेप्ता को क्षतिपूर्ति के रूप में सामान के बराबर मूल्य दिलाया जाये।

यं चार्थं साधयेत्तेन निक्षेप्तुरननुज्ञया।
तत्रापि दण्ड्यः स भवेद्दाप्यस्तच्चापि सौदयम्॥ 8॥

निक्षेप्ता की अनुमति के बिना अपने पास निक्षिप्त वस्तु से लाभ कमाने वाले ग्रहीता से न केवल अर्जित धन और उस पर बनने वाले ब्याज की राशि वसूल करनी चाहिए, अपितु ऐसे धूर्त ग्रहीता को यथोचित दण्ड से अनुशासित भी करना चाहिए।

ग्रहीतुः सह योऽर्थेन नष्टो नष्टः स दायिनः।
दैवराजकृते तद्वत् चेत्तज्जिह्मकारितम्॥ 9॥

ग्रहीता के अपने धन के साथ निक्षिप्त वस्तु के भी नष्ट हो जाने की स्थिति में अथवा दैवी आपत्ति—घर को आग लग जाना, चोरी हो जाना आदि—की स्थिति में अथवा राजा द्वारा ले लिये जाने या छापा पड़ने पर अन्य सामान के साथ निक्षिप्त वस्तु के भी अधिगृहीत हो जाने आदि की स्थिति में वह हानि निक्षेप्ता की होती है। निक्षेप्ता ग्रहीता को क्षतिपूर्ति के लिए विवश नहीं कर सकता। हां, यहां यह अवश्य निश्चित करना चाहिए कि ग्रहीता द्वारा निर्दिष्ट कारण वास्तविक है या नहीं। कहीं वह छल-कपट अथवा कुटिलता को तो नहीं अपना रहा। सचाई और ईमानदारी मिलने पर निक्षेप्ता को निक्षिप्त वस्तु की हानि को अपने भाग्य का दोष मानना चाहिए; क्योंकि उस हानि में ग्रहीता का तो कोई योग नहीं। उसने जान-बूझकर तो कुछ नहीं किया। जब स्थिति उसके वश में नहीं थी, तो वह क्या कर सकता था?

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञाभियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः॥ 10॥

यदि अपने किसी निकट सम्बन्धी के पास अपने सामान को निक्षेप करने वाले के अचानक मर जाने पर ग्रहीता मृतक के परिवारजनों को स्वयं निक्षिप्त

सामान को लौटाता है, तो परिवारजनों को उसका सौजन्य मानकर उसके प्रति आभार प्रकट करना चाहिए। उसके प्रति कुछ रख लेने का किसी प्रकार का कोई सन्देह भी नहीं लाना चाहिए, अपितु उस पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए। उस पर किसी प्रकार का न तो कोई आरोप लगाया जा सकता है और न ही उसके विरुद्ध अभियोग चलाया जा सकता है।

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।
विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिशोधयेत्॥ 11॥

निक्षेप्ता के निक्षेप की वस्तु को वापस लिये बिना अचानक मर जाने पर और गृहीता द्वारा लौटाने से इनकार करने पर मृतक के उत्तराधिकारियों को, बिना किसी छल-कपट का सहारा लिये प्रेम-पूर्वक उसे समझाने-बुझाने का प्रयास करना चाहिए अथवा ग्रहीता के आचरण के अनुरूप साम-दान आदि किसी भी उपयुक्त लगने वाले उपाय का यथेष्ट प्रयोग करना चाहिए।

उत्तराधिकारियों को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि उनके पास निक्षेप का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जानकारी के निश्चित होने पर भी प्रमाण के अभाव में ग्रहीता को न्यायालय में तो नहीं घसीटा जा सकता। अतः प्रेम से कार्य निकालने में ही बुद्धिमत्ता होती है।

चौरैर्हृतं जले मग्नमग्निना दग्धमेव च।
न दद्यात् यदि तस्मात् स न संहरति किञ्चन॥ 12॥

निक्षेप्ता की निक्षिप्त वस्तु के साथ ही अन्य छल-कपट का सहारा न लेने वाले ग्रहीता के घर से सामान चोरी हो जाने पर, बाढ़ से बह जाने पर, आग लगने से जल जाने पर निक्षेप्ता को अपनी निक्षिप्त वस्तु की मांग नहीं करनी चाहिए। हां, यह अवश्य निश्चित करना चाहिए कि निक्षेप्ता का सामान सचमुच नष्ट हो गया है अथवा उस सामान के बच जाने पर ग्रहीता की नीयत बिगड़ गयी है। ग्रहीता दुर्घटना की आड़ में कहीं निक्षेप्ता के सामान को हड़पने तो नहीं जा रहा है।

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दण्डं दाप्यौ च तत्समम्॥ 13॥

दोनों—निक्षेप को न लौटाने वाले तथा निक्षेप न रखकर भी उसकी मांग करने वाले, अर्थात् झूठ बोलकर दूसरे को लूटने को प्रयत्नशील—को चोर समझना चाहिए और दोनों को चोर के लिए निर्धारित दण्ड देकर उन्हें अनुशासित करना चाहिए।

एष एव विधिर्दृष्टो याचितान्वाहितादिषु।
शिल्पे चोपनिधौ न्यासे प्रतिन्यासे तथैव च॥ 14॥

निम्नोक्त सामान के सम्बन्ध में भी निक्षेप के विषय में निर्दिष्ट नियम लागू होते हैं—

याचित—काम चलाने के लिए आभूषण, वस्त्र, शस्त्र आदि मांगकर ले जाना और फिर लौटाने का नाम न लेना।

अन्वाहित—किसी को देने के लिए लिया गया सामान, सम्बद्ध स्थान पर सम्बद्ध व्यक्ति को न पहुंचाकर, अपने पास रख लेना।

शिल्प—कारीगर, लोहार, सोनार आदि द्वारा धन अथवा स्वर्ण आदि लेकर मूर्ति, चित्र, आभूषण आदि बनाकर न देना।

उपनिधि—स्वर्णकार आदि शिल्पियों को नमूने की नक़ल के लिए दिये गये सामान को उनके द्वारा हड़प लेना।

न्यास—किसी को थोड़े समय के लिए सामान की सुरक्षा का दायित्व सौंपना और उस व्यक्ति का सामान को लेकर चलते बनना तथा

प्रतिन्यास—आदान-प्रदान के आधार पर किसी की वस्तु की रक्षा के बदले अपनी वस्तु की रक्षा का दायित्व सौंपना और उस व्यक्ति द्वारा अपनी वस्तु को सुरक्षित पाकर दूसरे की वस्तु के प्रति उपेक्षा दिखाना।

प्रतिगृह्णाति पोगण्डं यश्च सप्रधनं नरः।
तस्याप्येष भवेद्धर्मः षडेते विधयः समा॥ 15॥

इसी प्रकार जब किसी अनाथ बालक को फुसलाकर ग्रहीता उसका सामान अपने पास रखवा तो लेता है, परन्तु उसके द्वारा मांग करने पर लौटाने से इनकार करता है, तो ऐसे व्यक्ति को भी निक्षेप हड़पने के लिए निर्दिष्ट दण्ड देना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का द्वितीय प्रकरण समाप्त॥

3. सम्भूयसमुत्थान प्रकरण

वणिक्प्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते।
तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्॥ 1॥

जहां वणिक आदि एक साथ मिलकर व्यापार-धन्धा करते हैं, शास्त्रों में उस व्यावसायिक स्थल का नाम 'सम्भूयसमुत्थान' कहलाता है।

फलहेतोरुपायेन कर्म सम्भूय कुर्वताम्।
आधारभूतः प्रक्षेपस्तेनोत्तिष्ठेयुरंशतः॥ 2॥

मिलकर साझा व्यापार-धन्धा करने वालों का एकमात्र उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। अर्जित लाभ का कितना अंश किसको मिलना है, इस मूलतत्त्व के निर्धारण के लिए उनके द्वारा निवेशित धनराशि के अंश-दान को ही आधार बनाया जाता है। जिस भागीदार ने जितना धन लगाया है, उसे उतने ही भाग में लाभ पाने का अधिकार है। उदाहरणार्थ, चार सहयोगियों ने मिलकर एक लाख रुपयों की मूलराशि से किसी उद्यम का प्रारम्भ किया। इसमें एक ने पचास हज़ार रुपयों का तथा दूसरे और तीसरे ने बीस-बीस हज़ार रुपयों का और चतुर्थ ने केलव दस हज़ार रुपयों का योग दिया है। उनके इसी योगदान के आधार पर प्रथम का पचास प्रतिशत, द्वितीय-तृतीय का बीस-बीस प्रतिशत व चतुर्थ का दस प्रतिशत भाग माना जायेगा।

समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशे यस्य यादृशः।
क्षयव्ययौ तदा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः॥ 3॥

भागीदारों का जैसा—बराबर-बराबर अथवा न्यूनाधिक—भाग निर्धारित रहता है, ख़र्च तथा हानि आदि में उनसे उतनी ही कटौती की जाती है तथा लाभ में उन्हें उतना ही भुगतान किया जाता है।

भाण्डपिण्डव्ययोद्धारभारसारान्ववेक्षणम् ।
कुर्युस्तेऽव्यभिचारेण समये स्वे व्यवस्थिताः॥ 4॥

उद्यम से सम्बद्ध सामान की देखभाल के लिए, उसे विक्रय की दृष्टि से आकर्षक बनाने के लिए तथा उसके लिए गुणों को प्रचारित करने के लिए निम्नोक्त ख़र्च निर्विवाद रूप से देय होते हैं—

भण्डारण—ख़रीदे गये माल को सुरक्षित रखने के लिए गोदाम की व्यवस्था करना।

पाथेय—क्रय-विक्रय के लिए अपने ही नगर के विभिन्न क्षेत्रों में अथवा अन्य नगरों में आने-जाने पर सवारी, खान-पान तथा होटल आदि पर होने वाला ख़र्च, अर्थात् यात्रा-भत्ता।

व्यय—कर्मचारियों का वेतन, दुकान-गोदाम आदि का किराया, मरम्मत, बैंक आदि से लिये ऋण अथवा ब्याज आदि का भुगतान, काग़ज़-स्याही आदि की ख़रीद तथा बाहर के व्यापारियों के ठहराने और खान-पान पर होने वाले विभिन्न प्रकार के ख़र्च।

उद्धार—अपने सामान की खपत को बढ़ाने के लिए किये जाने वाले प्रयासों—विज्ञापन, प्रचार, उपहार-योजना तथा खुदरा व्यापारियों को लुभाने व अंशदान (कमीशन)—पर आने वाला ख़र्च।

भार—अपने सामान की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए, अर्थात् रंग-रूप, वज़न तथा माप आदि कम न होने देने के लिए किये जाने वाले कृत्रिम उपायों पर होने वाला ख़र्च। (उदाहरणार्थ, सेब आदि फलों को कोल्ड-स्टोर में रखना, गोदाम को चूहों-कीड़ों के प्रवेश से बचाने की व्यवस्था करना अथवा वर्षा आदि के कारण बिगड़े सामान पर रंग-रोगन कराना, चमकाना आदि।)

सार—(मूल्यवान्) वस्तुओं—चन्दन, केसर, कस्तूरी, हीरा, मोती आदि—की सुरक्षा की अतिरिक्त व्यवस्था करना—बैंक के *लॉकर* में रखवाना तथा बीमा करवाना आदि।

प्रमादान्नाशितं दाप्यः प्रतिषिद्धकृतं च यत्।
असन्दिष्टश्च यत् कुर्य्यात् सर्वसम्भूयकारिभिः ॥ 5 ॥

सभी भागीदारों की सहमति प्राप्त किये बिना किसी सामान को नष्ट कर देने, भागीदारों के मना करने पर भी किसी सामान का क्रय-विक्रय करने तथा अपनी ही ग़लती से किसी सामान को गंवा बैठने से होने वाली हानि का दायित्व दूसरे भागीदरों का कदापि नहीं होता, अपितु हानि की भरपायी एकमात्र कर्ता को ही करनी होती है।

देवतस्करराजभ्यो व्यसने समुपस्थिते।
यस्तत्स्वशक्त्या रक्षेत तस्यांशो दशमः स्मृतः ॥ 6 ॥

आग लगने-जैसी दैवी आपत्ति से, चोर-डाकुओं के गिरोह से तथा राजकर्मियों के अनुचित व्यवहार (छापा-ज़ब्त करना आदि) से अकेला जूझकर एवं अपने प्राणों को संकट में डालकर साझी सम्पत्ति को बचाने वाले भागीदार को बचायी गयी सम्पत्ति का दसवां भाग पुरस्कार के रूप में देना चाहिए।

किसी एक सहभागी के मर जाने अथवा विदेश जाने पर उसके द्रव्य की व्यवस्था सम्बन्धी नियम—

एकस्य चेत् स्याद् व्यसनं दायादोऽस्य तदाप्नुयात्।
अन्यो वासति दायादे शक्ताश्चेत् सर्व एव वा॥ 7॥

दैवी उपद्रव, डाकुओं के उत्पात तथा प्रशासन की उग्रता से जूझने वाले तथा साझी सम्पत्ति को बचाने में अपने प्राण गंवाने वाले भागीदार के दायाद—पैतृक सम्पत्ति लेने वाले—को उसका स्थानापन्न मानकर उसके भाग का लाभांश उसे देते रहना चाहिए। यह शेष भागीदारों का नैतिक कर्तव्य बनता है। मृतक के पुत्र के होने पर उसके निकट सम्बन्धी को अथवा उसका दाहकर्म करने वाले को अथवा अपने को उसका उत्तराधिकारी को उसका लाभांश देते रहना चाहिए।

ऋत्विनां व्यसनेऽप्येवमन्यस्तत्कर्म निस्तरेत्।
लभेत दक्षिणाभागं स तस्मात् सम्प्रकल्पितम्॥ 8॥

यज्ञ-यागादि कराने वाले ऋत्विज के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त व्यवस्था लागू होती है, अर्थात् यजमान से दान-दक्षिणा आदि लिये बिना प्राण त्यागने वाले पुरोहित को देय दान-दक्षिणा को पाने का अधिकारी उसका पुत्र, उसके अभाव में उसका निकट सम्बन्धी अथवा उसका दाहकर्म करने वाला अथवा अपने को उसका उत्तराधिकारी सिद्ध करने वाला व्यक्ति ही होता है।

ऋत्विग्याज्यमदुष्टं यस्त्यजेदनुपकारिणम्।
अदुष्टवर्त्विजे भाज्यो विनेयौ तावुभावपि॥ 9॥

किसी प्रकार की दुष्टता अथवा उपकार न करने वाले यजमान को यज्ञ-यागादि कराने की स्वीकृति देकर क्रोध-लोभ आदि के कारण उसे छोड़ने वाला पुरोहित तथा एक बार वरण करके उसमें किसी दोष के न मिलने पर भी अकारण ऋत्विज को छोड़ने वाला यजमान, दोनों ही दण्डनीय हैं। इन दोनों को कठोर दण्ड देकर अनुशासित करना चाहिए।

ऋत्विक् तु त्रिविधो दृष्टः पूर्वजुष्टः स्वयं कृतः।
यदृच्छया च यः कुर्याद्यर्त्विज्यं प्रीतिपूर्वकम्॥ 10॥

ऋत्विक् तीन प्रकार के होते हैं—

पूर्वजुष्ट—कुल-परम्परा से चला आने वाला।

स्वयंकृत—यजमान द्वारा पुरोहित के पास जाकर ऋत्विक् बनाने का अनुरोध करने तथा

यादृच्छिक—यजमान द्वारा किसी भी विप्र पर अनुरक्त होकर उसका वरण करना।

क्रमागतेष्वेष धर्मो वृत्तेस्वृत्विक्षु च स्वयम्।
याद्दच्छिकेषु याज्यस्य तत्त्यागे नास्ति किल्विषम्॥ 11॥

प्रथम दो—पूर्वजुष्ट तथा स्वयंकृत—के लिए यजमान का परित्याग और यजमान द्वारा इनका परित्याग दण्डनीय अपराध है। यादृच्छिक इस नियम के अन्तर्गत नहीं आता। यजमान ने किसी के गुणों पर मुग्ध होकर अथवा अकारण ही उसका वरण कर लिया, परन्तु कुछ समय पश्चात् यजमान को पुरोहित साधारण प्रतीत होने लगा अथवा उससे अधिक गुणी उसे मिल गया अथवा वह पूर्वजुष्ट के क्रोध से डर गया, तो इस स्थिति में यादृच्छिक के परित्याग में कोई दोष नहीं।

शुल्कस्थानं वणिक् प्राप्तः शुल्कं दद्यात् यथोदितम्।
न तद्व्यतिहरेद्राजो बलिरेष प्रकीर्तितः॥ 12॥

प्रशासन को चुंगीघर पर मांगे गये शुल्क का भुगतान करने वाले व्यापारी के माल को रोकने अथवा ज़ब्त करने का कोई अधिकार नहीं।

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयो।
मिथ्योक्त्वा च परीमाणं दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥ 13॥

चुंगीघर से लुक-छिपकर सामान ले जाने वाले, शुल्क चुकाने से पूर्व सामान का क्रय-विक्रय करने वाले, शुल्क-अधिकारी को सामान का पूरा परिमाण न बताने वाले अथवा सही जानकारी न देने वाले, अर्थात् अधिक शुल्क लगने वाला सामान बताने वाले व्यापारी से छिपाये गये सामान पर लगने वाले शुल्क का आठ गुना वसूल करना चाहिए।

सद्य श्रोत्रियवर्ज्याणि शुल्कान्याह्नः प्रजानता।
गृहोपयोगि यच्चैषां न तु वाणिज्यकर्मणि॥ 14॥

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार अपने घर के उपयोग में आने वाले सामान पर श्रोत्रिय ब्राह्मणों से कर नहीं वसूल करना चाहिए। हां, यदि उनके द्वारा लाया गया, सामान व्यापार के लिए है, तो शुल्क देय होता है।

प्रतिग्रहो द्विजातीनां धनं रङ्गोपजीविनाम्।
स्कन्धवाह्यं च यद् द्रव्यं न तद्युक्तं प्रदापयेद्॥ 15॥

दान-दक्षिणा से प्राप्त ब्राह्मणों के धन के प्रचुर होने पर भी, नृत्य-गीत-वाद्य आदि से आजीविका चलाने वालों के धन के मात्रा में अधिक होने पर भी तथा अपने कन्धों पर भार ढोने वाले श्रमिकों की आय के पर्याप्त होने पर भी उनसे कर नहीं वसूल करना चाहिए।

कश्चिच्चेत् सञ्चरन्देशान् प्रेयादभ्यागतो वणिक्।
राजास्य भाण्डं रक्षेत यावद्दायाददर्शनम्॥ 16॥

व्यापार के लिए विदेश गये व्यापारी के अचानक परलोक सिधार जाने पर

उसके उत्तराधिकारी के उस देश में पहुंचने तक व्यापारी के माल की सुरक्षा का दायित्व उस देश के राजा का होता है।

दायादेऽसति बन्धुभ्यो जातिभ्यो वा समर्पयेत्।
तदभावे सुगुप्तं तद्धारयेद्दशतीः समाः ॥ 17 ॥

मृत व्यापारी के पुत्र के न आने पर मृतक का सामान उसके भागीदारों, जाति-बन्धुओं अथवा अधिकार सिद्ध करने वाले इष्टमित्रों को सौंपना चाहिए। मृतक के किसी भी उत्तराधिकारी द्वारा उसके सामान को लेने के लिए न आने पर राजा को दस वर्षों तक सामान को सुरक्षित रखने का दायित्व निभाना चाहिए।

अस्वामिकमदायादं दशवर्षस्थितं ततः।
राजा तदात्मसात् कुर्यादेवं धर्मो न हीयते॥ 18 ॥

यदि मृतक के सामान का कोई भी दावेदार दस वर्षों के भीतर आकर अपना दावा प्रस्तुत नहीं करता, तो राजा को यह मान लेना चाहिए कि मृतक का कोई उत्तराधिकारी नहीं है। इस स्थिति में प्रशासन को वह सामान बेचकर प्राप्त धन राजकोष में जमा करा देना चाहिए।

दस वर्षों के पश्चात् किसी दावेदार के आ जाने पर उस धन को लौटाना-न लौटाना राजा की इच्छा पर निर्भर करता है। निर्धारित अवधि के उपरान्त दावेदार केवल दया की याचना ही कर सकता है; क्योंकि समय-सीमा के बीत जाने के साथ उसका विधिसम्मत अधिकार भी समाप्त हो चुका होता है।

॥ चतुर्थ अध्याय का तृतीय प्रकरण समाप्त ॥

4. दत्ताप्रदानिक प्रकरण

दत्त्वा द्रव्यमसम्यग् यः पुनरादातुमिच्छति।
दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम्॥ 1॥

किसी अयोग्य व्यक्ति को योग्य समझकर दिये गये धन को उसकी अयोग्यता एवं अपात्रता के प्रकट हो जाने पर क्रोधावेश में वापस लेने का प्रयास 'दत्ताप्रदानिक' कहलाता है। इसे भी एक विवाद-स्थल समझना चाहिए।

अदेयमथ देयं च दत्तं चादत्तमेव च।
व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः॥ 2॥

देना चार प्रकार होता है—अदेय, देय, दत्त और अदत्त। निषिद्ध वस्तु का देना **अदेय,** देने योग्य वस्तु का दान **देय,** देकर पुनः न लौटाना **दत्त** तथा एक बार देकर वापस मिल गया **अदत्त** कहलाता है।

तत्रेह्यष्टावदेयानि देयमेकविधं स्मृतम्।
दत्तं सप्तविधं श्रेयमदत्तं षोडशात्मकम्॥ 3॥

स्मृतिकारों ने अदेय के आठ, देय का एक, दत्त के सात और अदत्त के सोलह प्रकार बताये हैं।

अन्वाहितं याचितकर्माधिः साधारणं च यत्।
निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति॥ 4॥

परिवार रखने वाले, अर्थात् गृहस्थ के लिए अदेय होते हैं—1. अन्वाहिता—कठिनाई से जुटाया गया धन, 2. याचित, 3. आधि—धरोहर की वस्तु, 4. साधारण द्रव्य—खाने-पीने के काम में आने वाला, 5.निक्षेप, 6. स्त्री, 7. पुत्र तथा 8. सर्वस्व —घर के बरतन, वस्त्र आदि।

आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना।
अदेयान्याह्यचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्॥ 5॥

आचार्यों के अनुसार उपर्युक्त आठ प्रकार के धन घोर संकट के उपस्थित होने पर तथा देने का वचन देकर भी कभी नहीं देने चाहिए।

कुटुम्बभरणाद् द्रव्यं यत्किञ्चिदतिरिच्यते।
तद्देयमपहृत्यान्यत् कुटुम्बी दोषमाप्नुयात्॥ 6॥

परिवार का भरण-पोषण करना परिवार के मुखिया का कर्तव्य-कर्म है।

अतः परिवारजनों की आवश्यकता से अतिरिक्त अवशिष्ट धन ही देय होता है। परिवार के लोगों की आवश्यकता की उपेक्षा करके दिया गया दान 'अपहरण' कहलाता है और इसके लिए दानकर्ता पुण्य के स्थान पर पाप का भागी बनता है।

यस्य त्रैवार्षिकं वित्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ 7॥

तीन वर्षों तक अथवा उससे भी अधिक समय तक परिवार के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त धन रखने वाले गृहस्थ को ही यज्ञ-यागादि करने का अधिकार है।

अभिप्राय यह है कि सोमपान करने व यज्ञ-यागादि के लिए प्रस्तुत होने से पूर्व गृहस्थ के लिए यह विचारणीय होता है कि क्या उसके पास तीन वर्षों तक परिवारजनों की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त धन विद्यमान है। यदि ऐसा नहीं, तो व्यक्ति को किसी बड़े यज्ञ को सम्पन्न करने के विषय में सोचने तक का अधिकार नहीं। परिवारजनों की उपेक्षा करके पुण्य कर्म करना सर्वथा अनुचित है।

टिप्पणी—लगता है कि सोमपान किये जाने वाले बृहत् यज्ञ-यागादि की तैयारी में तथा उसे सम्पन्न करने में दो-तीन वर्ष लग जाते होंगे। इस अवधि में व्यक्ति इस प्रकार व्यस्त हो जाता होगा कि उसके लिए व्यापार-धन्धा करना और धन कमाना सम्भव ही नहीं रहता होगा। इसीलिए तीन वर्षों तक परिवार के भरण-पोषण की पूर्व-व्यवस्था करने का निर्देश दिया गया है।

पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्टानां स्नेहात् प्रत्युपकारतः।
स्त्रीभक्त्यानुग्रहार्थं च दत्तं सप्तविधं स्मृतम्॥ 8॥

दत्त धन के निम्नोक्त सात प्रकार-भेद हैं—1. **पण्यमूल्य**—ख़रीदे सामान का दाम चुकाना, 2. **भृति**—वेतन अथवा भत्ता, 3. **तोष**—किसी के कार्य पर प्रसन्न होकर उसे पुरस्कृत करना, 4. **स्नेहसूचन**—मित्र, बन्धु, प्रियजन के प्रति स्नेह-प्रदर्शन के रूप में उपहार देना, 5. **प्रत्युपकार**—किसी के उपकार के भार को हलका करने के लिए उसे भेंट के रूप में समर्पित करना, 6. विवाह आदि में शगुन के रूप में कन्या, भगिनी आदि को स्त्रीशुल्क के रूप में सौंपना तथा 7. **अनुग्रह**—किसी अभावग्रस्त की सहायता करना।

इस प्रकार आज की भाषा में दान के निम्नोक्त सात प्रकार हैं—**विनिमय, वेतन, पुरस्कार, उपहार, प्रत्युपकार, शुल्क तथा सहायता।**

अदत्तं तु भयक्रोधद्वेषशोकरुगन्वितैः ।
तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः ॥ 9॥
बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम् ।
कर्त्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्॥ 10॥

अदत्त—अर्थात् दिया हुआ भी न दिये-जैसा—के निम्नोक्त सोलह भेद हैं—

1. भय (धर्म का, दण्ड का या लोकलाज का भय) के कारण दिया गया धन, 2. क्रोध—किसी के व्यवहार पर क्षुब्ध होकर, आवेश में आकर धन फेंकना, 3. शोक—स्त्री-पुत्रादि की अकालमृत्यु पर विह्वल एवं विरक्त होकर सम्पत्ति का त्याग कर देना, 4. रोग—किसी असाध्य रोग से पीड़ित और जीवन से निराश होने की स्थिति में किसी को कुछ भी देने को बक देना, 5. उत्कोच—अपने किसी काम को निकालने के लिए घूस देना, 6. परिहास—मज़ाक़ में ही किसी को कुछ देने को बोल देना, 7. विनिमय—किसी वस्तु को लेने के बदले कुछ देने का वचन करना, 8. दानव्यत्यास—दूसरों को कुछ देता देखकर वास्तविक स्थिति की जांच किये बिना ही भावावेश में आकर कुछ दे देना, 9. छल-कपट से दूसरों द्वारा धन छीनना—सौ देकर हज़ार देना-बताना और वसूल करने की चेष्टा करना, 10. बालक द्वारा किया गया लेन-देन, 11. मूढ़, अर्थात् बुद्धिहीन व्यक्ति द्वारा दिया गया, 12. अस्वतन्त्र, अर्थात् दूसरों पर आश्रित व्यक्ति द्वारा प्रदत्त, 13. आर्त्त, अर्थात् घर की निर्धनता, किसी रोग, संकट अथवा पारिवारिक कलह-द्वेष से दिया गया धन, 14. मत्त—मदिरा आदि के प्रभाव से विवेकहीन बने व्यक्ति द्वारा दिया गया धन 15. प्रयोजन-विशेष—नियुक्ति, स्थानान्तरण, सम्मान, पुरस्कार आदि लाभ के लिए लिया-दिया, परन्तु उस प्रयोजन का सिद्ध न होना।

टिप्पणी—असहाय भाष्यकार ने 'भय से दत्त को अदत्त' मानने का एक सुन्दर उदाहरण निम्नोक्त रूप से प्रस्तुत किया गया है—**दुष्टेन साधुरटव्यां प्राप्तोऽभिहितः। द्रम्माणां शतं ददासि ततो जीवसि अन्यथा म्रियसे। सोऽपि भयाद्वदति दास्यामित्येवं भयप्रतिश्रुतमदत्तमिति विज्ञेयम्।** अर्थात् एक दुष्ट किसी सज्जन व्यक्ति को अकेले में पाकर उसे डराते हुए कहता है—तुम पर शनि भारी है, यदि सौ-दो सौ से पूजा नहीं करोगे, तो मर जाओगे। भला व्यक्ति उसके झांसे में आकर देने का संकल्प कर लेता है—इस संकल्प को भी विवशता में किया होने के कारण अव्यवहार्य माना जायेगा।

इसमें कुछ और भी जोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, लोभ को ही लीजिये। कुछ धूर्त व्यक्ति स्वर्णाभूषणों को अथवा नक़दी को दुगुना करने का प्रलोभन देकर व्यक्ति को लूट लेते हैं।

इसी प्रकार प्रसन्नता को भी लिया जा सकता है। कोई व्यक्ति किसी पर प्रसन्न होकर अनपेक्षित धन पुरस्कार के रूप में दे देता है। कामवासना को भी इसी प्रकार अदत्त ही मानना चाहिए। कामान्ध व्यक्ति अपनी किसी प्रेयसी अथवा वेश्या को अन्धाधुन्ध धन लुटा देता है।

अभिप्राय यह है कि किसी भी असामान्य स्थिति में तथा अनुचित ढंग से

दिये धन को अदत्त ही मानना चाहिए।

अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्य्ये वा धर्मसंहिते।
यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तं तदपि स्मृतम्॥ 11॥

इसी तथ्य को इस पद्य में स्पष्ट करते हुए कहा गया है—1. अयोग्य व्यक्ति द्वारा अपने को योग्य बताकर लिया (ऐंठा) गया धन। उदाहरणार्थ, किसी अशिक्षित द्वारा अपने को विद्वान्-धर्मात्मा बताकर धोखे से वसूल किया धन तथा 2. धर्मकार्य—यज्ञ-यागादि को सम्पन्न करने अथवा तीर्थाटन करने अथवा कन्या का विवाह करने—के लिए प्राप्त धन को द्यूत-क्रीड़ा व मदिरापान आदि में उड़ाना आदि।

इस प्रकार असत्य एवं दुरुपयोग आदि की स्थिति में दत्त को अदत्त मानना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि यदि उपर्युक्त सभी स्थितियों में धन देने का वचन किया गया है, तो उसे नकार देना चाहिए और यदि धन दे दिया गया है, तो उसे वापस लेने का उद्यम करना चाहिए।

गृह्णात्यदत्तं यो लोभाद् यश्चादेयं प्रयच्छति।
अदेयदायको दण्डस्तथादत्तप्रतीच्छकः॥ 12॥

न देने योग्य स्थिति में भी न देने योग्य वस्तु को लोभवश ग्रहण करने वाला 'अदत्त प्रतीच्छक' कहलाता है तथा अदेय स्थिति में अदेय वस्तु को देने वाला 'अदेय दायक' कहलाता है। प्रशासन को इन दोनों को यथोचित दण्ड देना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का चतुर्थ प्रकरण समाप्त॥

5. अभ्युप्रेत्याशुश्रूषा

अभ्युपेत्य च शुश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते।
अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते ॥ 1 ॥

सेवा के लिए वचन देकर, अपने वचन को न निभाना, अर्थात् धोखा देना 'अभ्युप्रेत्याशुश्रूषा' नामक विवाद का विषय कहलाता है।

शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः।
चतुर्विधः कर्मकरस्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः ॥ 2 ॥

मनीषियों ने शास्त्रों में सेवकों के पांच, कर्मकरों के चार तथा दासों के पन्द्रह प्रकार-भेदों का वर्णन किया है।

टिप्पणी—आज्ञानुसार कार्य करने का नाम सेवा है। प्राचीनकाल में वेतनभोगी स्थायी कर्मचारी **सेवक**, कार्य-विशेष के लिए विशेष अवसरों पर नियुक्त अस्थायी कर्मचारी **कर्मकर** तथा ख़रीदे और वस्त्र-भोजन पर काम करने वाले घरेलू नौकर **दास** कहलाते थे। इन्हीं के विभिन्न रूप-भेद हैं।

शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत ।
एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः ॥ 3 ॥

निम्नोक्त चारों को कर्मकर—कुछ समय के लिए विद्या-वेतन आदि के बदले सेवा करने वाले—समझना चाहिए।

शिष्य—गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने आने वाला, आज की भाषा में छात्र (*स्टूडेण्ट* अथवा डे *स्कॉलर*)।

अन्तेवासी—गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करने वाला। आज की भाषा में छात्रावास में रहने वाला (*होस्टलर*)।

भृतक—पारिश्रमिक लेकर सेवा करने वाला—पानी भरने वाला, भार ढोने वाला, लकड़ी चीरने वाला तथा खाना बनाने वाला।

अधिकर्मकृत—दुकान, कारख़ाना आदि व्यापारिक संस्थान आदि में कार्य करने वाला—मुनीम, सहायक तथा *सेल्समैन* आदि।

सामान्यस्त्वस्वतन्त्रत्वमेषामाहुर्मनीषिणः ।
जातिकर्मकृतश्चोक्तो विशेषो वृत्तिरेव च ॥ 4 ॥

मनीषी स्मृतिकारों के अनुसार—यद्यपि ये चारों जाति, स्थिति, कर्म और

वृत्ति की दृष्टि से भिन्नता लिये हुए होते हैं, तथापि ये चारों एक दृष्टि से समान हैं। वह समानता है—इन चारों का स्वामी के अधीन होना। शिष्य और अन्तेवासी जाति से द्विज होते हैं। भृतक तथा अधिकर्मकृत शूद्र भी हो सकते हैं। इन चारों की सामाजिक स्थिति की भिन्नता स्पष्ट है। शिष्य और अन्तेवासी गुरु की सेवा करते हुए भी दास नहीं कहलाते, जबकि भृतक और अधिकर्मकृत दास कहला भी सकते हैं और नहीं भी। शिष्य और अन्तेवासी वेतनभोगी नहीं होते, जबकि भृतक पारिश्रमिक पाता है और अधिकर्मकृत वेतन अथवा भत्ता अथवा कमीशन पाता है। शिष्य और अन्तेवासी गुरु की गुरुता के कारण उसके अधीन हैं और उसके प्रति श्रद्धा-भाव रखते हैं, परन्तु भृतक और अधिकर्मकृत को स्वामी के गुण, पद तथा सामाजिक स्तर आदि से कुछ लेना-देना नहीं। उसे तो केवल उससे प्राप्त होने वाले धन और उसके उदार व्यवहार से प्रयोजन है। शिष्य और अन्तेवासी को समान्यतया शिक्षा-समाप्तिकाल तक गुरु के पास रहना ही है। भृतक और अधिकर्मकृत का कार्यकाल और स्थितिकाल तो अनिश्चित ही रहता है, वे जीवनपर्यन्त भी स्वामी के साथ जुड़े रह सकते हैं तथा इसके विपरीत दूसरे दिन भी उसे छोड़कर जा सकते हैं।

इस प्रकार इन चारों में जाति सम्बन्धी, स्थिति सम्बन्धी, कर्म सम्बन्धी और वृत्ति सम्बन्धी भिन्नता होते हुए भी एक अभिन्नता है—गुरु अथवा स्वामी की वशवर्तिता—उसकी आज्ञापालन तत्परता। इस प्रकार उसकी अधीनता, दूसरे शब्दों में अस्वतन्त्रता।

कर्मापि द्विविधं ज्ञेयमशुभं शुभमेव च।
अशुभं दासकर्मोक्तं शुभं कर्मकृता स्मृतम्॥ 5॥

सेवाकर्म दो प्रकार का कहा गया है—शुभ तथा अशुभ। दासकार्य—झाड़ू-पोचा, बर्तन साफ़ करना, वस्त्र-प्रक्षालन, जूता-पॉलिश, तेल-मालिश तथा लकड़ी चीरना-फाड़ना आदि छोटे कार्य—अशुभ कर्म हैं तथा शेष सभी कर्मचारियों का सेवाकार्य शुभ कर्म है।

गृहद्वाराशुचिस्थानरथ्यावस्करशोधनम् ।
गुह्याद्वा स्पर्शनोच्छिष्टविण्मूत्रग्रहणोज्झनम्॥ 6॥
इष्टतः स्वामिनश्चाङ्गैरुपस्थानमथोऽन्ततः।
अशुभं कर्म विज्ञेयं शुभमन्यदतः परम्॥ 7॥

अशुभ कर्मों का विवरण इस प्रकार है—1. गृहद्वार, अपवित्र स्थान, अपवित्र मार्ग तथा अशुद्ध वस्तु का शोधन, 2. गृहस्वामी के गुप्त अंगों का स्पर्श, 3. उच्छिष्ट (जूठन) और मल-मूत्र को उठाकर घर से बाहर फेंकना तथा 4. स्वामी की इच्छानुसार उसे इन्द्रिय-सुख देना आदि इस प्रकार के सभी कर्म अशुभ हैं और इनसे भिन्न अन्य कर्म शुभ हैं।

टिप्पणी—इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि प्राचीनकाल में स्वामी अपने दास-दासी का यौन-शोषण भी करते थे। दासों को स्वामी की इच्छा का विरोध करने का अधिकार नहीं था। स्वामी उनकी चमड़ी उधेड़ सकता था। यहां तक कि उनके अधमरा हो जाने पर उसका उपचार कराने-न कराने के लिए स्वामी स्वतन्त्र था। दास की मृत्यु के लिए स्वामी उत्तरदायी नहीं था। क्या मानवता थी ?

आविद्याग्रहणाच्छिस्य: शुश्रूषेत प्रयतो गुरुम्।
तत्वृत्तिर्गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च॥ 8॥

शिष्य को विद्या-ग्रहणपर्यन्त पूरे समय पूर्ण मनोयोग से गुरु की सेवा में अपने को समर्पित करना चाहिए। यही सेवा का भाव गुरुपत्नी और गुरुपुत्र के प्रति भी रखना चाहिए।

ब्रह्मचारी चरेद्भैक्षमध: शाय्यनलङ्कृत:।
जघन्यशायी सर्वेषां पूर्वोत्थायी गुरोर्गृहे॥ 9॥

गुरुकुल में रहने वाले शिष्य (अन्तेवासी) को अपने निवासकाल में निम्नोक्त नियमों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए—1. ब्रह्मचर्य का पालन, अर्थात् स्त्री-संग की इच्छा भी न करना और न ही इस विषय में सोचना, 2. भिक्षा से उदर-भरण करना, अर्थात् रुचिकर, स्वादिष्ट तथा मनचाहे भोजन के स्थान पर यथाप्राप्त से सन्तोष करना तथा याचक के रूप में विनम्रता तथा साधुवृत्ति—जो दे उसका भी भला, जो न दे उसका भी भला—को अपनाना और दूसरों से मांगे अन्न पर जीते हुए समाज को लौटाने की भावना का पाठ पढ़ना, 3.भूतलशैया—रीढ़ की हड्डी को सुदृढ़ बनाना, 4. अलंकरण की इच्छा का त्याग तथा 5. गुरु-परिवार के सोने के उपरान्त सोना और जागने से पूर्व जागना।

नासन्दिष्ट: प्रतिष्ठेत तिष्ठेद्वा गुरुणा क्वचित्।
सन्दिष्ट: प्रतिकुर्वीत शक्तश्चेदविचारयन्॥ 10॥

गुरु का आदेश न मिलने तक शिष्य को उनके सामने उपस्थित रहना चाहिए। उनकी अनुमति प्राप्त किये बिना वहां से खिसक जाना कदापि उचित नहीं। गुरु के आदेश के औचित्य पर विचार किये बिना ही उसका पालन करना शिष्य का धर्म एवं कर्तव्य है।

यथाकालमधीयीत यावन्न विमना गुरु:।
आसीनोऽधो गुरो: पार्श्वे फलके वा समाहित:॥ 11॥

शिष्य को नियम एवं निश्चित समय पर अपना अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिए और जब तक गुरु पठन-पाठन को बन्द करने का आदेश नहीं देते, तब तक अध्ययन जारी रखना चाहिए। शिष्य को पाठ पढ़ते समय गुरु के सामने धरती पर आसन बिछाकर और संयत होकर बैठना चाहिए।

स्रोतोवहेव सर्वत्र विद्या निम्नानुसारिणी।
निम्नवर्ती श्रवेत्तस्मात्तदर्थी सर्वदा गुरोः ॥ 12 ॥

जिस प्रकार नदी का जल सदैव नीचे की ओर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार विद्या भी सदैव विनम्र व्यक्ति को प्राप्त होती है। अतः विद्यार्थी को उद्देश्य-सिद्धि के लिए सदैव ही गुरु के प्रति विनम्र एवं विनत बने रहना चाहिए। तब ही वह विद्या में प्रवीणता प्राप्त कर अपने जीवन को सफल बना सकता है।

अनुशास्यश्च गुरुणा न चेदनुविधीयते।
अविधिनाथवा बद्ध्वा रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ 13 ॥

शिष्य के धृष्ट, अविनीत तथा अनुशासनहीन होने पर उसे अनुशासित करना, सही मार्ग पर लाना, दिशा-निर्देश देना गुरु का कर्तव्य-कर्म है। इसके लिए भले ही गुरु को शिष्य की डण्डे से पिटाई करनी पड़े अथवा रस्सी से बांधकर रखना पड़े, यह सब करने में संकोच नहीं करना चाहिए। वस्तुतः अपने शिष्य को सुसंस्कृत करने के लिए गुरु द्वारा कठोर पग उठाना शिष्य के हित-साधन के निमित्त ही होता है। इस सम्बन्ध में मनु का कथन दर्शनीय है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।

अर्थात् गुरु विष-भरे हाथों से नहीं, अपितु अमृतमय हाथों से पिटाई करते हैं। उनके द्वारा पिटाई करने का उद्देश्य शिष्य को सन्मार्ग पर लाना होता है।

भृशं न ताडयेदेनं नोत्तमाङ्गे न वक्षसि।
अनुशास्याय विश्वास्यः शास्यो राज्ञान्यथा गुरुः ॥ 14 ॥

गुरु को अपने शिष्य को अनुशासित करने के लिए उसकी पिटाई करते समय उसके उत्तम अंगों—वक्ष के ऊपर के अंगों—ग्रीवा, मस्तक, सिर, कान, नाक, गला आदि—पर कभी प्रहार नहीं करना चाहिए। ताड़ना का विधान केवल अनुशासनहीन छात्र के लिए है और उसका उद्देश्य छात्र को सही मार्ग पर लाना है। अनावश्यक एवं अनुचित रूप से छात्रों को दण्ड देने वाले अध्यापक को क्रूर मानकर प्रशासन द्वारा दण्डित करना चाहिए।

समावृत्तश्च गुरवे प्रदाय गुरुदक्षिणाम्।
प्रनीयात् स्वगृहानेषा शिष्यवृत्तिरुदाहृता ॥ 15 ॥

शिष्य का यह कर्तव्य-कर्म है कि उसे अपनी शिक्षा-समाप्ति पर अपने गुरु को दक्षिणा से सन्तुष्ट करने के उपरान्त ही अपने घर को लौटना चाहिए।

स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया।
आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम् ॥ 16 ॥

छात्र को अपने अभिभावकों, शुभचिन्तकों तथा बन्धु-बान्धवों से परामर्श करके ही शिक्षा की शाखा-विशेष—वैद्यक, विज्ञान, कला, वाणिज्य, अनुसन्धान,

शिल्प तथा यान्त्रिकी आदि—का चुनाव करना चाहिए। अभिमत शाखा की पाठ्यावधि के समाप्तिकाल तक उसे गुरुकुल में रहना चाहिए।

आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत् कारयेत् कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्॥ 17॥

आचार्य पिता बनकर अपने शिष्य का पुत्र के समान पालन-पोषण करता है। वह अपने शिष्य से कोई अन्य निजी कार्य न लेकर केवल विद्या-प्राप्ति के लिए अनुकूल सुविधाएं और परिवेश जुटाकर उसे उद्देश्य के प्रति समर्पित बनाता है।

शिक्षयन्तमदुष्टं य आचार्यः सम्परित्यजेत्।
बलाद्वासयितव्यः स्याद्बधबन्धौ च सोऽर्हति॥ 18॥

ईमानदारी से अपने शिष्यों को शिक्षित करने वाले तथा कठोरता से अनुशासन को लागू करने वाले गुरु का परित्याग करने वाले छात्र को बांधकर पीटना ही नहीं चाहिए, अपितु उसे बलपूर्वक गुरु के समीप लाकर शिक्षा-प्राप्ति के लिए बाध्य भी करना चाहिए।

शिक्षितोऽपि कृतं कालमन्तेवासी समाप्नुयात्।
तत्र कर्म च यत् कुर्यादाचार्यस्यैव तत् फलम्॥ 19॥

शिक्षा-प्राप्तिकाल में शिष्य के द्वारा किये गये कर्म—आविष्कार, मूर्ति, चित्र-निर्माण, वस्त्रों की सिलाई, खिलौने बनाना, फ़र्नीचर बनाना, लेख, पुस्तक लिखना, प्रतियोगिता में पुरस्कार पाना आदि के फल एवं लाभ पर गुरु का अधिकार होता है। शिष्य को शिक्षाकाल में अपने शारीरिक अथवा बौद्धिक श्रम से प्राप्त आय अपने गुरु को ही समर्पित कर देनी चाहिए। शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त शिष्य के द्वारा गुरुकुल को छोड़कर अपने घर चले जाने पर, यदि उसके श्रम का कोई फल मिलता है या किसी सामान की बिक्री का धन आता है, किसी पुस्तक पर पुरस्कार मिलता है अथवा अन्य किसी प्रकार का सम्मान मिलता है, तो उस पर भी गुरु का ही अधिकार होता है।

गृहीतशिल्पः समये कृत्वाचार्यप्रदक्षिणम्।
शक्तितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते॥ 20॥

शिष्य अपने निर्वाचित शिल्प, कला आदि विषय के निर्धारित पाठ्यक्रम को निश्चित अवधि में सम्पन्न करने के उपरान्त अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को यथोचित दक्षिणा समर्पित करता है और फिर गुरु की अनुमति प्राप्त होने पर ही अपने घर को लौटता है।

वेतनं वा यदि कृतं ज्ञात्वा शिष्यस्य कौशलम्।
अन्तेवासी समादद्यान्न चान्यस्य गृहे वसेत्॥ 21॥

यदि शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त गुरु शिष्य को रोक लेता है और उसका वेतन

निर्धारित करके उसे कोई काम सौंपता है, तो शिष्य को अनुकूल प्रतीत होने पर अपनी स्वीकृति देनी चाहिए और वेतन लेने में भी आनाकानी नहीं करनी चाहिए। हां, उस अवधि में उसे किसी के घर में न रहकर अपने आवास की व्यवस्था स्वयं करनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जब शिष्य वेतनभोगी है, तो उसे गुरुकुल में मुफ़्त आवास और भोजन पाने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। यदि वह सुविधाओं का उपभोग करता है, तो फिर वेतन पाने के उसके अधिकार के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

भृतकस्त्रिविधो ज्ञेय उत्तमो मध्यमोऽधमः।
शक्तिभक्त्यनुरूपा स्यादेषां कर्माश्रया भृतिः ॥ 22 ॥

भृतक—वेतनभोगी—के तीन स्तर अथवा भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। आज की भाषा में प्रथम श्रेणी के राजपत्रित अधिकारी, द्वितीय श्रेणी के राजपत्रित अधिकारी तथा तृतीय श्रेणी के अराजपत्रित कर्मचारी। इनके वेतन निर्धारण के तीन आधार अथवा मापदण्ड हैं—1. शक्ति, अर्थात् कार्य करने की क्षमता, 2. भक्ति, अर्थात् कार्य के प्रति निष्ठा एवं समर्पण का भाव तथा 3. कर्म, अर्थात् कार्य का स्वरूप एवं महत्त्व।

उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः।
अधमो भारवाहः स्यादित्येष त्रिविधो स्मृतः ॥ 23 ॥

आयुधधारी, अर्थात् देश की रक्षा, शान्ति और व्यवस्था को बनाये रखने आदि कठोर दायित्व के निर्वहण के प्रति समर्पित तथा प्राणों का संकट झेलने को सदैव उत्तम श्रेणी का कर्म समझना चाहिए। कृषि, वाणिज्य और पशुपालन से देश की समृद्धि में योगदान, देशवासियों के भरण-पोषण का दायित्व निभाना मध्यम कर्म है। भार ढोना, लकड़ियां काटना, पानी भरना, धान्य साफ़ करना तथा वस्त्र-प्रक्षालन आदि सेवाकार्य अधम कर्म हैं।

अर्थेस्वधिकृतो यः स्यात् कुटुम्बस्य तथोपरि।
सोऽपि कर्मकरो ज्ञेयः स च कौटुम्बिकः स्मृतः ॥ 24 ॥

कुटुम्ब के सभी सदस्यों के भरण-पोषण का दायित्व निभाने वाला, कुटुम्ब की चल-अचल सम्पत्ति की देखभाल करने वाला तथा परिवार के लिए आय की व्यवस्था करने के लिए अधिकृत व्यक्ति भी कर्मकर माना जाता है।

शुभकर्मकरास्त्वेते चत्वारः समुदाहृताः।
जघन्यकर्मभाजस्तु शेषा दासास्त्रिपञ्चकाः ॥ 25 ॥

शुभ कर्मकरों के चार रूप-भेद हैं, शेष सारे भेद अशुभ कर्मकरों के हैं। दासों के पन्द्रह प्रकार-भेद हैं।

गृहे जातस्तथा क्रीतो लब्धो दायादुपागतः।
अनाकालभृतो लोके आहितः स्वामिना च यः॥ 26॥
मोक्षितो महतश्चर्णात् प्राप्तो युद्धात् पणे जितः।
तवाहमित्युपगतः प्रव्रज्यावसितः कृतः॥ 27॥
भक्तादासश्च विज्ञेयस्तथैव वडवाहृतः।
विक्रेता चात्मनः शास्त्रे दासाः पञ्चदश स्मृताः॥ 28॥

शास्त्रों में दासों के निम्नोक्त पन्द्रह प्रकार बताये गये हैं—1. घर के दास-दासी से उत्पन्न, 2. क्रीत, अर्थात् ख़रीदा गया, 3. लाभ के रूप में प्राप्त, अर्थात् व्यापार आदि में नक़दी के बदले मिला, 4. दाय के रूप में पितृ-परम्परा से प्राप्त, 5. दुर्भिक्ष आदि में पाला गया, सहारा दिया गया, 6. किसी के द्वारा बन्धक रखा गया, 7. भारी ऋण से मुक्त कराया गया, अर्थात् प्रत्युपकार के रूप में आया हुआ, 8. युद्ध में पराजित राजा से छीना गया अथवा बन्दी बनाया गया, 9. अपनी आवश्यकतावश शरण में आया हुआ, 10. संन्यास आश्रम से भ्रष्ट, 11. निश्चित समय के लिए अनुबन्धित, 12. पूरा जीवन अपने भरण-पोषण के बदले घर में सेवा करने वाला, 13. दासी द्वारा अपने साथ लाया गया, 14. शर्त में जीता गया तथा 15. अपने को बेचने वाला।

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दासत्वान्न विमुच्यते।
प्रसादाद्धनिनोऽन्यत्र दास्यमेषां क्रमागतम्॥ 29॥

उपर्युक्त पन्द्रह प्रकार के दासों में प्रथम चार—1. घर में उत्पन्न, 2. क्रीत, 3. लाभ के रूप में प्राप्त तथा 4. दाय के रूप में प्राप्त वंशानुगत होने से स्वामी से प्रसन्न हो जाने पर भी, अर्थात् उसके चाहने पर भी दासत्व से मुक्त नहीं हो सकते।

यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोक्षयेत् प्राणसंशयात्।
दासत्वात् स विमुच्येत पुत्रभागे लभेत च॥ 30॥

अपने प्राणों को संकट में डालकर, स्वामी के प्राणों की रक्षा करने वाला दास न केवल दासत्व से मुक्त हो जाता है, अपितु स्वामी का पुत्रतुल्य होकर उसकी सम्पत्ति के भाग को पाने का अधिकारी भी बन जाता है।

अनाकालभृतो दास्यान्मुच्यते गोयुगं ददत्।
संरक्षितं यद्दुर्भिक्षं न तच्छुध्येत कर्मणा॥ 31।

अकाल में पाला-पोसा जाने से दास बना व्यक्ति दीर्घकाल तक स्वामी की सेवा करने पर भी दासत्व से मुक्त नहीं हो सकता है। हां, सामर्थ्य जुटाने पर गाय-बैल आदि देकर मुक्ति-लाभ कर सकता है।

आहितोऽपिधनं दत्वा स्वामी यद्येनमुद्धरेत्।
अथोपगमयेदेनं स विक्रीतादनन्तरः॥ 32॥

बन्धक में आया दास, उसके मूलस्वामी द्वारा धन चुकाने पर मुक्त हो जाता है। हां, उसके मूलस्वामी द्वारा निश्चित अवधि में ऋण न चुका सकने पर वह 'क्रीतदास' बन जाता है।

ऋणं तु सोदयं दत्वा ऋणी दास्यात् प्रमुच्यते।
कृतकालव्यपगमात् कृतकोऽपि विमुच्यते॥ 33॥

भारी ऋण से मुक्त किया गया और प्रत्युपकार के रूप में दास बना व्यक्ति, ब्याज समेत ऋण-राशि को चुका देने पर दासत्व से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार निश्चित अवधि के लिए दासत्व के रूप में अनुबन्धित व्यक्ति अवधि बीतने पर अपने आप मुक्त समझा जाता है।

तवाहमित्युपगतो ध्वजप्राप्तः रणार्जितः।
प्रतिशीर्षप्रदानेन मुच्यते तुल्यकर्मणा॥ 34॥

स्वयं अपने को दासत्व के लिए सौंपने वाले तथा युद्ध में बन्दी बनाकर लाये गये दास, स्थिति बदलने पर, अर्थात् अपना पेट भरने को समर्थ होने पर तथा राजाओं में सन्धि-समझौता हो जाने पर दासत्व से मुक्त हो जाते हैं।

राज्ञामेव तु दासः स्यात् प्रव्रज्यावसितो नरः।
न तस्य विप्रमोक्षोऽस्ति न विशुद्धिः कथञ्चन॥ 35॥

भ्रष्ट संन्यासी—संन्यास आश्रम में रहते हुए अपने ऊपर संयम न रख पाने वाला—राजा का दास होता है। ऐसे नीच पुरुष के लिए न कोई प्रायश्चित्त है और न ही कोई मुक्ति है।

भक्तस्योपेक्षणात् सद्यो भक्तदासः प्रमुच्यते।
निग्रहाद्वडवानां तु मुच्यते वडवाहृतः॥ 36॥

जीवन-भर भरण-पोषण की आशा से दास बना व्यक्ति उपयुक्त भरण-पोषण न मिलने पर दासकर्म को छोड़ सकता है। इसी प्रकार दासी द्वारा अपने साथ लाया होने से दास बना उसका बेटा भी मां की मुक्ति के साथ अपने आप मुक्त हो जाता है।

विक्रीणीते य आत्मानं स्वतन्त्रः सन्नराधमः।
स जघन्यतरस्तेषां नैव दास्यात् प्रमुच्यते॥ 37॥

अपनी स्वतन्त्रता को स्वयं परतन्त्रता में बदलने वाला, अर्थात् अपने को बेचने वाला अधम एवं जघन्य पुरुष कभी दासत्व से मुक्त नहीं हो पाता।

चौरापहृतविक्रीता ये च दासीकृता बलात्।
राज्ञा मोक्षयितव्यास्ते दासत्वं तेषु नेष्यते॥ 38॥

चोरों के द्वारा अपहरण करके दास के रूप में बेचे जाने वाले अथवा बलपूर्वक दास बनाये जाने वाले, राजा द्वारा मुक्त करा दिये जाते हैं, उन्हें अधिक समय तक

दास बनाकर नहीं रखा जा सकता।

वर्णानां प्रातिलोम्येन दासत्वं न विधीयते।
स्वधर्मं त्यागिनोऽन्यत्र दारवद्दासता मता॥ 39॥

जिस प्रकार निम्न वर्ण वाले पुरुष को उत्तम वर्ण की स्त्री से विवाह सम्बन्ध का अधिकार नहीं है (उत्तम वर्ण की ब्राह्मण स्त्री निम्न वर्ण के शूद्र पुरुष से सम्बन्ध जोड़ती है, तो उसे अपनी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है) उसी प्रकार उच्च वर्ण के व्यक्ति को निम्न वर्ण के व्यक्ति द्वारा दास नहीं बनाया जा सकता। शूद्र तथा वैश्य द्वारा ब्राह्मण व क्षत्रिय से दास के रूप में काम लेना वर्जित है।

तवाहमिति चात्मानं योऽस्वतन्त्रः प्रयच्छति।
न स तं प्राप्नुयात् नाम पूर्वस्वामी लभेत तम्॥ 40॥

पहले से ही किसी के अधीन व्यक्ति (दूसरे के दास) द्वारा किसी अन्य व्यक्ति का दासत्व स्वीकार करने को मान्य नहीं किया जा सकता, अर्थात् दास को अपने पूर्व स्वामी को छोड़ने का और नया स्वामी चुनने का कोई अधिकार नहीं है। पुराना स्वामी अपने दास के नये स्वामी के पास होने का पता चलने पर, उसे बलपूर्वक वहां से अपने पास वापस ले जा सकता है।

अधनास्त्रय एवोक्ताः भार्या दासस्तथा सुतः।
यत्तु समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ 41॥

तीनों—स्त्री, पुत्र और दास—को निजी धन रखने का कोई अधिकार नहीं, अतः इनके द्वारा किया गया व्यापार-धन्धा तथा उससे अर्जित लाभ उसी का होता है, जिसके ये होते हैं, अर्थात् स्त्री, पुत्र और दास की सम्पत्ति पर क्रमशः पति, पिता और स्वामी का अधिकार होता है।

स्वदासमिच्छेद् यः कर्तुमदासं प्रीतमानसः।
स्कन्धादादाय तस्यासौ भिद्यात् कुम्भ सहाम्भसा॥ 42॥
साक्षताभिः सपुष्पाभिर्मूर्ध्न्यद्भिरवाकिरेत्।
अदास इति चोक्त्वा त्रिः प्रामुखं तमथोत्सृजेत्॥ 43॥

अपनी प्रसन्नता एवं उदारता से दास को दासत्व से मुक्त करने के इच्छुक स्वामी को जल से पूर्ण कलश दास के कन्धे से गिरा-फोड़कर ऐसी घोषणा करनी चाहिए। इसके साथ अक्षत और पुष्प-युक्त जल को दास के मस्तक से छुआकर गिराते हुए तीन बार बोलना चाहिए—अब तुम दास नहीं हो। इसके उपरान्त दासता से मुक्त हुए पुरुष को तत्काल पूर्व दिशा की ओर चल देना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का पञ्चम प्रकरण समाप्त॥

6. परिभाषित-अपरिभाषित वेतन विधि

भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः।
वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्॥ 1॥

आजीविका के लिए सेवाकार्य करने वाले कर्मचारियों-अधिकारियों के वेतन के भुगतान का नाम भी विधि है और इस भुगतान को रोकना, नकारना तथा टालना आदि विवाद का विषय है।

भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाक्रमम्।
आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम्॥ 2॥

सेवाकार्य के भुगतान के अनेक रूप हैं—1. पूरी निर्धारित राशि प्रारम्भ में ही दे देना, 2. निर्धारित पारिश्रमिक का कुछ अंश प्रारम्भ में, कुछ मध्य में और कुछ कार्य-समाप्ति पर देना, 3. सारा भुगतान कार्य-समाप्ति पर करना तथा 4. कुछ पारिश्रमिक आधा कार्य हो जाने पर और कुछ पूरा कार्य निपट जाने पर देना।

ये सभी रूप प्रचलित हैं। जिसे जो अनुकूल लगता हो, उसे वही अपनाना चाहिए।

भृत्यावनिश्चितायां तु दशभागं समाप्नुयुः।
लाभगोबीजशस्यानां वणिग्गोपकृषीवलाः॥ 3॥

वेतन अथवा पारिश्रमिक निर्धारित किये बिना ही कार्य पर लगाये गये भृत्य को व्यापारी द्वारा अपने लाभ का, गोपाल द्वारा अपने दुग्ध, दधि तथा नवनीत आदि गव्य द्रव्यों का तथा कृषक द्वारा अपनी उपज—फल, सब्ज़ी तथा धान्य आदि—का दशम भाग देय होता है।

क्रियोपकरणं चैषां क्रियां मत्प्रत्युदाहृतम्।
तत्स्वभावेन कुर्वीत न जिह्मेन समाचरेत्॥ 4॥

तकनीकी कर्मचारियों को काम में आने वाले उपकरणों (*ट्रेक्टर* आदि मशीनें) का ईमानदारी और सही ढंग से प्रयोग करना चाहिए। इसमें कुटिलता बरतनी धूर्तता ही नहीं, पाप भी है। किसी यन्त्र को जान-बूझकर ख़राब कर देना, बिगड़े और ठीक हो सकने वाले यन्त्र को ठीक न करना तथा ठीक करने में अनुचित ख़र्च कराना, अपने व्यवसाय के साथ विश्वासघात करना है। कर्मचारी को अपनी सत्यनिष्ठा से अपने स्वामी का विश्वास जीतना चाहिए।

कर्माकुर्वन् प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्वा भृतिं बलात्।
भृतिं गृहीत्वाऽकुर्वाणो द्विगुणं भृतिमावहेत्॥ 5॥

काम करने के लिए पारिश्रमिक निश्चित करके तथा पेशगी लेकर अथवा न लेकर काम न करने वाले को निश्चित राशि देकर उससे बलपूर्वक काम कराना चाहिए और उसे काम करना चाहिए। काम करने से आनाकानी करने वाले से निर्धारित पारिश्रमिक से दुगुनी राशि दण्ड के रूप में वसूल करनी चाहिए।

भृतिषड्भागमादद्यात् पण्यं युग्यकुतं त्यजन्।
अददत् कारयित्वा तु सोदयां भृतिमावहेत्॥ 6॥

व्यापारिक सामान के परिवहन—गाड़ी, छकड़ा, नौका, रथ, गज तथा अश्व—का, अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने का अनुबन्ध करके सामान न पहुंचाने वाले अथवा मार्ग में ही कहीं छोड़ देने वाले से निश्चित किराये का छठा भाग दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिए। इसी प्रकार, यदि सामान का स्वामी निश्चित भाड़ा समय पर नहीं देता है, तो उसे ब्याज समेत भुगतान करना चाहिए।

अनयन् भाटयित्वा तु भाण्डवान् यानवाहने।
दाप्यो भृतिचतुर्भागं सममर्धपथे त्यजन्॥ 7॥

यान (*ट्रक-टैम्पू* आदि अथवा वाहन—बैल-गाड़ी, भैंसा-गाड़ी आदि) अथवा वाहन को किराये पर लेने की बात पक्की करके, न लेने वाले को निश्चित किये गये किराये का चौथा भाग क्षतिपूर्ति के रूप में वाहन के स्वामी को देना चाहिए। भाड़े पर लिये वाहन को बीच रास्ते में छोड़ देने पर सवार को पूरे भाड़े का भुगतान करना चाहिए।

अनयन्वाहकोऽप्येवं भृतिहानिमवाप्नुयात्।
द्विगुणां तु भृतिं दाप्यः प्रस्थाने विघ्नमाचरन्॥ 8॥

वाहन लेने के लिए वचनबद्ध होकर, वाहन न लेने वाले द्वारा वाहन के स्वामी को दूसरे व्यक्ति को न बिठाने से हुई क्षति की पूर्ति करनी चाहिए। इसी प्रकार वाहन देने को वचनबद्ध होकर मुकरने अथवा प्रस्थान में विघ्न डालने वाले वाहनचालक को निश्चित किये गये भाड़े से दुगुनी रकम दण्ड के रूप में देनी चाहिए।

भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः।
स दाप्यो यत्प्रणष्टं स्याद्दैवराजकृतादृते॥ 9॥

दैवी आपत्ति—भूकम्प, दुर्घटना तथा तस्करों का उत्पात आदि तथा राजकीय संकट—वाहन द्वारा मार्ग-शुल्क (*रोड-टैक्स*) आदि चुकता न होने से वाहन को जाने की अनुमति न देना आदि—को छोड़कर चालक के दोष से सवार को होने वाली हानि—सामान चुराया जाना, चालक की दुरभिसन्धि से उसके द्वारा सिखाये

धूर्तों द्वारा लूट-पाट करना आदि—की पूर्ति का दायित्व चालक का ही होता है। चालक को सवार के नष्ट द्रव्य का भुगतान करना ही होता है।

गवां शताद्वत्सतरी धेनुः स्याद्द्विशताद् भृतिः।
प्रति संवत्सरं गोपे सन्दोहश्चाष्टमेऽहनि॥ 10॥

एक सौ गायों को एक वर्ष तक चराने—दिन-भर वन में घुमाने के पारिश्रमिक—के रूप में ग्वाले को दूध देने वाली एक युवा गाय देनी चाहिए। दो सौ गायों को पूरा वर्ष चराने का शुल्क बछड़े समेत एक स्वस्थ-पुष्ट गाय है। इस प्रकार आठ दिनों तक गाय को दोहने का शुल्क आठवें दिन का दुग्ध है।

उपानयेद् गां गोपाय प्रत्यहं रजनीक्षये।
चीर्णाः पीताश्च ता गोपः सायाह्ने प्रत्युपानयेत्॥ 11॥

गोपाल को प्रतिदिन गायों के स्वामी से गायों को लेकर उन्हें वन में घुमाना चाहिए। दोपहर में गायों को भोजन और पानी आदि पिलाना और सायंकाल वापस पहुंचाना चाहिए।

सा चेद् गौर्व्यसनं गच्छेद्व्यायच्छेत्तत्र शक्तितः।
अशक्तस्तूर्णमागत्य स्वामिने तन्निवेदयेत्॥ 12॥

गोचारण के समय किसी गाय के विपत्तिग्रस्त—घायल होना, गड्ढे में गिरना, हिंसक सिंह-व्याघ्र आदि का शिकार बनना अथवा किसी विषैले जन्तु द्वारा काटा जाना आदि—होने पर अपनी शक्ति के अनुसार उसकी रक्षा,उपचार आदि करना गोपाल का धर्म एवं दायित्व है। स्थिति गम्भीर होने पर गोपाल द्वारा गाय के स्वामी को यथाशीघ्र सूचित करना चाहिए और अस्वस्थ गाय उसके स्वामी को लौटा देनी चाहिए।

अव्यायच्छन्नविक्रोशन् स्वामिने चानिवेदयन्।
वोढुमर्हति गोपस्तां विनयं चापि राजनि॥ 13॥

विपत्तिग्रस्त गाय की सेवा-शुश्रूषा न करने वाले तथा गाय के स्वामी को सूचित न करने वाले, अर्थात् पूर्णतः उदासीन गोपालक से गाय के मूल्य की राशि (एक सौ रुपया, आजकल तीन-चार हज़ार रुपया) क्षति-पूर्ति के रूप में वसूल करनी चाहिए तथा प्रशासन द्वारा उसे दण्ड—जेल, कोड़े लगाना अथवा कठोर श्रम कराना आदि—भी देना चाहिए।

नष्टंविनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण पालएव निपातयेत्॥ 14॥

गाय के खो जाने पर, सर्पादि द्वारा काटने अथवा कुत्तों द्वारा घायल किये जाने पर तथा उसका यथोचित एवं यथाशीघ्र उपचार न किये जाने से मर जाने पर गोपालक को उसका मूल्य चुकाना पड़ता है।

अजाविके तथारुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।
यां प्रसह्य वृको हन्यात् पाले तत् किल्विषं भवेत्॥ 15॥

व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तुओं द्वारा घेरकर मारी गयी तथा किसी व्याध आदि द्वारा बींधी गयी भेड़-बकरी के मर जाने पर पशुपालक को ही उत्तरदायी ठहराया जाता है; क्योंकि उसकी उपेक्षा से ही भेड़-बकरी झुण्ड से अलग हो गयी और शिकारी का शिकार बन गयी। इसके लिए उसे मृत पशु का न केवल मूल्य चुकाना होता है, अपितु कोताही के लिए दण्ड भी भुगतना होता है।

विघुस्यापहृतं चौरैर्न पालो दातुमर्हति।
यदि देशे च काले च स्वामिनश्चापि शंसति॥ 16॥

चोरों द्वारा बलपूर्वक पशुओं का अपहरण किये जाने की सम्बद्ध स्वामियों और अधिकारियों को यथाशीघ्र सूचना देने वाला गोपालक पशुओं की हानि के लिए उत्तरदायी नहीं होता।

अनेन सर्वपालानां विवादः समुदाहृतः।
मृतेषु च विशुद्धिः स्याद्बालशृङ्गादिदर्शनात्॥ 17॥

इसी प्रकार किसी पशु की अपनी ही चञ्चलता से मृत्यु हो जाने पर मृत पशु के बाल, सींग आदि लाकर दिखाने वाले गोपालक से क्षतिपूर्ति की मांग नहीं की जा सकती।

पशुपालों के सम्भावित विवादों का विवरण इतना ही है।

शुल्कं गृहीत्वा पण्यस्त्री नेच्छन्ती द्विस्तदाप्नुयात्।
अप्रयच्छंस्तदा शुल्कमनुभूय पुमान् स्त्रियम्॥ 18॥

किसी पुरुष से सम्भोग-शुल्क लेकर उसे अंग-सुख देने से इनकार करने वाली वेश्या को वसूल किये गये शुल्क का दुगुना लौटाना होता है। इसी प्रकार वेश्या को सम्भोग के उपरान्त शुल्क देने का वचन-आश्वासन देकर, फुसलाकर सम्भोग करने और फिर शुल्क न चुकाने वाले पुरुष से भी दुगुना शुल्क वसूल करना चाहिए।

अयोनौ वा समाक्रामेद्बहुभिर्वापि वासयेत्।
शुल्कं सोऽष्टगुणं दाप्यो विनयं तावदेव तु॥ 19॥

किसी वेश्या को भोग के लिए अनुबन्धित करके उसकी योनि के अतिरिक्त अन्यान्य अंगों—मुख, गुदा आदि—में लिंग प्रवेश करने वाले तथा अपने लिए अनुबन्धित वेश्या को अपने साथियों से भी भोग कराने को विवश करने वाले से निश्चित शुल्क का आठ गुना वसूल करना चाहिए।

पराजिरे गृहं कृत्वा स्तोमं दत्त्वा वसेत्तु यः।
स तद्गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठेष्टकादिकम्॥ 20॥

किराये के मकान में मकान-मालिक की अनुमति से अपने ख़र्च पर अस्थायी निर्माण करने वाले व्यक्ति को मकान छोड़ते समय निर्माण से सम्बन्धित सामान—लकड़ी, ईंटें, दरवाज़ा आदि—ले जाने का पूरा अधिकार है।

स्तोमं विना वसित्वा तु परभूमावनिच्छतः।
निर्गच्छंस्तृणकाष्ठानि न गृह्णीयात् कदाचन॥ 21॥

मकान-मालिक की अनुमति तथा जानकारी के बिना किराये के मकान में किसी प्रकार का निर्माण करने वाले व्यक्ति को मकान छोड़ने पर कोई भी सामान ले जाने का अधिकार नहीं होता। अस्थायी निर्माण मकान-मालिक की सम्पत्ति माना जाता है।

स्तोमवाहीनि भाण्डानि पूर्णकालान्युपानयेत्।
गृहीतुराभवेद्भग्नं नष्टं चान्यत्र सम्प्लवात्॥ 22॥

सामान पहुंचाने का किराया लेकर निश्चित समय में सामान न पहुंचाने वाले को, किसी वस्तु के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने की भरपाई करनी होती है। उदाहरणार्थ, फल-सब्ज़ी का सड़-गल जाना, दूध-दही का फट जाना, खट्टा हो जाना, फ्रिज में ख़राबी आ जाना आदि। हां, दैवी आपत्ति—बिजली चले जाना, टायर फट जाना अथवा दुर्घटना हो जाना अथवा घोड़े या बैल आदि का गिर पड़ना आदि तथा राजकीय संकट—पुलिस द्वारा रोकना, रास्ता बन्द होना, चक्कर काटकर जाने को विवश होना आदि—में सञ्चालक का दोष न होने के कारण उसे हानि के लिए उत्तरदायी नहीं माना जा सकता।

॥ चतुर्थ अध्याय का षष्ठ प्रकरण समाप्त ॥

7. अस्वामिविक्रय

निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा।
विक्रीययेऽसमक्षं यद्विनेयोऽस्वामिविक्रयः ॥ 1 ॥

दूसरे व्यक्ति द्वारा विश्वास करके धरोहर के रूप में रखे सामान को, किसी के बन्धक में पड़े सामान को, किसी के खोये हुए सामान को प्राप्त करके या किसी के सामान को चुराकर या बलपूर्वक छीनकर अथवा छल करके किसी को बेच देना, अर्थात् अपना स्वामित्व न रखने पर भी स्वामी-जैसा व्यवहार करना 'अस्वामिविक्रय' कहलाता है।

द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्य स्वामी समाप्नुयात्।
प्रकाशविक्रये शुद्धिः क्रेतुः स्तेयं रहः क्रयात् ॥ 2 ॥

अस्वामिविक्रीत सामान की खोज-ख़बर लगने पर वास्तविक स्वामी अपने सामान को क्रेता से वापस ले सकता है। सार्वजनिक रूप से क्रेता को चोरी का माल ख़रीदने का दोष नहीं दिया जा सकता। हां, लुक-छिपकर बेचे गये सामान को ख़रीदने वाला अवश्य दोषी माना जाता है।

अस्वाम्यनुमताद्दासादसतश्च जनाद्रहः।
हीनमूल्यमवेलायां क्रोणंस्तद्दोषभाग् भवेत् ॥ 3 ॥

निम्नोक्त क्रेताओं को दोषी मानना चाहिए—1. स्वामी की अनुमति के बिना सामान बेचने वाले दास से ख़रीदने वाला, 2. सामान बेच रहे बच्चों से ख़रीदने वाला, 3. लुक-छिपकर एकान्त में दूसरों की दृष्टि को बचाकर बेचने वाले से ख़रीदने वाला, 4. असमय, रात के अंधरे में, निर्जन स्थान में बेचे जा रहे सामान को ख़रीदने वाला। मूल स्वामी को ऐसे क्रेताओं से न केवल सामान वापस लेने का पूरा अधिकार होता है, अपितु ऐसे क्रेता दण्ड के भागी भी होते हैं।

न गृहीतागमं क्रेता शुद्धिस्तस्य तदागमात्।
विपर्यये तुल्यदोषः स्तेयदण्डं च सोऽर्हति ॥ 4 ॥

बेचने वाले के सामान के वास्तविक स्वामी होने की पुष्टि के लिए क्रय-विक्रय को सार्वजनिक करने वाला किसी प्रकार दोषी नहीं माना जा सकता। अभिप्राय यह है कि यदि क्रेता किसी प्रामाणिक व्यक्ति अथवा संस्था—पञ्च,

सरकारी अधिकारी, पुलिस आदि को सूचित करके अथवा साक्षी बनाकर सामान ख़रीदता है और सामान के स्वामी होने का दम भरने वाला कपटी सबके सामने सामान बेचने का साहस जुटाता है, तो वास्तविकता का पता चलने पर क्रेता को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। हां, ऐसा न करने वाले, अर्थात् सामान को चोरी-छिपे सस्ता बिकता देखकर या लोभ में आकर, चोरी-छिपे ख़रीदने वाला अवश्य दोषी होने से चोर के समान दण्ड पाने के योग्य है।

विक्रेता स्वामिनेऽर्थं स्वं क्रेत्रे मूल्यं च तत्समम्।
दद्याद्दण्डं तथा राज्ञे विधिरस्वामिविक्रये॥ 5॥

स्वामी न होने पर भी स्वामी बनकर दूसरों के द्रव्य को बेचने वाले को पकड़े जाने पर, उसे मूलस्वामी को उसका न केवल द्रव्य लौटाना चाहिए, क्रेता से वसूल किया धन भी उसे वापस करना चाहिए, अपितु सामान के मूल्य के बराबर अर्थदण्ड (जुर्माना) भी राजकोष में जमा कराना चाहिए, अन्यथा ऐसा न करने वाले को बन्दी बनाकर कारावास में डाल देना चाहिए।

परेण निहितं लब्ध्वा राजन्युपहरेन्निधिम्।
राजगामी निधिः सर्वः सर्वेषां ब्राह्मणादृते॥ 6॥

किसी अन्य की गिरी-पड़ी सम्पत्ति को पाने वाले को वह सम्पत्ति सरकार को सौंप देनी चाहिए। राजा ब्राह्मण द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को छोड़कर अन्य सभी वर्णों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेने में पूर्ण समर्थ है। वस्तुतः प्रजाजनों की निजी सम्पत्ति की रक्षा करने का दायित्व निभाने वाला राजा भी तो एक प्रकार से स्वामी ही होता है। फिर स्वामी-विहीन सम्पत्ति का तो वह स्वभावतः एकमात्र स्वामी है।

ब्राह्मणोऽपि निधिं लब्ध्वा क्षिप्रं राज्ञे निवेदयेत्।
तेन दत्तं च भुञ्जीत स्तेनः स्यादनिवेदयन्॥ 7॥

ब्राह्मण को भी किसी अन्य की गिरी-पड़ी सम्पत्ति मिलने पर उसे राजा को सौंप देना चाहिए। यदि राजा वह सम्पत्ति ब्राह्मण को भोगने के लिए दे देता है, तो ब्राह्मण उसके भोग को स्वतन्त्र है, परन्तु बिना राजा को सूचित-निवेदित किये पराइ वस्तु पर अपना अधिकार मान लेने वाला ब्राह्मण भी चोर कहलाता है।

स्वमप्यर्थं तथा नष्टं लब्ध्वा राज्ञे निवेदयेत्।
गृह्णीयात्तत्र तं शुद्धमशुद्धं स्यात्ततोऽन्यथा॥ 8॥

यदि अपना खोया हुआ धन व सामान भी मिल जाता है, तो भी राजा को सूचित-निवेदित करना चाहिए। राजा द्वारा अनुग्रहपूर्वक दे देने पर उसका भोग न्यायसंगत है, अन्यथा वह भी एक प्रकार की चोरी है और दण्डनीय अपराध है।

टिप्पणी—यदि खोये हुए सामान की सूचना— *एफ.आई.आर.* (प्रथम सूचना प्रतिवेदन) सरकार के पास दर्ज करायी जाती है, तो फिर सामान मिल जाने की सूचना भी सरकार को देना नागरिक का कर्तव्य बनता है, अन्यथा पुलिस खोये हुए माल की खोज में लगी रहेगी और मालिक सामान मिल जाने से निश्चिन्त हो जायेगा। इसे धोखाधड़ी मानकर ही यह उचित निर्देश दिया गया है।

॥ चतुर्थ अध्याय का सप्तम प्रकरण समाप्त॥

8. विक्रीय-असम्प्रदान

विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेत्रे यन्न प्रदीयते।
विक्रीयासम्प्रदानं तद्विवादपदमुच्यते॥ 1॥

सामान बेचकर और उसका दाम वसूल करने के उपरान्त बेचा हुआ सामान क्रेता को न सौंपना 'विक्रीय-असम्प्रदान' झगड़े का मामला कहलाता है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं जङ्गमं स्थावरं तथा।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत् पण्यमुच्यते॥ 2॥

लोक में क्रय-विक्रय किये जाने वाले पदार्थों के दो रूप हैं—1. चल सम्पत्ति—गज, रथ, अश्व, नक़दी, स्वर्ण-रजत तथा दास आदि।

2. अचल सम्पत्ति—धरती, मकान, दुकान, खेत तथा गोदाम आदि। इन दोनों सम्पत्तियों के क्रय-विक्रय योग्य होने से इन्हें 'पण्य' नाम दिया जाता है।

षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः।
गणिमं तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया॥ 3॥

विद्वानों ने पण्य के क्रय-विक्रय (लेन-देन) के छह आधार निर्धारित किये हैं—

गणिम—गिनकर देना, दर्जन के भाव, कोड़ी के भाव।

तुलिम—तौलकर बेचना, किलोग्राम, टन, क्विण्टल के भाव।

मेय—मापकर बेचना, गज़, फुट, मीटर के भाव।

क्रिया—कार्यक्षमता के आधार पर मूल्य निर्धारित कर बेचना, तीव्रगति और मन्दगति के अश्व का ऊंचा-नीचा दाम लगाना।

रूप—वस्तु के सौन्दर्य के आधार पर दाम वसूल करना। कन्या के अथवा दासी के रूप-सौन्दर्य और आकर्षण के आधार पर उसका न्यूनाधिक मूल्य निर्धारित करना।

श्री, अर्थात् दीप्ति-चमक—रत्नों, हीरे-मोतियों तथा मणियों की आभा के आधार पर एवं उनकी उत्कृष्टता-निकृष्टता के अनुरूप मूल्य निर्धारित करना।

टिप्पणी—जड़ पदार्थों की श्री को ही चेतन प्राणियों का रूप-सौन्दर्य समझना चाहिए। दोनों में समान रूप से आकर्षण होता है।

विक्रीय पण्यं मूल्येन क्रेत्रे यो न प्रयच्छति।
स्थावरस्यौदयं दाप्यो जङ्गमस्य क्रियाफलम्॥ 4॥

सामान बेचकर, अर्थात् सौदा पक्का करके क्रेता को तत्काल सामान न सौंपने वाले विक्रेता से, क्रेता द्वारा चुकाये गये मूल्य के साथ उस अवधि में चल वस्तु—वस्त्र, आभूषण—आदि की स्थिति—रूप, रंग, चमक-दमक आदि में आये परिवर्तन तथा बाज़ार में उसके मूल्य में आयी कमी आदि—के अनुरूप अर्थदण्ड वसूल करना चाहिए तथा अचल सम्पत्ति के उपभोग से विक्रेता द्वारा प्राप्त सुविधा का मूल्य क्रेता को दिलाना चाहिए।

अर्धश्चेदपचीयेत सोदयं पण्यमावहेत्।
स्थायिनामेष नियमो दिग्लाभो दिग्विचारिणाम्॥ 5॥

सामान बेचने का सौदा पक्का करके विक्रेता पूरा सामान तत्काल न देकर कालान्तर में (सारा अथवा कुछ) देने को कहता है और इस अवधि—सामान का मूल्य निश्चित करने और सामान देने के मध्य के समय—में, यदि सामान का भाव गिर जाता है और क्रेता की लाभ की सम्भावना धूमिल हो जाती है, तो उसकी क्षतिपूर्ति का दायित्व विक्रेता पर है। यदि विक्रेता ने तत्काल सामान की आपूर्ति कर दी होती, तो क्रेता उस समय के बाज़ार-भाव पर सामान बेचकर लाभ कमा सकता था। विक्रेता द्वारा माल न देने से, अब क्रेता को हानि उठानी पड़ेगी। अत: क्रेता की हानि का उत्तरदायी विक्रेता ही है।

उपर्युक्त व्यवस्था स्थायी क्रेता के लिए है। देश-देशान्तर में घूमने-फिरने वाले और विभिन्न स्थानों से अपनी सुविधा से क्रय-विक्रय करने वाले अस्थायी ग्राहकों पर विभिन्न देशों में प्रचलित नियम लागू होता है अथवा आपस में निश्चित व्यवस्था ही लागू होती है, अर्थात् क्रेता-विक्रेता में जो शर्तें निश्चित हो जाती हैं, उन्हीं का पालन किया जाता है।

उपहन्येत वा द्रव्यं दह्येतापह्रियेत् वा।
विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासम्प्रयच्छत:॥ 6॥

सामान को बेचने का सौदा पक्का करके क्रेता को सामान न देने वाले विक्रेता के सामान के चोरी हो जाने पर, गल जाने पर, सड़ जाने पर, नष्ट हो जाने पर, आग लग जाने पर तथा राजा द्वारा अधिग्रहण कर लिये जाने पर सब प्रकार की हानि विक्रेता की होती है, क्रेता को उस हानि से कुछ लेना-देना नहीं होता; क्योंकि समय पर क्रेता को सामान न देने का दोषी विक्रेता ही है।

निर्दोषं दर्शयित्वा तु सदोषं य: प्रयच्छति।
मूल्यं तु द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव च॥ 7॥

उत्तम स्तर का सामान दिखाकर निकृष्ट स्तर का माल बेचने वाले व्यापारी से न केवल चुकाये गये दाम का दुगुना वसूल करना चाहिए, अपितु उसे राजदण्ड द्वारा अनुशासित भी करना चाहिए।

तथान्यस्मै तु विक्रीतं योऽन्यस्मै सम्प्रयच्छति।
सोऽपि तद्द्विगुणं दाप्यो विनयं चैव राजनि॥ 8॥

इसी प्रकार एक क्रेता से पण्य का सौदा पक्का कर दूसरे क्रेता को सामान बेचने वाले व्यापारी से भी न केवल सामान के मूल्य का दुगुना वसूल करना चाहिए, अपितु राजा को उसे दण्डित भी करना चाहिए।

दीयमानं न गृह्णाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी।
विक्रीणानस्तदन्यत्र विक्रेता नापराध्नुयात्॥ 9॥

हां, यदि क्रेता ख़रीदे पण्य को नहीं उठाता है, तो विक्रेता को अपना सामान किसी अन्य व्यापारी को बेचने पर कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि आख़िर व्यापारी को अपना सामान बेचना ही तो है, घर में तो नहीं रखना है।

दत्तमूल्यस्य पण्यस्य विधिरेवं प्रकीर्तितः।
अदत्तेऽन्यत्र समयान्न विक्रेतुरतिक्रमः॥ 10॥

उपर्युक्त सभी तथ्य—सामान को समय पर न देने का दण्ड, सामान के नष्ट होने का दायित्व तथा सौदे से मुकरने का दोष आदि—उस स्थिति में लागू होते हैं, जब क्रेता ने सामान का मूल्य चुकता कर दिया हो। यदि क्रेता ने मूल्य का भुगतान ही नहीं किया, तो विक्रेता को उस सौदे से बांधा नहीं जा सकता। वह किसी भी दूसरे को अपना सामान बेचने को स्वतन्त्र है; क्योंकि भुगतान न करने पर क्रेता पर निर्भर कैसे किया जा सकता है? हां, अपवाद-रूप में विक्रेता का क्रेता पर विश्वास अडिग है, तो स्थिति भिन्न हो जाती है।

लाभार्थं वणिजां सर्वं पण्येषु क्रयविक्रयः।
स च लाभोऽर्धमासाद्य महान् भवति वा न वा॥ 11॥

व्यापारी लोग लाभ कमाने के लिए ही पण्य का क्रय-विक्रय करते हैं और यह लाभ पण्य-पदार्थों के मूल्य के घटने-बढ़ने के अनुरूप न्यूनाधिक होता रहता है।

तस्माद्देशे च काले च वणिगर्धं समाश्रयेत्।
न जिह्मं च प्रवर्त्तेत श्रेयानेवं वणिक्पथः॥ 12॥

अतः व्यापारी देश और काल के आधार पर ही पण्य-पदार्थों का मूल्य निर्धारित करते हैं। उदाहरणार्थ, ठण्डे इलाकों में विशेषतः शीत ऋतु में उष्ण पदार्थों तथा लकड़ी-कोयला आदि की मांग बढ़ जाने से उनका मूल्य चढ़ जाता है। इसके विपरीत मैदानी इलाक़ों में इनकी मांग और खपत कम होने से इनका मूल्य कम रखा जाता है। व्यापार का श्रेष्ठ आचरण यह है कि मूल्यनिर्धारण में छल-कपट न करके व्यावहारिकता को अपनाया जाये। ईमानदारी व सरलता को अपनाने वाला व्यापारी ही धन तथा यश कमाता है।

॥ चतुर्थ अध्याय का अष्टम प्रकरण समाप्त॥

9. क्रीतानुशय

क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं क्रेता न बहु मन्यते।
क्रीतानुशय इत्येतद्विवादपदमुच्यते॥ 1॥

जहां क्रेता सामान ख़रीदकर और दाम चुकाकर अपने को ठगा गया, अर्थात् सौदे में गड़बड़ी अनुभव करता है, वहां क्रेता-विक्रेता में उत्पन्न विवाद 'क्रीतानुशय विवाद' कहलाता है।

क्रीत्वा मूल्येन यः पण्यं दुष्क्रीतं मन्यते क्रयी।
विक्रेतुः प्रतिदेयं तत्तस्मिन्नेवाह्यविक्षतम्॥ 2॥

मूल्य देकर ख़रीदे गये सामान में धोखा पाने पर क्रेता को उसी दिन, सारा सामान उसी स्थिति में विक्रेता को लौटा देना चाहिए। क्रेता को सामान को खोलना, उलटना-पुलटना, सील तोड़ना, *पैकिंग* को बिगाड़ना तथा अन्य कोई चिह्न बनाना आदि कोई कार्य कदापि नहीं करना चाहिए।

द्वितीयेऽह्नि ददत् क्रेता मूल्यात्रिंशांशमाहरेत्।
द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत्॥ 3॥

यदि ख़रीदे गये माल को पसन्द न करने वाला क्रेता उसी दिन सही हालत में सामान न लौटा कर दूसरे दिन लौटाता है, तो विक्रेता को मूल्य के रूप में प्राप्त धन से तीस प्रतिशत की कटौती करके शेष धन लौटा देना चाहिए। तीसरे दिन पण्य लौटाने वाला क्रेता चुकाये गये मूल्य का आधा लेने का अधिकारी होता है। तीन दिनों के पश्चात् ख़रीदे गये सामान को लौटाने वाले क्रेता के अनुरोध को मानने अथवा न मानने को विक्रेता स्वतन्त्र है। विक्रेता अपनी शर्तों पर सामान वापस भी ले सकता है और वापस लेने से इनकार भी कर सकता है।

क्रेता पण्यं परीक्षेत प्राक् स्वयं गुणदोषतः।
परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत् पुनः॥ 4॥

क्रेता को सामान ख़रीदने से पहले सामान की स्थिति, उसके गुण-दोष और उसकी उपयोगिता आदि की भली प्रकार से जांच-परख कर लेनी चाहिए। इस जांच-परख और निजी पसन्द के पश्चात् ख़रीदा गया सामान विक्रेता को लौटाया नहीं जा सकता।

त्र्यहाद्दोह्यं परीक्षेत पञ्चाहाद्वाह्यमेव तु।
मणिमुक्ताप्रवालानां सप्ताहं स्यात् परीक्षणम्॥ 5॥

दूध देने वाली गाय का तीन दिन, गाड़ी खींचने वाले अथवा सवारी के काम आने वाले अश्व, वृषभ, ऊंट और गज आदि पशुओं का पांच दिन तथा मणि, मुक्ता एवं मूंगा आदि बहुमूल्य रत्नों का परीक्षण सात दिन चलता है, अर्थात् इन्हें—गाय, अश्व और मणिमुक्ता—को ख़रीदने का इच्छुक व्यक्ति विक्रेता से परख के लिए (*ट्रायल-बेस पर*) अपने घर लाकर निर्धारित दिनों तक रख सकता है। इन दिनों की जांच-परख के परिणाम के आधार पर पसन्द आने पर दाम चुकाना चाहिए और न पसन्द आने पर लौटा देना चाहिए। हां, जांच-परख और पसन्द के उपरान्त दाम चुका देने पर, फिर वापस करने की बात नहीं की जा सकती।

द्विपदामर्धमासः स्यात् पुंसां तद्द्विगुणं स्त्रियाः।
दशाहः सर्वबीजानामेकाहो लोहवाससाम्॥ 6॥

दासों का परीक्षण-काल पन्द्रह दिन, स्त्रियों का परीक्षण-काल एक मास, सभी प्रकार के बीजों का परीक्षण-काल एक दिन और लोहे तथा वस्त्रों का परीक्षण-काल एक दिन होता है।

टिप्पणी—इस उल्लेख से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत में दासों को और साथ ही स्त्रियों को भी क्रय-विक्रय का सामान समझा जाता था।

परिभुक्तं च यद्वासः क्लिष्टरूपं मलीमसम्।
सदोषमपि तत्क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत् पुनः॥ 7॥

ख़रीदने के उपरान्त (भले ही परीक्षण के लिए क्यों न हो) उपयोग में लाये जाने के कारण वस्त्र के फट जाने, मुचुड़ जाने तथा मैला हो जाने पर वह वस्त्र क्रेता का होता है, विक्रेता को नहीं लौटाया जा सकता।

मूल्याष्टभागो हीयेत सकृद्धौतस्य वाससः।
द्विः पादस्त्रिस्त्रिभागस्तु चतुः कृत्वोऽर्धमेव च॥ 8॥

एक बार धोने से फट जाने वाले व रंग फीका पड़ जाने वाले वस्त्र पर चुकाये मूल्य का 1/8वां भाग काटकर, दो बार धोने के उपरान्त शिकायत होने पर 1/4 भाग काटकर, तीन बार धोने के पश्चात् दोषपूर्ण पाये जाने पर 1/3 भाग काटकर और चार बार धोने पर घटिया सिद्ध होने पर 1/2भाग काटकर शेष धन विक्रेता द्वारा क्रेता को देय होता है।

अर्धक्षयात्तु परतः पादांशापचयः क्रमात्।
यावत् क्षीणदशं जीर्णं जीर्णस्यानियमः क्षये॥ 9॥

पांच से आठ बार तक धोने के उपरान्त दोष के दृष्टिगोचर होने के कारण लौटाये जाने वाले वस्त्र के चुकाये गये मूल्य के आधे भाग का चौथाई भाग, अर्थात्

1/8 भाग देय होता है। यदि इस बीच वस्त्र फट जाता है, तो उसके विषय में शास्त्र में कोई व्यवस्था नहीं है, अर्थात् क्रेता-विक्रेता अपनी समझ से कुछ लेन-देन करते हैं, तो ठीक और नहीं करते हैं, तो भी ठीक है। क़ानून इस सम्बन्ध में विक्रेता को बाध्य नहीं करता।

लोहानामपि सर्वेषां हेतुरग्निक्रियाविधौ।
क्षयः संस्क्रियमाणानां तेषां दृष्टोऽग्निसंगमात्॥ 10॥

लौह, रजत व स्वर्ण आदि धातुओं की शुद्धि की परख उन्हें आग में डालकर तपाने से होती है। इस अग्नि-क्रिया में उसमें जुड़ी दूसरी धातु का क्षय हो जाता है और मूल धातु अपने शुद्ध रूप में बच जाती है। अग्नि में हुई शुद्धि के उपरान्त लौह आदि धातुओं का वज़न करना चाहिए। अग्नि-संयोग से किस धातु का कितना क्षय होता है—इसका विवरण अगले पद्यों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

सुवर्णस्य क्षयो नास्ति राजते द्विपलं शतम्।
शतमष्टपलं ज्ञेयं क्षयस्तु त्रपुसीसयोः॥ 11॥
ताम्रे पञ्चपलं विद्याद्विकारा ये च तन्मयाः।
तद्धातूनामनेकत्वादयसोऽनियमः क्षये॥ 12॥

अग्नि-क्रिया—अग्नि में जलाने-तपाने पर स्वर्ण का कुछ भी अंश नष्ट नहीं होता। चांदी का दो प्रतिशत, सीसे और त्रपु (रांगा) का आठ प्रतिशत और तांबे का पांच प्रतिशत नष्ट होता है। इसके साथ तांबा आदि में थोड़ा विकार-परिवर्तन भी आ जाता है। वस्तुतः धातुओं की संख्या और उनके प्रकार-भेदों की अनेकता के कारण सभी के क्षय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं। अभिप्राय यह है कि तांबे का अग्नि-क्रिया में वैसे तो पांच-प्रतिशत क्षय होता है, परन्तु उसके विभिन्न प्रकारों में क्षय की मात्रा न्यूनाधिक भी हो सकती है। अतः किसी स्थिर नियम का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

तान्तवस्य च संस्कारे क्षयवृद्धि उदाहृते।
सूत्रकार्पासिकोर्णानां वृद्धिर्दशपलं शतम्॥ 13॥

चादर, शाल और कम्बल आदि वस्त्रों के बनाने में प्रयुक्त होने वाले कपास, पश्मीना तथा ऊन आदि के धागे का संस्कार करने पर उनमें दस प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है।

स्थूलसूत्रवतां तेषां मध्यानां पञ्चकं शतम्।
त्रिपलं तु सुसूक्ष्माणामेषा वृद्धिरुदाहृता॥ 14॥

इसी प्रकार मोटे धागे से बने वस्त्रों की वृद्धि दस प्रतिशत होती है, मध्यम स्तर के मोटे धागे से बने वस्त्रों में यह वृद्धि पांच प्रतिशत और सूक्ष्म तन्तुओं से बने वस्त्रों में यह वृद्धि तीन प्रतिशत रह जाती है।

त्रिंशांशो रोमवद्धस्य क्षयः कर्मकृतस्य तु।
कौशेयवल्कलानां तु सैव वृद्धिर्न च क्षयः॥ 15॥

पशु-पक्षियों के बालों से बने वस्त्रों का संस्कार करने पर तीस प्रतिशत का क्षय हो जाता है। इसके विपरीत कौशेय (रेशम) और वल्कलों (वृक्ष की छाल) से बने वस्त्रों का संस्कार करने पर न कुछ घटता है और न ही कुछ बढ़ता है, उनका भार ज्यों का त्यों रहता है।

क्रीत्वा नानुशयं कुर्याद्वणिक् पण्यविचक्षणः।
वृद्धिक्षयौ तु जानीयात् पण्यानामागमं तथा॥ 16॥

चतुर व्यापारी की व्यावसायिक दक्षता इसी में है कि उसे पण्य की वृद्धि, उसके क्षय तथा उससे सम्भावित लाभ-हानि आदि पर भली प्रकार सोच-विचार करने के उपरान्त ही लेन-देन अथवा क्रय-विक्रय करना चाहिए, ताकि पण्य ख़रीदने-बेचने के पश्चात् उसे न तो चिन्तित होना पड़े और न ही किसी प्रकार का पश्चात्ताप करना पड़े।

॥ चतुर्थ अध्याय का नवम प्रकरण समाप्त॥

10. समय का अनपाकर्म

पाषण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते।
समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्॥ 1॥

पाखण्डी—वेद-विरुद्ध नियमों का पालन और चिह्न धारण करने वाले क्षपण आदि तथा नैगम—समूह में व्यापार करने वाले व्यापारी—आदि अपनी लोकयात्रा के निर्वाह के लिए सामाजिक गोष्ठी-बन्धन से अपनी जिस स्थिति की रचना करते हैं, उसका नाम 'समय' है और उस समय का पालन न करके अतिक्रमण करना 'समय का अनपाकर्म' कहलाता है, जो एक विवाद का विषय बन जाता है।

पाषण्डिनैगमश्रेणीपूगव्रातगणादिषु ।
संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा॥ 2॥

राजा को इस विषय में सदैव सतर्क और प्रयत्नशील रहना चाहिए कि उसके दुर्ग में (आज की भाषा में राष्ट्रीय महत्त्व के आरक्षित संस्थानों में) तथा सार्वजनिक स्थानों पर निम्नोक्त अवाञ्छनीय सम्प्रदाय के व्यक्ति इकट्ठे न हो सकें तथा न ही उनके मठ आदि बन सकें—

पाखण्डी—वेद-विरुद्ध आचरण एवं चिह्न धारण करने वाले अथवा भ्रष्ट संन्यासी।

नैगम—विभिन्न वर्गों के नागरिकों की अनियन्त्रित भीड़।

श्रेणी—शिल्प से आजीविका चलाने वालों का झुण्ड।

पूग—धन कमाने को ही महत्त्व देने वाले व्यापारियों का दल।

व्रात—अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण करने वालों का संगठित दल तथा **गण**—ब्राह्मणों की मण्डली।

यो धर्मः कर्म यश्चैषामुपस्थानविधिश्च यः।
यच्चैषां वृत्त्युपादानमनुमन्येत तत्तथा॥ 3॥

उपर्युक्त छह संगठनों को अपने धर्मानुष्ठान, भिक्षाटन आदि कर्म, उपस्थान विधि—ढोल-बाजा बजाकर सामूहिक पूजा अथवा शोभायात्रा के लिए इकट्ठा होना तथा आजीविका को चलाने के लिए अपनाये जाने वाले साधनों—दैनिक सत्संग, साप्ताहिक सम्मेलन, किसी भवन का क्रय, निर्माण तथा अन्यान्य विभिन्न समारोहों

का आयोजन आदि—के लिए राज्य से पूर्व-अनुमति अवश्य लेनी चाहिए। बिना शासकीय अनुमति के इन संगठनों द्वारा किसी प्रकार की सम्पत्ति रखना तथा किसी प्रकार के समारोह का आयोजन करना दण्डनीय अपराध है।

नानुकूलं यद्राज्ञः प्रकृत्यवमतं च यत्।
बाधकं च यदर्थानां तत्तेभ्यो विनिवर्तयेत्॥ 4॥

राजा को अपने लिए अनुकूल, प्रजा के लिए हितकर तथा आर्थिक विकास के लिए लाभप्रद प्रतीत न होने वाली किसी भी सम्प्रदाय की, किसी भी गतिविधि को तत्काल प्रतिबन्धित कर देना चाहिए। प्रशासन को केवल स्वस्थ, स्वच्छ, साम्प्रदायिकता से मुक्त, देश की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने वाली गतिविधियों को ही चलने की अनुमति देनी चाहिए।

मिथः संघातकरणमहिते शस्त्रधारणम्।
परस्परोपघातं च तेषां राजा न मर्षयेत्॥ 5॥

राजा को बिना किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन-विशेष के निरर्थक संगठन बनाने वाले दलों अथवा व्यक्तियों, प्रजा में आतंक फैलाने के लिए शस्त्रास्त्र धारण करने वालों तथा एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहने वाले समुदायों (आजकल अकाली-निरंकारी, मुसलमानों में शिया-सुन्नी) के विरुद्ध तत्काल कठोर एवं उग्र कार्यवाही करनी चाहिए। इस प्रकार के अशान्ति एवं अराजकता फैलाने वाले संगठनों एवं व्यक्तियों को कठोरता से कुचल देना चाहिए। इनके प्रति थोड़ी-सी भी लापरवाही का अत्यन्त भयंकर परिणाम निकलता है।

पृथग् गणांश्च ये भिन्द्युस्ते विनेया विशेषतः।
आवहेयुर्भयं घोरं व्याधिवत्ते ह्युपेक्षिताः॥ 6॥

राजा को अपने गणों-संगठनों से अलग होकर अशान्ति और उपद्रव फैलाने वाले उद्दण्ड व्यक्तियों को यथाशीघ्र दण्डित करके अनुशासित करना चाहिए। उनकी थोड़ी-सी उपेक्षा भी, रोग की उपेक्षा से उसके भयंकर रूप धारण करने के समान, राष्ट्र के लिए जटिल समस्या बन जाती है।

दोषवत् करणं यत् स्यादनाम्नायप्रकल्पितम्।
प्रवृत्तमपि तद्राजा श्रेयस्कामो निवर्तयेत्॥ 7॥

प्रजा के शुभचिन्तक एवं राष्ट्र की शान्ति व सुरक्षा के प्रति समर्पित राजा को शास्त्र में अनिर्दिष्ट, परन्तु देश के हित के विरुद्ध किसी भी कार्य अथवा गतिविधि पर नियन्त्रण लगाना चाहिए। राजा को अपने विवेक से अनुकूल-प्रतिकूल तथा साधक-बाधक का निर्णय करके अनुकूल को विकसित होने का अवसर जुटाना चाहिए तथा प्रतिकूल पर कुठाराघात करना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का दशम प्रकरण समाप्त॥

11. सीमा-बन्ध

सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टनिश्चये ।
क्षेत्राधिकारो यस्तु स्याद्विवादः क्षेत्रजस्तु सः ॥ 1 ॥

सेतु और कृषिक्षेत्र की अनिश्चित एवं अनिर्णीत सीमा के निर्धारण से सम्बन्धित तथा क्षेत्र एवं भू-भाग पर अधिकार को लेकर उठने वाला विवाद क्षेत्रज अथवा 'सीमा-बन्ध' विवाद कहलाता है।

क्षेत्रसीमाविवादेषु सामन्तेभ्यो विनिश्चयः।
नगरग्रामगणिनो ये च वृद्धतमा नराः ॥ 2 ॥

क्षेत्र की सीमा के सम्बन्ध में दो अथवा अधिक व्यक्तियों में मतभेद उत्पन्न होने अथवा विवाद उठने पर आस-पास रहने वाले प्रतिष्ठित एवं सदाचारी पञ्चों को अथवा नगर, ग्राम और गणराज्यों की सीमा की प्रामाणिक जानकारी रखने वाले वृद्धजनों—अधिक-से-अधिक आयु वालों—को मध्यस्थ बनाना चाहिए।

ग्रामसीमासु च बहिर्ये स्युस्तत्कृषिजीविनः।
गोपशाकुनिकव्याधा ये चान्ये वनजीविनः ॥ 3 ॥
समुन्नयेयुस्ते सीमां लक्षणैरुपलक्षिताम्।
तुषाङ्गारकपालैश्च कूपौरायतनैर्द्रुमैः ॥ 4 ॥

सीमा-निर्णय में साधक कुछ अन्य व्यक्ति और कुछ चिह्न इस प्रकार हैं—

1. ग्राम की सीमाओं पर रहने वाले और कृषि आदि से अपनी आजीविका चलाने वाले लोग।
2. पशु चराने वाले गोपालक।
3. पशुओं का शिकार करने वाले, व्याध आदि।
4. पक्षियों को पकड़ने वाले बहेलिये—चिड़ीमार तथा
5. वनों में रहने वाले चोर, डाकू तथा साधु, महात्मा आदि।
6. चिह्नों (उपलक्षणों) के रूप में द्रष्टव्य वस्तुएं हैं—तुष (भूसा), कोयला, पत्थर, हड्डी, खोपड़ी आदि। प्राचीनकाल में सीमा को चिह्नित करने के लिए सीसा, पत्थर, खोपड़ी, कोयला आदि का प्रयोग किया जाता था; क्योंकि ये पदार्थ दीर्घकाल तक नष्ट नहीं होते। धरती के नीचे दबे इन पदार्थों को खोजकर इनके आधार पर सीमारेखा निश्चित करनी चाहिए। इन लक्षणों के अतिरिक्त कूप, तालाब, जोहड़ और वृक्षों की स्थिति को भी सीमा के निर्धारण का आधार बनाना चाहिए।

अभिज्ञातैश्च वल्मीकस्थलनिम्नोन्नतादिभिः।
केदारारामपार्गैश्च पुराणैः सेतुभिस्तथा॥ 5॥

सीमा के निर्धारण के कुछ अन्य लक्षण इस प्रकार हैं—

1. वृद्ध लोगों द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले ऊंचे स्थान अथवा रेत के टीले का होना।

2. स्थान का ऊंचा-नीचा होना। जानकारों को स्मरण रहता है कि अमुक का क्षेत्र ऊंचा था व अमुक का क्षेत्र नीचा था।

3. क्षेत्र का उर्वर-अनुर्वर होना।

4. सेतु के समीप अथवा दूर होना।

5. सिंचाई-सुविधा का सुलभ होना-न होना तथा

6. उद्यान की ओर जाने वाले मार्ग का पुराना अथवा नया होना आदि।

निम्नगापहृतोत्सृष्टनष्टचिह्नासु भूमिषु।
तत्प्रदेशानुमानाश्च प्रमाणैर्भोगदर्शनैः॥ 6॥

नदी के स्रोत से धरती के डूब जाने के कारण सीमाचिह्नों के नष्ट हो जाने पर वृद्धजनों द्वारा तर्क, युक्ति, अनुमान, क्षेत्र के आकार-प्रकार, वर्गफल तथा अन्य क्षेत्रों की सीमा से दूरी, समीपता आदि के अतिरिक्त लिखित *रिकार्ड* से पूर्व-पश्चिम में लम्बाई-चौड़ाई आदि को ध्यान में रखते हुए सीमा का निर्धारण करना चाहिए।

अथ चेदनृतं ब्रूयुः सामन्तास्तद्विनिश्चये।
सर्वे पृथक् पृथग्दण्ड्या राज्ञा मध्यमसाहसम्॥ 7॥

सीमा-निर्धारण के लिए मनोनीत वृद्ध पुरुषों द्वारा पक्षपात करने, असत्य-भाषण करने तथा जान-बूझकर ग़लत दृष्टिकोण अपनाने पर उन सबको पृथक्-पृथक् मध्यम साहस के लिए निर्धारित दण्ड से दण्डित करना चाहिए।

प्रत्येकं तु जघन्यास्ते विनेयाः पूर्वसाहसम्॥

अर्थात् भूमि से सम्बन्धित किसी भी कार्य—सीमाविवाद का निपटारा तथा कृषि-चोरी के विवाद आदि—के लिए मनोनीत वृद्ध पुरुषों द्वारा मिथ्याभाषण करने पर प्रत्येक सदस्य को शारीरिक तथा आर्थिक दण्ड देकर उन्हें भविष्य में ऐसा न करने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए।

गणवृद्धादयस्त्वन्ये दण्डं दाप्याः पृथक् पृथक्।
विनेयाः प्रथमेन स्युः साहसेनानृते स्थिताः॥ 8॥

भूमि-कार्य में प्रामाणिक माने जाने वाले गोपालक, व्याध, साधु, कृषिजीवी तथा अन्य वनवासी लोगों द्वारा असत्य का पक्ष ग्रहण करने तथा दुराग्रही होने पर उन्हें भी पृथक्-पृथक् प्रथम साहस के लिए निर्धारित दण्ड देकर भली प्रकार सही

मार्ग पर लाना और अनुशासित करना चाहिए।

नैकः समुन्नयेत् सीमां नरः प्रत्ययवानपि।
गुरुत्वादस्य कायस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता॥ 9॥

किसी एक व्यक्ति के नितान्त सत्यनिष्ठ, योग्य, अनुभवी, विश्वसनीय और प्रामाणिक होने पर भी सीमा-निर्धारण का कार्य उस अकेले व्यक्ति से कदापि नहीं कराना चाहिए। वस्तुतः यह कार्य इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे किसी अकेले को सौंपा ही नहीं जा सकता। इसके लिए गहन विचार-विमर्श की अपेक्षा होती है, जो एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा ही सम्भव है।

एकश्चेदुन्नयेत् सीमां सोपवासः समाहितः।
रक्तमाल्याम्बरधरः क्षितिमारोप्य मूर्धनि॥ 10॥

यदि परिस्थितिवश नितान्त योग्य, सुपरीक्षित, सत्यनिष्ठ एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति को अकेले ही सीमा-निर्धारण का कार्य सौंपा जाता है, तो उसे उस दिन उपवास रखना चाहिए, लोहित वस्त्र धारण करने चाहिए तथा सिर पर मिट्टी और हाथ में भाला लेकर समर्पित कार्य का निर्वहण करना चाहिए, अर्थात् भगवान् से न्याय और सत्य की रक्षा में सहायक होने की प्रार्थना करते हुए निरपेक्ष भाव से कर्तव्य-पालन करना चाहिए।

यदि च न स्युर्ज्ञातारः सीमायाश्च न लक्षणम्।
तदा राजा द्वयोः सीमामुन्नयेदिष्टतः स्वयम्॥ 11॥

सीमा के चिह्नों के मिट जाने और पता न चल पाने पर तथा सीमा के जानकारों के भी सुलभ न होने अथवा अपनी असमर्थता प्रकट करने पर, प्रशासन को दोनों पक्षों को सुनकर अपने विवेक से दोनों क्षेत्रों की सीमा का निर्धारण कर देना चाहिए।

एतेनैव गृहोद्यानिपानायतनादिषु।
विवादविधिराख्यातस्तथा ग्रामान्तरेषु च॥ 12॥

आवासीय भू-खण्ड, उद्यान, पानीयशाला, देवस्थान, पशुचारणभूमि, ग्रामों की भूमि तथा राजकीय और निजी भूमि के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद में सीमा-निर्धारण की इसी विधि को अपनाना चाहिए।

सीमामध्ये तु जातानां वृक्षाणां क्षेत्रयोर्द्वयोः।
फलपुष्पं च सामान्यं क्षेत्रस्वामिषु निर्दिशेत्॥ 13॥

दो स्वामियों के दो क्षेत्रों की सीमा के मध्य में उत्पन्न वृक्षों के फल-पुष्पादि पर दोनों का समान अधिकार होता है। दोनों को बांटकर अथवा अपने-अपने क्षेत्र में पड़ने वाली शाखाओं पर लगने वाले फल लेने चाहिए।

अन्यक्षेत्रोपजातानां शाखास्त्वन्यत्र संस्थिताः।
स्वामिनस्ता विजानीयादन्यक्षेत्रविनिर्गताः॥ 14॥

यदि अपने क्षेत्र में उत्पन्न वृक्षों की शाखाएं भी दूसरे के स्वामित्व वाले क्षेत्र में चली जाती हों, तो उन शाखाओं पर लगने वाले फलों पर वृक्ष के स्वामी के स्थान पर क्षेत्र के स्वामी का अधिकार होता है।

अवस्करस्थलश्वभ्रभ्रमस्यन्दैनिकादिभिः ।
चतुष्पथसुरस्थानरथ्यामार्गान्न रोधयेत्॥ 15॥

घर का कचरा, मल-मूत्रादि तथा घर की छत पर गिरने वाले पानी के निकासी की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे देवालय, गली, यातायात का मार्ग (सड़क), गड्ढा, मण्डप तथा चौराहे आदि में किसी प्रकार का गतिरोध अथवा अव्यवस्था न आ सके और न ही दुर्गन्ध आदि से वातावरण दूषित हो।

रोधायन्ति तु ये मोहाद्बलाद्वापि कथञ्चन।
दण्डयेत्तादृशान् राजा साहसेनोत्तमेन च॥ 16॥

अहंकार अथवा मूर्खता अथवा दुराग्रहवश अपने घर के कूड़े-करकट, गन्दगी और दूषित जल से सार्वजनिक मार्ग, राजपथ तथा गली आदि में गतिरोध उत्पन्न करने वाले तथा वातावरण को दूषित-मलिन करने वाले गृहस्वामी को प्रशासन द्वारा दण्ड देकर अनुशासित करना चाहिए।

परक्षेत्रस्य मध्ये तु सेतुर्न प्रतिषिध्यते।
महागुणोऽल्पबाधश्च वृद्धिरिष्टा क्षये सति॥ 17॥

दूसरे के क्षेत्र में सेतु-निर्माण से उस क्षेत्र के स्वामी को होने वाली हानि की अपेक्षा आस-पास के क्षेत्र वालों को अधिक लाभ मिलने की सम्भावना होने पर सेतु-निर्माण का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता; क्योंकि यहां एक की साधारण हानि के बदले, बहुतों को उपज में वृद्धि के रूप में भारी लाभ मिलने वाला है। राज्य 'बहुजन हिताय' तथा 'बहुजन सुखाय' होता है।

सेतुस्तु द्विविधः प्रोक्तः खेयो बन्ध्यस्तथैव च।
तोयप्रवर्तनात् खेयो बन्ध्यः स्यात्तन्निवर्तनात्॥ 18॥

सेतु दो प्रकार का होता है—1. खेय तथा 2. बन्ध्य। पानी के आने-जाने की समुचित व्यवस्था के रूप में बनाया जाने वाला सेतु 'खेय' कहलाता है और पानी के बहाव को एकदम रोकने के लिए बनाया जाने वाला सेतु 'बन्ध्य' कहलाता है।

नान्तरेणोदकं सस्यं नश्येदभ्युदकेन तु।
य एवानुदके दोषः स एवाभ्युदके स्मृतः॥ 19॥

जिस प्रकार जल के बिना उपज नहीं हो सकती, उसी प्रकार अधिक जल आ जाने से उपज नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दोनों—जल का अभाव और जल की आवश्यकता से अधिकता—कृषि-उपज के लिए हानिकारक होती है। इन दोनों

प्रकार के दोषों के निवारण के लिए, अर्थात् केवल अपेक्षित जल की आपूर्ति के लिए सेतु का निर्माण करना चाहिए।

पूर्वप्रवृत्तमुत्सन्नमपृष्ट्वा स्वामिनं तु यः।
सेतुं प्रवर्तयेत् कश्चिन्न स तत् फलभाग् भवेत्॥ 20॥

क्षेत्र के स्वामी की अनुमति प्राप्त किये बिना, दूसरे क्षेत्र में स्थित पुराने, टूटे-फूटे अथवा उखड़े-पुखड़े, अर्थात् क्षतिग्रस्त होने से उपयोग में न आ पाने वाले सेतु-बांध आदि की मरम्मत कराने वाला अथवा नये बांध अथवा पुलिया आदि का निर्माण कराने वाला व्यक्ति क्षेत्र-स्वामी से न तो ख़र्च वसूल कर सकता है और न ही उस पुलिया से अपने खेत की सिंचाई का लाभ उठा सकता है।

मृते तु स्वामिनि पुनस्तद्वंश्ये वाऽपिमानवे।
राजानमामन्त्र्य ततः प्रकुर्यात् सेतुकर्म तत्॥ 21॥

क्षेत्र के स्वामी अथवा उसके उत्तराधिकारियों की खोज करने पर भी उनके न मिलने पर और उस क्षेत्र में पहले से विद्यमान ध्वस्त पुलिया-बांध की मरम्मत अथवा नये बांध का निर्माण आवश्यक होने पर प्रशासन द्वारा इस कार्य के निर्वहण के लिए निर्माण कार्य कराना सर्वोत्तम है, अन्यथा लिखित अनुमति के उपरान्त ही इस दिशा में प्रवृत्त होना चाहिए।

अतोऽन्यथा क्लेशभाक्स्यान्मृगव्याधानुदर्शनात्।
इषवस्तस्य नश्यन्ति यो विद्धमनुविध्यति॥ 22॥

प्रशासन से सेतु-निर्माण का अनुरोध अथवा अनुमति प्राप्त किये बिना निर्माण-कार्य करने वाला व्यक्ति एक प्रकार से संकट को निमन्त्रण देता है; क्योंकि दूसरे क्षेत्र में किसी प्रकार का प्रवेश अथवा हस्तक्षेप अनधिकार चेष्टा होती है। जिस प्रकार व्याध द्वारा पहले से ही अपने बाणों से विद्ध मृग को अपने बाणों से बींधने वाला अपने समय, बल और बाणों को व्यर्थ गंवाता है, मृग पर व्याध का ही अधिकार होता है, उसी प्रकार दूसरे के क्षेत्र में सेतु आदि निर्माण कराने वाला भी अपने समय, साधन और ऊर्जा को व्यर्थ करता है। उसके द्वारा किये गये निर्माण के लिए उसके विरुद्ध क़ानूनी कार्यवाही की जा सकती है।

अशक्तप्रेतनष्टेषु क्षेत्रिकेष्वानिवारितः।
क्षेत्रं चेद्विकृषेत् कश्चिदश्नुवीत स तत् फलम्॥ 23॥

किसी क्षेत्र के मूल स्वामी के अशक्त, दिवंगत, अपराध के दण्ड-भय से लुप्त (लापता) हो जाने पर तथा स्वयं मूल स्वामी, उसके परिवार के किसी सदस्य अथवा उत्तराधिकारी द्वारा दख़ल, रोक-टोक न किये जाने पर दूसरे के क्षेत्र में उपज बोने-उगाने वाले को फल पाने का अधिकार मिल जाता है। परती भूमि का उपयोग कोई दोष नहीं।

विकृष्यमाणे क्षेत्रे चेत् क्षेत्रिकः पुनराव्रजेत्।
खिलोपचारं तत्सर्वं दत्त्वा स्वक्षेत्रमाप्नुयात्॥ 24॥

किसी व्यक्ति के क्षेत्र में दूसरे व्यक्ति द्वारा कृषि-कार्य—हल चलाने, बीज बोने तथा सिंचाई करने आदि—किये जाने पर उपज पकने-तैयार होने से पहले ही आ पहुंचने वाले क्षेत्र के स्वामी को खेत बोने वाले व्यक्ति द्वारा किये गये ख़र्च का तथा उसके श्रम के मूल्य का भुगतान करने के उपरान्त ही अपने क्षेत्र पर क़ब्ज़ा पाने का अधिकार बनता है।

तदष्टभागापचयाद्यावत् सप्त गताः समाः।
सम्प्राप्ते त्वष्टमे वर्षे भुक्तं क्षेत्रं लभेत सः॥ 25॥

दूसरे के क्षेत्र में किराये पर कृषि-कर्म—जोतना, बोना, सींचना, काटना तथा देखभाल-बचाव आदि—करने वाला कृषि की उपज के अथवा वृक्षों के फलों के नष्ट हो जाने पर भावी लाभ की आशा से सात वर्षों तक निरन्तर धरती का भाड़ा चुकाता रहता है तथा क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र को उपजाऊ बनाने व फलों को सड़ने से बचाने के लिए कोई उद्यम नहीं करता, कोई ख़र्च नहीं करता, एक प्रकार से पूर्णतः उदासीन और निरपेक्ष बना रहता है, प्राप्त आय को मुफ़्त की कमाई मानकर सन्तुष्ट रहता है, तो आठवें वर्ष किरायेदार ही उस क्षेत्र, उपवन आदि का स्वामी बन जाता है।

सम्वत्सरेणार्धखिलं खिलं तद्वत्सरैस्त्रिभिः।
पञ्चवर्षविसन्नं तु स्यात् क्षेत्रमटवीसमम्॥ 26॥

एक वर्ष तक ख़ाली पड़ा रहने वाला, अर्थात् कुछ भी न बोये जाने वाला खेत 'अर्धखिल', तीन वर्षों तक लगातार ख़ाली पड़ा रहने वाला खेत 'खिल' तथा लगातार पांच वर्षों तक ख़ाली पड़ा रहने वाला खेत 'अरण्य-सदृश' कहलाता है।

क्षेत्रं त्रिपुरुषं यत् स्यात् गृहं वा स्यात् क्रमागतम्।
राजप्रसादादन्यत्र न तद्भोगः परं नयेत्॥ 27॥

तीन वर्षों तक किसी खेत अथवा मकान का क़ब्ज़ा रखने वाले (बिना किराया चुकाये अथवा किसी प्रकार का इकरारनामा किये) व्यक्ति का उस पर स्वामित्व मान लिया जाता है। हां, यदि इस अवधि में वह सम्पत्ति सरकार द्वारा अधिग्रहीत हो जाती है अथवा स्वामित्व के विवाद के सम्बन्ध में कोई अधिसूचना जारी की जाती है, तो स्थिति भिन्न हो जाती है, अन्यथा स्वामित्व स्वतः सिद्ध माना जाता है।

उत्क्रम्य तु वृतिं यत्र सस्यघातो गवादिभिः।
पालः शास्यो भवेत्तत्र न चेच्छक्त्या निवारयेत्॥ 28॥

क्षेत्र की रक्षा के लिए नियुक्त व्यक्ति द्वारा शक्ति और साधन होने पर भी कृषि

की हानि कर रहे गाय-बैल आदि पशुओं को हटाने-भगाने का उद्यम न करने पर उसे यथोचित रूप से दण्डित करना चाहिए।

समूलसस्यघाते तु तत् स्वामी सममाप्नुयात्।
वधेन पालो मुच्येत दण्डं स्वामिनि पातयेत्॥ 29॥

गाय-बैल आदि पशुओं द्वारा पूरी उपज खाये जाने अथवा रौंदे जाने के रूप में नष्ट किये जाने पर क्षेत्र के स्वामी को जहां रक्षक को दण्ड देना चाहिए, वहां पशुओं के स्वामी को, न केवल क्षेत्रपाल को अपनी हानि की भरपाई करनी चाहिए, अपितु प्रशासन को दण्ड के रूप में निर्धारित धन-राशि का भुगतान भी करना चाहिए।

गौः प्रसूता दशाहं च महोक्षो वाजिकुञ्जरौ।
निवार्याः स्युः प्रयत्नेन तेषां स्वामी न दण्डभाक्॥ 30॥

दस दिन की प्रसूता गाय तथा बलवान् एवं उच्छृंखल—बन्धन में न रखे जा सकने वाले—अश्व, गज, वृषभ आदि द्वारा कृषि-शस्य की हानि किये जाने पर क्षेत्रपाल को अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए उन्हें क्षेत्र में घुसने से रोकना चाहिए। ऐसे पशुओं के स्वामी से हानि की भरपाई की मांग नहीं की जा सकती।

माषं गां दापयेद्दण्डं द्वौ माषौ महिषी तथा।
अजाविके सवत्से तु दण्डः स्यादर्धमाषकः॥ 31॥

गाय, भैंस और अपने बच्चे (मेमने) सहित भेड़-बकरी द्वारा कृषि की हानि किये जाने पर क्रमशः एक माशा (ग्राम), दो माशा और आधा माशा स्वर्ण, दण्ड के रूप में इनके स्वामी को देय होता है।

अदण्ड्या हस्तिनोऽश्वाश्च प्रजापाला हि ते मताः।
अदण्ड्याऽऽगन्तुकी गौश्च सूतिका वाऽभिसारिणी॥ 32॥

गजों और अश्वों द्वारा उपज के खाने-ख़राब करने पर भी उन्हें दण्डित नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे प्रजापालक होने के कारण किसी भी कारण से दण्डनीय नहीं हैं। इस प्रकार बाहर से ख़रीदकर लायी गयी, सद्यःप्रसूता अथवा वृषभ के साथ आयी गाय भी कृषि-शस्य को खाने-उजाड़ने के लिए कदापि दण्डनीय नहीं होती; क्योंकि ऐसी गाय भी दण्ड की सीमा के बाहर होती है।

नष्टा भग्ना च लग्ना च वृषभः कृतलक्षणः।
प्रोक्तं तु च्छिन्ननासायां वसन्त्यां तु चतुर्गुणम्॥ 33॥

गाय-भैंस आदि चराने वाले पशुपालक के झुण्ड से बिछुड़ी, घायल तथा पैरों में लगी चोट के कारण चलने में असमर्थ गाय द्वारा तथा गायों को गर्भिणी बनाने के लिए चिह्नित और छोड़े गये सांड द्वारा हुई कृषि-शस्य की हानि के लिए, न इन पशुओं को और न ही रक्षक को दण्ड देना चाहिए और न ही इनके स्वामियों से

भरपाई की मांग करनी चाहिए। हां, नथुनों की रस्सी तुड़ाकर खेत में घुस आने वाले और कृषि की हानि करने वाले बैल को न रोकने वाले रक्षक से हानि का चार गुना दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिए।

सन्नानां द्विगुणः प्रोक्तो वसतां तु चतुर्गुणः।
प्रत्यक्षचारकाणां तु चौरदण्डः स्मृतो नृणाम्॥ 34॥

दूसरे के खेत में घुसकर उसकी उपज को खाकर तृप्त-मस्त हुई और पूरी रात वहीं आराम करती गाय को ढूंढते-फिरते गोपालक से खेत की हानि का दुगुना तथा दूसरे के खेत की उपज को खाती गाय को अनदेखा करने वाले गोपालक से चार गुना वसूल करना चाहिए, परन्तु अपनी उपस्थिति में गाय को दूसरे की उपज को खाने से निवारण न करके प्रोत्साहित करने वाले पशुपालक को तो चोर के लिए निर्धारित दण्ड द्वारा दण्डित करना चाहिए।

या नष्टाः पालदोषेण गावः क्षेत्रं यदाप्नुयुः।
न तत्र गोभिनां दण्डः पालस्तं दण्डमर्हति॥ 35॥

गायों के रक्षक द्वारा गायों को नियन्त्रण में न रखने अथवा उनकी सही ढंग से देखभाल न करने के दोष के कारण गायों के दूसरे के खेतों में घुसकर फ़सल खाने-उजाड़ने के लिए गायों के मालिक को नहीं, अपितु रखवाले को ही उत्तरदायी ठहराना चाहिए और उसी को तदनुरूप दण्डित करना चाहिए।

राजग्राहगृहीतो वा वज्राशनिहतोऽपि वा।
अथ सर्पेण दष्टो वा वृक्षाद्वा पतितो भवेत्॥ 36॥
व्याघ्रादिभिर्हतो वापि व्याधिभिर्वाप्युपद्रुतः।
न तत्र दोषः पालस्य न च दोषोऽस्ति गोभिनाम्॥ 37॥

1. राजपुरुषों द्वारा पकड़े गये, 2. बिजली गिरने से मर गये, 3. सांप के काटने से मृत, 4.वृक्ष अथवा वृक्ष की शाखा के गिरने से उसके नीचे दबकर मरे, 5. व्याघ्र आदि हिंसक जीवों का शिकार बने अथवा विभिन्न रोगों की विषमता से तथा दैवी आपत्ति—भूकम्प, भयंकर आंधी-तूफान, गड्ढे में गिरना तथा पशुओं में मची भगदड़ आदि—में प्राण छोड़ने वाले पशुओं के लिए न तो पशुपालक को और न ही पशुओं के स्वामी को दोषी ठहराया जा सकता है।

गोभिस्तु भक्षितं धान्यं यो नरः प्रतियाचते।
सामन्तानुमते देयं धान्यं यत्तत्र भक्षितम्॥ 38॥

यदि क्षेत्र का स्वामी अपने क्षेत्र में घुसे दूसरे के पशुओं द्वारा किये गये अपनी उपज के विनाश की भरपाई की मांग करता है और सामन्त इससे सहमति प्रकट करते हैं, तो गोपालक को उसकी मांग को पूरा करना चाहिए, अर्थात् क्षतिपूर्ति में टाल-मटोल नहीं करनी चाहिए।

गावस्तु गोभिना देया धान्यं तत् कर्षिकस्य तु।
एवं हि विनयः प्रोक्तो गोपैः सस्यावपातनात्॥ 39॥

वस्तुतः पशुओं के स्वामियों को उनके पशु लौटाना और दूसरों के खेतों में घुसने वाले पशुओं द्वारा उत्पात मचाने की क्षतिपूर्ति करना गोपालक का ही कर्तव्य और दण्ड है।

ग्रामोपान्ते च यत् क्षेत्रं विवीतान्ते महापथे।
अनावृते चेत्तन्नाशे न पालस्य व्यतिक्रमः॥ 40॥

गांव के आस-पास अथवा समीप के खेतों, बगीचों से सटे खेतों व राजमार्ग के दोनों ओर के खेतों तथा पशुओं के चरने-घूमने के लिए निर्धारित खेतों में पशुओं के घुस जाने तथा उपज को खाने-रौंदने के लिए गोपालक को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।

पथि क्षेत्रे वृत्तिः कार्या यामुष्ट्रो नावलोकयेत्।
न लंघयेत् पशुर्वाश्वो न भिन्द्याद्यां च सूकरः॥ 41॥

राजमार्ग के दोनों ओर पड़ने वाले क्षेत्रों के स्वामियों को अपने खेत के चारों ओर ऊंची दीवार खड़ी करनी चाहिए, ताकि ऊंट, गाय, बैल और अश्व आदि पशु उधर की उपज को देख ही न सकें। इसके अतिरिक्त उसे अपने खेत के चारों ओर सुदृढ़, बाड़-कांटेदार तार आदि लगानी चाहिए, ताकि पशु खेत में घुस ही न सकें।

गृहक्षेत्रं च दृष्टे द्वे वासहेतू कुटुम्बिनाम्।
तस्मात्तं नोत्क्षिपेद्राजा तद्धिमूलं कुटुम्बिनाम्॥ 42॥

परिवार वाले गृहस्थों के लिए गृह और क्षेत्र दो ऐसे आवश्यक संसाधन हैं जिनके बिना जीवन चल ही नहीं सकता। निवास के लिए सुविधाजनक स्थान गृह है और आजीविका को चलाने का साधन क्षेत्र है। एक विश्राम का आधार है, तो दूसरा श्रम का। अतः राजा को इन दोनों को कभी नहीं छीनना चाहिए। इन दोनों में से किसी एक का भी छीना जाना असन्तोषजन्य विद्रोह का कारण बन सकता है।

वृद्धे जनपदे राज्ञो धर्मः कोशश्च वर्धते।
हीयते हीयमाने च वृद्धिहेतुमतः श्रयेत्॥ 43॥

वस्तुतः जनपद और जनता की सम्पन्नता-विपन्नता में ही राजा की सम्पन्नता-विपन्नता निहित है। अभाव-पीड़ित जनता पर शासन करने वाला राजा कभी सुख और शान्ति का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। अतः राजा को सदा प्रजा की उन्नति और समृद्धि की कामना व चिन्ता करनी चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का एकादश प्रकरण समाप्त॥

12. स्त्री-पुरुष-योग

विवाहादिविधः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते।
स्त्रीपुंसयोगनामैतद्विवादपदमुच्यते ॥ 1 ॥

दो भिन्न परिवार के स्त्री और पुरुष के विवाह-विधि से एक हो जाने का नाम 'स्त्री-पुरुष-योग' है। यहां भी आपसी मनमुटाव और कलह के कारण विवाद उत्पन्न हो जाते हैं, जिसे सुलझाने के लिए व्यवहार का आश्रय लिया जाता है। इसी का नाम 'स्त्री-पुरुष-योग' है।

स्त्रीपुंसयोस्तुसम्बन्धे वरणं प्राग् विधीयते।
वरणाद् ग्रहणं पाणेः संस्कारोऽथ द्विलक्षणः ॥ 2 ॥

स्त्री और पुरुष अथवा कन्या और बालक अथवा वधू और वर के परस्पर योग से पूर्व वरण—लड़की के लिए लड़के का और लड़के के लिए लड़की का चुनाव—होता है। इन चुनाव पर मोहर लगाने की क्रिया का नाम सगाई अथवा वाग्दान है, अर्थात् लड़की और लड़के के माता-पिता द्वारा अपने बच्चों के लिए उपयुक्त जीवनसाथी चुन लेने को सार्वजनिक करना है। यह इस दिशा का प्रथम चरण है। इसके उपरान्त द्वितीय चरण है—अग्नि के समक्ष दोनों—लड़की और लड़के—द्वारा जीवनपर्यन्त एक-दूसरे का साथ निभाने की प्रतिज्ञा करना। इसी का नाम पाणिग्रहण—लड़के द्वारा लड़की का हाथ पकड़ना, उसके भरण-पोषण का दायित्व लेना, उसे अपने व्यक्तित्व का भागी बनाना—है। यही विवाह एवं सप्तपदी कहलाता है।

इस प्रकार स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध के जुड़ने के दो चरण हैं—चुनाव और प्रतिज्ञा अथवा वरण और धारण।

तयोरनियतं प्रोक्तं वरणं दोषदर्शनात्।
पाणिग्रहणमन्त्रश्च नियतं दारलक्षणम् ॥ 3 ॥

वरण अथवा वाग्दान (सगाई) किये जाने पर लड़की-लड़के का योग नहीं हो जाता है। योग तो विवाह में मन्त्रोच्चारण के उपरान्त ही होता है। अतः यदि सगाई के उपरान्त लड़की-लड़के में किसी दोष का पता चल जाता है, तो सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है, परन्तु विवाह हो जाने (सम्भोग-क्रिया हो जाने) के उपरान्त दोनों में किसी दोष के दीखने पर सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया जा सकता। विवाह

के उपरान्त लड़का-लड़की पति-पत्नी बन चुके होते हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परिग्रहे।
सजातिः श्रेयसी भार्या सजातिश्च पतिः स्त्रियाः ॥ 4 ॥

चारों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—वर्णों के लड़कों के लिए सवर्ण लड़की से पाणिग्रहण ही वाञ्छनीय एवं शुभ होता है, अर्थात् ब्राह्मण लड़के का ब्राह्मण लड़की से, क्षत्रिय लड़के का क्षत्रिय लड़की से पाणिग्रहण ही उत्तम रहता है। भिन्न वर्ण और जाति के लड़के द्वारा भिन्न जाति और वर्ण की लड़की का पाणिग्रहण उपयुक्त नहीं माना जाता।

ब्राह्मणस्यानुलोम्येन स्त्रियोऽन्यास्तिस्र एव तु।
शूद्रायाः प्रातिलोम्येन तथान्ये पतयस्त्रयः ॥ 5 ॥

अनुलोम क्रम से ब्राह्मण लड़के को ब्राह्मण लड़की के अतिरिक्त अन्य तीन—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—लड़कियों से भी विवाह करने का अधिकार है। इसी प्रकार शूद्र लड़की को शूद्र लड़के के अतिरिक्त अन्य तीन वर्णों के लड़के को भी पति बनाने का अधिकार है।

द्वे भार्ये क्षत्रियस्यान्ये वैश्यस्यैका प्रकीर्तिता।
वैश्याया द्वौ पती ज्ञेयाविकोऽन्यः क्षत्रियापतिः ॥ 6 ॥

इसी प्रकार क्षत्रिय बालक, क्षत्रिया बालिका के अतिरिक्त दो अन्य वर्णों—वैश्य और शूद्र—की बालिकाओं से—विवाह कर सकता है। वैश्य अपने वर्ण की वैश्य बालिका के अतिरिक्त शूद्रा से भी विवाह कर सकता है। इस प्रकार वैश्या स्त्री के दो अन्य पति—क्षत्रिय और ब्राह्मण—तथा क्षत्रिया का एक अन्य पति—ब्राह्मण—हो सकता है।

आ सप्तमात् पञ्चमाद्वा बन्धुभ्यः पितृमातृतः।
अविवाह्याः सगोत्राः स्युः समानप्रवरास्तथा ॥ 7 ॥

पितृपक्ष की सात पीढ़ियों और मातृपक्ष की पांच पीढ़ियों को छोड़कर ही लड़का-लड़की का विवाह सम्बन्ध स्थिर करना चाहिए। सपिण्डियों और सगोत्रियों में रक्त-सम्बन्ध होने के कारण विवाह सम्बन्ध उचित नहीं; क्योंकि इससे स्वस्थ एवं बल-बुद्धि-सम्पन्न सन्तान के उत्पन्न होने की सम्भावना के आगे प्रश्नचिह्न लग जाता है।

परीक्ष्य पुरुषः पुंसत्वे निजैरेवाङ्गलक्षणैः।
पुमांश्चेदविकल्पेन स कन्यां लब्धुमर्हति ॥ 8 ॥

अपने शरीर के लक्षणों से कन्या के लिए चुने जा रहे लड़के के शरीर की तुलना और जांच-परख करने पर व उसके पुरुषत्व का निश्चय हो जाने के उपरान्त ही उसे कन्या देने का विचार बनाना चाहिए, अर्थात् सच्चे अर्थों में पुरुष—कन्या

को सन्तुष्ट कर पाने वाला—सिद्ध एवं निश्चित होने वाले बालक को ही कन्या को ग्रहण करने का अधिकारी समझना चाहिए।

सुबद्धजत्रुजान्वस्थिः सुबद्धांसशिरोरुहः।
स्थूलधाटास्तनूरूत्वगविलग्नगतिस्वरः ॥ 9 ॥
रेतोऽस्योत्प्लवते नाप्सु ह्यादि मूत्रं च फेनिलम्।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः ॥ 10 ॥

निम्नोक्त लक्षणों वाले बालक को पुरुष और इन लक्षणों से रहित को नपुंसक समझना चाहिए—

1. जंघाओं और घुटनों की हड्डी का सुदृढ़ और सुसम्बद्ध होना।
2. कन्धों की भीतरी अस्थियों का बलशाली होना।
3. मस्तक के ऊपर घने, काले और लम्बे केशों का होना।
4. ग्रीवा के पिछले भाग का स्थूल होना।
5. शरीर की त्वचा पर घने बालों का उगना।
6. व्यक्ति की चाल में स्फूर्ति और तीव्रता का होना।
7. स्वर का गम्भीर और मधुर होना।
8. वीर्य का पानी के ऊपर स्थिर रहना, डूब-बह न जाना तथा
9. मूत्र का स्वाभाविक रूप से निकलना तथा उसका झाग लिये रहना।

चतुर्दशविधः शास्त्रे षण्ढो दृष्टो मनीषिभिः।
चिकित्स्यश्चाचिकित्स्यश्च तेषामुक्तो विधिः क्रमात् ॥ 11 ॥

शरीर-वैज्ञानिकों ने चौदह प्रकार के नपुंसक माने हैं। उनमें कुछ चिकित्सा द्वारा आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, अर्थात् नपुसंकत्व को पुंसत्व में बदला जा सकता है, परन्तु कुछ भेद ऐसे हैं, जिनमें चिकित्सा द्वारा भी कोई परिवर्तन नहीं आ पाता। कितना और कैसा भी उपचार क्यों न कर लिया जाये, नपुंसकता दूर नहीं हो पाती। नपंसुकता के निम्नोक्त चौदह भेद हैं।

निसर्गषण्ढो वध्रश्च पक्षषण्ढस्तथैव च।
अभिशापाद् गुरो रोगाद्देवक्रोधात्तथैव च ॥ 12 ॥
ईर्ष्याषण्ढश्च सेव्यश्च वातरेता मुखेभगः।
आक्षिजो मोघबीजश्च शालीनोऽन्यापतिस्तथा ॥ 13 ॥

1. जन्मजात—लिंग और अण्डकोश-रहित।

2. वध्र—दाढ़ी-मूंछ-रहित।

3. पक्षषण्ढ—एक पक्ष—शुक्ल अथवा कृष्ण—में रति-भोग करने में समर्थ और दूसरे पक्ष में सर्वथा अशक्त।

4. अभिशप्त—गुरु अथवा महात्मा आदि के शाप से नष्ट पुंसत्व।

5. **रोग विकार**—किसी रोग के कारण पुंसत्व का नष्ट हो जाना।

6. **दैवी प्रकोप**—किसी देवता के प्रकोप से पुंसत्व गंवा बैठना।

7. **ईर्ष्याषण्ढ**—स्त्रियों के प्रति विद्वेष, हीनभावना अथवा घृणा आदि के कारण उत्तेजना खो देना।

8. **हीनता-ग्रस्त**—स्त्रियों की सेवा करने से उन्हें भोगने में अरुचि, असामर्थ्य, भय, लज्जा एवं बेचैनी अनुभव करना।

9. **वातरेता**—सम्भोग में प्रवृत्त होते ही वीर्य का स्खलित हो जाना।

10. **मुखेभग**—भग में लिंग-प्रवेश से भयभीत और मुख-मैथुन अथवा गुदा-मैथुन में रुचि रखना—एक प्रकार के अन्धविश्वास (वहम) का शिकार।

11. **आक्षिज**—सम्भोग करने पर भी वीर्यपात न कर पाना। वीर्य का न निकलना।

12. **मोघबीज**—वीर्य में सन्तानोत्पादक शुक्राणुओं का अभाव।

13. **शालीन**—स्त्री संसर्ग के समय लिंग का उत्थित-उत्तेजित ही न होना।

14. **अन्यापति**—अपनी पत्नी से भोग करने में असमर्थ, उसके सामने उत्तेजित न होने वाला, परन्तु दूसरी स्त्रियों से भोग करने में सफल।

तत्राद्यावप्रतीकारौ पक्षाख्यो मासमाचरेत्।
अनुक्रमात्तु यस्यास्य कालः सम्वत्सरः स्मृतः ॥ 14 ॥

उपर्युक्त चौदह प्रकार के नपुंसकों में से प्रथम दो—लिंगविहीन तथा श्मश्रु-विहीन—को तो सर्वथा असाध्य ही समझना चाहिए। इनकी तो कोई चिकित्सा ही नहीं है। पक्षषण्ढ की एक मास तक और दूसरे षण्ढों की एक साल तक चिकित्सा करके परिणाम की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

ईर्ष्याषण्ढादयोयेऽन्ये चत्वारः समुदाहृताः।
त्यक्तव्यास्ते पतितवत् क्षतयोन्या अपि स्त्रिया ॥ 15 ॥

यद्यपि नारी-विद्वेष, नारी-सेवा, वातरेता तथा मुत्स्वेभग आदि नपुंसकों की स्थिति में अनुकूल परिवेश, उपयुक्त चिकित्सा, सहानुभूति तथा मनोवैज्ञानिक उपचार आदि अपनाकर सुधार लाया जा सकता है, तथापि इन्हें पतितों के समान समझकर त्याग देना चाहिए; क्योंकि इनकी मानसिकता को स्थायी रूप में बदलना कदापि सम्भव नहीं। कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति कभी सफल सम्भोग नहीं कर पाता।

अक्षिप्तमोघबीजाभ्यां कृतेऽपि पतिकर्मणि।
पतिरन्यः स्मृतो नार्या वत्सरार्धं प्रतीक्ष्य तु ॥ 16 ॥

विवाह करने पर पत्नी के साथ सम्भोग-क्रिया में लिंग उत्थित न कर पाने वाले (उत्तेजनाविहीन) तथा शीघ्रपात के रोगी और सन्तानोत्पत्ति के लिए अपेक्षित शुक्राणुओं से हीन वीर्य वाले पति को उपचार, चिकित्सा आदि के लिए छह महीने

की अवधि देनी चाहिए। इसके पश्चात् भी अनुकूल परिणाम न निकलने पर स्त्री को उसका परित्याग करके, दूसरे समर्थ पुरुष से विवाह कर लेना चाहिए।

शालीनस्यापि धृष्टस्त्रीसंयोगाद् भृश्यते ध्वजः।
तं हीनवेषमन्तस्त्रीवालान्धाभिरुपाचरेत्॥ 17॥

स्त्री-सम्पर्क के समय उत्थित लिंग को वीर्यपात हुए बिना स्थिर न रख पाने वाले पुरुष को, उसकी स्त्री के द्वारा सुन्दर, परन्तु भद्दी वेशभूषा वाली स्त्री अथवा भोली-भाली आकर्षक लड़की आदि को दिखाकर उसकी वासना को उद्दीप्त करने और उत्तेजना को बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। वस्तुतः कभी-कभी शालीन पुरुष (अत्यधिक शालीनता के कारण नपुंसक बना) थोड़ी स्वतन्त्रता तथा अपनी पत्नी का सहयोग-प्रोत्साहन पाकर सहज एवं सामान्य स्थिति में आ जाता है।

अन्यस्या यो मनुष्यः स्यादमनुष्यः स्वयोजिति।
लभेत सान्यं भर्तारमेतत् कार्यं प्रजापतेः॥ 18॥

प्रजापति ने अन्य स्त्रियों के साथ सम्भोग में समर्थ, परन्तु अपनी पत्नी के सौन्दर्य, उद्धत स्वभाव, उच्च शिक्षा, सम्पन्न मायका तथा सामाजिक प्रतिष्ठा अथवा अन्यान्य किन्हीं कारणों से उससे सम्भोग करने में व उसे तृप्त-सन्तुष्ट करने में सर्वथा असमर्थ पुरुष को छोड़कर दूसरे समर्थ पुरुष से विवाह करने का स्त्री को अधिकार प्रदान किया है।

अपत्यार्थं स्त्रियः सृष्टाः स्त्रीक्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति॥ 19॥

सन्तान की उत्पत्ति के लिए स्त्रियों की सृष्टि हुई है। इस प्रकार स्त्री क्षेत्र है और पुरुष बीज धारण करने वाला है। वीर्यहीन पुरुष का क्षेत्र (स्त्री) को ग्रहण करने (विवाह करने) का कोई अधिकार नहीं है।

पिता दद्यात् स्वयं कन्यां भ्राता वाऽनुमते पितुः।
पितामहो मातुलश्च सकुल्या बान्धवास्तथा॥ 20॥

कन्या का दान पहले तो स्वयं उसके पिता को या फिर कन्या के भ्राता को या फिर कन्या के पिता की अनुमति से कन्या के पितामह, मातुल, साकुल्य—चाचा अथवा चाचा के लड़के—आदि निकट सम्बन्धी अथवा अन्यान्य जाति-बन्धु को करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में विष्णु ने अपनी स्मृति में माता को कन्यादान के अधिकारियों में एक तो सबसे पीछे फेंक दिया है और फिर उसके साथ शर्तें भी जोड़ दी हैं। उदाहरणार्थ, माता के स्वस्थ होने, परिवार से सौमनस्य रखने तथा पति की सेवा में रत (सम्भोग से तृप्त करने) रहने वाली होने पर ही उसे कन्यादान का अधिकार है। इन योग्यताओं से रहित होने पर अपनी कन्या के दान का अधिकार उसे नहीं,

अपितु उसके जाति-बन्धुओं को होता है—

यथोक्तसर्वाभावे माता दद्यात् यदि प्रकृतिस्था वृत्तस्था पतितल्पमुपास्ते चेत्। तस्यां चासत्यामवृत्तस्थायां च समान जातीयाः।

माता त्वभाव सर्वेषां प्रकृतौ यदि वर्तते।
तस्यामप्रकृतिस्थायां दद्युः कन्यां सनाभयः॥ 21॥

उपर्युक्त सभी—भ्राता, पितामह तथा मातुल आदि—के अभाव में मानसिक रूप से स्वस्थ होने पर माता कन्यादान कर सकती है, परन्तु माता के मानसिक रूप से विकारग्रस्त होने पर यह दायित्व कुटुम्बी अथवा सपिण्डीजनों को ही निभाना चाहिए।

टिप्पणी—उपर्युक्त कन्या के दाताओं के अधिकारी सम्बन्धियों में पिता के उपरान्त—जीवित न होने पर अथवा असमर्थ अथवा अनिच्छुक होने पर—दूसरा स्थान भ्राता को और तृतीय स्थान माता को दिया गया है—**पिता दद्यात् कन्यां स्वयम्। स्वयं ग्रहणमन्यनिरपेक्षप्रामाण्यार्थम्। पित्रा अनुज्ञातो भ्राता वा, पितुरभावे माता वा। तदभावे पितामहः।** इस कथन से स्पष्ट है कि पिता के जीवित होते उसकी आज्ञा से कन्या का भाई अथवा माता-पिता कन्यादान कर सकते हैं, परन्तु पिता के न रहने पर या दिवंगत होने अथवा प्रवासित होने पर पहला अधिकार केवल माता का है। माता के भी जीवित न होने पर यह अधिकार दादा, नाना आदि को मिलता है।

एक अन्य विचारणीय तथ्य यह है कि माता की पात्रता के सम्बन्ध में लगायी गयी शर्त—मानसिक रूप से स्वस्थ होनी चाहिए—अन्य सम्बन्धियों पर नहीं लगायी गयी। वस्तुतः यह मातृत्व का घोर अपमान है। पिता के उपरान्त दूसरा स्थान तो माता को ही मिलना चाहिए, परन्तु पुरुषप्रधान समाज यह सब कैसे सहन कर सकता है ? ऐसी उदारता कैसे दिखा सकता है ?

यदा तु नैव कश्चित् स्यात् कन्या राजानमाश्रयेत्।
अनुज्ञया तस्य वरं प्रतीत्य वरयेत् स्वयम्॥ 22॥

किसी भी अभिभावक—पिता, भ्राता, माता, पितामह तथा मातुल—के अतिरिक्त बन्धु-बान्धव और सपिण्डी आदि के न होने पर कन्या द्वारा राजा को अपना संरक्षक एवं अभिभावक मानकर उसके प्रशासन द्वारा अभिभावकविहीन कन्याओं के संरक्षण के लिए मनोनीत अधिकारी की अनुमति एवं सहमति प्राप्त कर स्वयं ही अपने लिए अपनी इच्छानुसार वर की खोज करनी चाहिए।

सवर्णमनुरूपं च कुलशीलवयः श्रुतैः।
सह धर्मं चरेत्तेन प्रजाश्चोत्पादयेत्ततः॥ 23॥

अभिभावकविहीन कन्या को अपनी ही जाति के कुलीन, चरित्रवान्, सुन्दर

आयु, विद्या और गुणों की दृष्टि से सही लगने वाले युवक को ढूंढकर उससे विवाह कर लेना चाहिए। इस प्रकार ऐसी कन्या को अपने उद्यम से ही सन्तान उत्पन्न कर अपना घर बसाना चाहिए।

प्रतिगृह्य च यः कन्यां वरो देशान्तरं व्रजेत्।
त्रीनृतून् समतिक्रम्य कन्यान्यं वरयेद्वरम्॥ 24॥

यदि अभिभावकविहीन कन्या चुने हुए वर के द्वारा धोखे का शिकार हो जाती है, अर्थात् उसका पति उसे लौटने का आश्वासन देकर विदेश चला जाता है अथवा अपने ही देश में बिना कुछ बताये कहीं अन्यत्र चला जाता है, तो ऐसी स्त्री को तीन ऋतुओं तक, अर्थात् छः मास तक अपने पति के लौटने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस अवधि में उसके न लौटने और न ही कोई सूचना देने पर स्त्री किसी दूसरे युवक के वरण करने को स्वतन्त्र होती है। इसमें किसी प्रकार का कोई अनौचित्य नहीं है।

कन्या नर्तुमुपेक्षेत बान्धवेभ्यो निवेदयेत्।
ते चेन्न दद्युस्तां भर्त्रे ते स्युर्भ्रूणहभिः समाः॥ 25॥

अभिभावकविहीन कन्या के ऋतुमती हो जाने पर उसे इस तथ्य को गुप्त न रखकर अपने समीप-दूर के सभी सम्बन्धियों को बताना चाहिए और उनसे अपने लिए उपयुक्त वर की खोज का निवेदन करना चाहिए। इस तथ्य को जानने के उपरान्त भी निश्चेष्ट रहने वाले, अर्थात् कन्या के लिए उपयुक्त वर की खोज न करने वाले बन्धु-बान्धव भ्रूणहत्या के दोषी होते हैं।

यावन्तश्चर्तवस्तस्याः समतीयुः पतिं विना।
तावत्यो भ्रूणहत्याः स्युस्तस्य यो न ददाति ताम्॥ 26॥

मातृपितृविहीन कन्या के अभिभावकों को यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कन्या के युवती हो जाने की जानकारी प्राप्त करने के उपरान्त भी कन्या के लिए यथाशीघ्र उपयुक्त वर की व्यवस्था न करने वाले दूर-समीप के बन्धु-बान्धव कन्या की व्यर्थ जाने वाली ऋतुओं की संख्या के अनुरूप भ्रूणहत्या के दोषी बनते हैं, अर्थात् कन्या जितनी बार ऋतुमती होती है और अपने दुर्भाग्य पर रोती है तथा सोचती है कि वह विवाहिता होती, तो पति के संग से फलवती हो सकती थी, अब उसका ऋतुमती होना व्यर्थ जा रहा है, उतनी बार की भ्रूणहत्या का पाप बन्धु-बान्धवों को लगता है।

अतोऽप्रवृत्ते रजसि कन्यां दद्यात् पिता सकृत्।
महदेनः स्पृशेदेनमन्यथैवं विधिः सताम्॥ 27॥

कन्या की ऋतुओं को सार्थक बनाने के उद्देश्य से कन्या के ऋतुमती होने से पूर्व ही उसके पिता-भ्राता आदि को उसका विवाह कर देना चाहिए, अन्यथा पिता

आदि अभिभावक पाप के भागी होते हैं।

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्॥ 28॥

सज्जनों को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि निम्नोक्त तीन कार्य एक ही बार किये जाते हैं, बदले-पलटे नहीं जाते। जो एक बार कह दिया, वह अटल और स्थिर होता है। अतः मुंह खोलने से पूर्व भली प्रकार सोच-विचार कर लेना चाहिए। ये तीन हैं—

1. पैतृक सम्पत्ति का विभाजन, 2. कन्यादान तथा 3. धन-सम्पत्ति के दान का संकल्प।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु पञ्चस्वेष विधिः स्मृतः।
गुणापेक्षं भवेद्दानमासुरादिषु च त्रिषु॥ 29॥

पांच—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव और गान्धर्व—प्रकार के विवाहों में कन्या का दान एक बार किया जाता है, अर्थात् एक बार जिसे दे दिया, दे दिया। प्रथम दान को ही अन्तिम माना जाता है, परन्तु इसके विपरीत तीन—आसुर, राक्षस और पैशाच—प्रकार के विवाहों में वर की योग्यता एवं गुणवत्ता के आधार पर देने के संकल्प को बदला जा सकता है, अर्थात् यदि एक व्यक्ति को कन्या देने का वचन दे दिया और उसके उपरान्त पहले वाले से अधिक दूसरा योग्य वर मिल गया, तो अभिभावक अपने वचन को बदल सकता है।

कन्यायां दत्तशुल्कायां ज्यायांश्चेद्वर आव्रजेत्।
धर्मार्थकामसंयुक्तं वाच्यं तत्रानृतं भवेत्॥ 30॥

कन्या का शुल्क ग्रहण करने के पश्चात्, अर्थात् धन लेकर कन्या देने का समझौता करने के उपरान्त भी, यदि पहले से अधिक योग्य वर मिल जाता है, तो पहले वालों को पैसा लौटाकर सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार का कोई दोष नहीं।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्य व मनु आदि स्मृतिकारों ने तो कन्या के शुल्क को ग्रहण करते समय अथवा ग्रहण करने के पश्चात् पहले से अधिक प्रशस्त वर के मिलने पर सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए अभिभावकों द्वारा मिथ्याभाषण को—कन्या को ही यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं, अब उसे विवश तो नहीं किया जा सकता आदि—अनुचित अथवा दोषपूर्ण नहीं माना।

कन्यायां प्राप्तशुल्कायां शुल्कग्रहण काले प्रशस्यतरः प्रार्थनीयो यद्यागच्छेत्, तत्र धर्मादियुक्तं शीलवती, कुलरूपवती चेत्याद्यनृतमपि प्रयोजनार्थं वक्तव्यम्। नात्रानृत वचने दोषः।

अन्य आह—गृहीतशुल्कायां प्रशस्यतरो यद्यन्य आगच्छेत् तत्र धर्मादि-

युक्तमविधेया अविनेया अतिविरूपा च तस्मात् तव न ददामीति शुल्कप्रदाने नास्त्यनृत्वदोषः।

स्पष्ट है कि कन्या को अधिक उपयुक्त वर देने की दृष्टि से पहले प्रस्ताव को भंग करने के लिए झूठे बहाने बनाने में भी दोष नहीं माना गया। हमारे विचार में कालान्तर में कुछ दुष्ट अभिभावकों द्वारा अपने लोभ की पूर्ति के लिए इस झूठ का जमकर दुरुपयोग किया जाने लगा।

नादुष्टा दूषयेत् कन्यां नादुष्टं दूषयेद्वरम्।
दोषं तु सति नागः स्यादन्योन्यं त्यजतास्तयोः ॥ 31 ॥

दोष-रहित कन्या अथवा वर में सम्बन्ध स्थिर हो जाने के उपरान्त छिद्रान्वेषण अथवा दोष-दर्शन जहां सर्वथा अनुचित है, वहां स्पष्ट दोष दिखाई देने पर कन्या अथवा वर के त्यागने अथवा सम्बन्ध-विच्छेद करने में कोई दोष अथवा अनौचित्य नहीं है।

दत्वा न्यायेन यः कन्यां वराय न ददाति ताम्।
अदुष्टश्चेद्वरो राज्ञा स दण्ड्यस्तत्र चौरवत् ॥ 32 ॥

भली प्रकार सोच-विचार करके विधिपूर्वक कन्या का वाग्दान करने के उपरान्त वर में किसी दोष के न होने पर तथा वर पक्षवालों के किसी अपराध के न करने पर भी अपने वचन से मुकरने वाले, अर्थात् वाग्दत्ता कन्या का विवाह न करने वाले कन्या के अभिभावक को प्रशासन द्वारा चोर के लिए निर्धारित दण्ड से दण्डित करना चाहिए।

यस्तु दोषवतीं कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।
तस्य कुर्यान्नृपो दण्डं पूर्वसाहसचोदितम् ॥ 33 ॥

किसी दोष—असाध्य रोग से पीड़ित, बोलने में हकलाना तथा चलने में लड़खड़ाना आदि—से ग्रस्त कन्या के दोष को छिपाकर धोखे से उसे किसी के मत्थे मढ़ने वाले, अर्थात् वर पक्षवालों को अंधेरे में रखने वाले कन्या के अभिभावक (पिता आदि) को पूर्वसाहस का दण्ड देना चाहिए।

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद् द्वेषेण मानवः।
स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ 34 ॥

किसी अक्षतयोनि कन्या को भुक्त (पुरुष-विशेष से सम्बन्ध रखने वाली) कहकर कलंकित करने वाले, परन्तु अपने आरोप को सिद्ध करने के लिए प्रमाण न जुटा सकने वाले व्यक्ति से सौ पण दण्ड के रूप में वसूल करने चाहिए।

प्रतिगृह्य तु यः कन्यामदुष्टामुत्सृजेन्नरः।
स विनेयस्त्वकामोऽपि कन्यां तामेव चोद्वहेत् ॥ 35 ॥

दोषरहित कन्या के ग्रहण की सहमति देकर, अकारण उसका परित्याग करने

वाले पुरुष को इच्छा न होने पर भी उससे विवाह करना पड़ता है।

दीर्घकुत्सितरोगार्ता व्यङ्गा संसृष्टमैथुना।
धृष्टान्यगतभावा च कन्यादोषाः प्रकीर्तिताः॥ 36॥

कन्या को अग्राह्य बनाने वाले दोष निम्नलिखित हैं—

1. **दीर्घकाल से चले आ रहे असाध्य रोग से ग्रस्त**—दमा, राजयक्ष्मा, कैंसर आदि से पीड़ित।

2. **कुत्सित रोग से ग्रस्त**—कोढ़, सफ़ेद दाग, दाद-खुजली आदि चर्म रोगों की शिकार।

3. **आर्त्ता**—मासिक धर्म आने पर असह्य पीड़ा से कराहने वाली, क्षुधा-पीड़ित तथा दारिद्र्य की प्रतिमूर्ति।

4. **व्यंगा**—विकलांग—अन्धी, काणी, भैंगी, लंगड़ी, कुबड़ी, टेढ़े-मेढ़े हाथ-पांव वाली।

5. **संसृष्ट मैथुना**—विवाह से पूर्व ही पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली, व्यभिचारिणी।

6. **धृष्टा**—ढीठ, निर्लज्ज, अनुचित एवं अश्लील विषयों में रुचि लेने वाली, मर्यादा की रक्षा न करने वाली तथा दुस्साहस करने वाली।

7. **अन्यगतभावा**—पुरुषों से प्रीति एवं मित्रता करने वाली, आज की भाषा में *ब्वायफ्रेण्ड* बनाने वाली।

उन्मत्तः पतितः क्लीवो दुर्भगस्त्यक्तबान्धवः।
कन्यादोषौ च यौ पूर्वावेषं दोषगणो वरे॥ 37॥

इसी प्रकार वर को अवरणीय बनाने वाले दोष निम्नलिखित हैं—

1. **उन्मत्त**—मस्तिष्क का सन्तुलित न होकर विकारग्रस्त होना। शरीर में वात, पित्त तथा कफ के विकार से, धन के विनाश से तथा सन्निपात ज्वर से प्रायः मन अस्थिर और मस्तिष्क विकृत हो जाता है।

2. **पतित**—निकृष्ट कर्मों के कारण जाति से बहिष्कृत तथा धर्मानुष्ठान आदि के अयोग्य घोषित।

3. **क्लीव**—नपुंसक, रति-भोग में असमर्थ।

4. **दुर्भग**—स्त्रियों के बदले समलिंगियों अथवा पशुओं से अथवा स्त्रियों के भग के स्थान पर उनकी गुदा या मुख में मैथुन करने वाला।

5. **त्यक्त बान्धव**—जिसके अवगुणों (दोषों) के कारण बन्धु-बान्धवों ने उससे नाता ही तोड़ लिया है।

6. **रोगग्रस्त**—पुराने असाध्य रोग से पीड़ित तथा

7. **विकलांग**—शरीर के किसी अंग से असामान्य।

अष्टौ विवाहा वर्णानां संस्कारार्थं प्रकीर्तिताः।
ब्राह्मस्तु प्रथमस्तेषां प्राजापत्यस्तथापरः॥ 38॥
आर्षश्चैव हि दैवश्च गान्धर्वश्चासुरस्तथा।
राक्षसोऽनन्तरस्तस्मात् पैशाचस्त्वष्टमः स्मृतः॥ 39॥

चारों वर्णों के लोगों के विवाह के निम्नोक्त आठ भेद हैं—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच।

सत्कृत्याहूय कन्यां तु दद्यात्ब्राह्मेत्वलंकृताम्।
सह धर्मं चरेत्युक्त्वा प्राजापत्यो विधिः स्मृतः॥ 40॥

ब्राह्म विवाह में कन्या का पिता वर को निमन्त्रित करके उसे अपनी सुभूषित और अलंकृता कन्या सादर समर्पित करता है। **प्राजापत्य** विवाह में कन्या का पिता वर को कन्या समर्पित करते हुए उन दोनों को मिलकर धर्मानुचरण करने का निर्देश देता है।

वस्त्रगोमिथुनाभ्यां तु विवाहस्त्वार्ष उच्यते।
अन्तर्वेद्यां तु दैवः स्यादृत्विजे कर्म कुर्वते॥ 41॥

वरपक्ष से वस्त्र, गाय और वृषभ आदि लेकर कन्या का विवाह करना **आर्ष** विवाह कहलाता है तथा ऋत्विक् कर्म करने वाले को दक्षिणा के रूप में कन्यादान करना **दैव** विवाह कहलाता है।

इच्छन्तीमिच्छतः प्राहुर्गान्धर्वं नाम पञ्चमम्।
विवाहस्त्वासुरो ज्ञेयः शुल्कसंव्यवहारतः॥ 42॥

एक-दूसरे पर अनुरक्त लड़के-लड़की को दोनों के माता-पिता द्वारा विवाह बन्धन में बांध देना **गान्धर्व** विवाह कहलाता है तथा शुल्क लेकर कन्या का दान, अर्थात् कन्या को बेचना—उपयुक्त पात्रता की अपेक्षा शुल्क की राशि को महत्त्व देना—**आसुर** विवाह कहलाता है।

प्रसह्यहरणादुक्तो विवाहो राक्षसस्तथा।
सुप्तप्रमत्तोपगमात् पैशाचस्त्वष्टमोऽधमः॥ 43॥

कन्या तथा उसके माता-पिता की इच्छा-अनिच्छा, सहमति-विमति आदि की अपेक्षा किये बिना बलपूर्वक कन्या का हरण करके, उससे विवाह कर लेना **राक्षस** विवाह कहलाता है तथा सोयी हुई, मूर्च्छित अथवा प्रमत्त स्त्री से सम्भोग करके उसे विवाह के लिए विवश-सहमत करना **पैशाच** विवाह कहलाता है, जो क्रम की दृष्टि से आठवें स्थान पर है।

एषां तु धर्म्याश्चत्वारो ब्राह्माद्याः समुदाहृताः।
साधारणः स्याद् गन्धर्वस्त्रयोऽधर्म्यास्ततः परे॥ 44॥

उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों में प्रथम चार—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा

दैव—धर्मसम्मत हैं। पांचवां गान्धर्व विवाह साधारण है, अर्थात् उसे न धर्मसम्मत कहा जा सकता है और न ही धर्म-विरुद्ध। अन्य तीन—आसुर, राक्षस तथा पैशाच—अधर्म और पाप-रूप होने से निन्दनीय एवं त्याज्य हैं।

परपूर्वाः स्त्रियस्त्वन्याः सप्त प्रोक्ता यथाक्रमम्।
पुनर्भूस्त्रिविधा तासां स्वैरिणी तु चतुर्विधा॥ 45॥

एक से अधिक पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाली स्त्रियों के सात प्रकार-भेद हैं—इनमें तीन प्रकार की स्त्रियों को 'पुनर्भू' और चार प्रकार की स्त्रियों को 'स्वैरिणी' माना जाता है।

कन्यैवाक्षतयोनिर्या पाणिग्रहणदूषिता।
पूनर्भूः प्रथमा प्रोक्ता पुनः संस्कारमर्हति॥ 46॥

विवाह से पूर्व अक्षतयोनि और केवल विवाहित पति से दूषित होने वाली और उसे छोड़कर फिर से दूसरे पुरुष से विवाह करने वाली प्रथम 'पुनर्भू' कहलाती है। अभिप्राय यह है कि विवाह के उपरान्त पति के किसी दोष, असाध्य रुग्णता, मस्तिष्क-विकृति तथा नपुंसकता आदि के प्रकट हो जाने पर उससे सम्बन्ध-विच्छेद करके दूसरे पुरुष से विवाह करने वाली स्त्री पूर्वपति की भुक्ता होने के कारण पुनर्भू मानी जाती है।

कौमारं पतिमुत्सृज्य या त्वन्यं पुरुषं श्रिता।
पुनः पत्युर्गृहमियात् सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥ 47॥

अपने कुमार (छोटी आयु) पति की विवाहिता युवती अन्य पुरुष से सम्बन्ध रखती हुई पति के युवा होने पर उसके पास लौट आने वाली स्त्री दूसरे प्रकार की 'पुनर्भू' कहलाती है।

कुछ प्रदेशों में छोटी आयु के लड़कों की बड़ी आयु की लड़कियों से विवाह करने और लड़कों के युवा होने तक लड़कियों के ज्येष्ठ आदि की भुक्ता बने रहने की प्रथा है। उसी के सन्दर्भ में उक्त कथन है।

असत्सुः देवरेषु स्त्री बान्धवैर्या प्रदीयते।
सवर्णाय सपिण्डाय सा तृतीया प्रकीर्तिता॥ 48॥

पति की अकालमृत्यु हो जाने पर और देवर आदि के न होने पर अथवा उसके द्वारा ग्रहण को उद्यत न होने पर किसी सगोत्री अथवा सपिण्डी से विवाहित होने वाली स्त्री तीसरे प्रकार की 'पुनर्भू' कहलाती है।

स्त्री प्रसूताप्रसूता वा पत्यावेव तु जीवति।
कामाद्या संश्रेयदन्यं प्रथमा स्वैरिणी तु सा॥ 49॥

पति के जीवित होते हुए सन्तानवती अथवा निस्सन्तान स्त्री अपने असमर्थ पति से असन्तुष्ट होने के कारण उसका परित्याग कर, अपनी कामवासना की तृप्ति

के लिए पर-पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने वाली प्रथम प्रकार की 'स्वैरिणी' कहलाती है।

मृते भर्त्तरि सम्प्राप्तान्देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत् परं कामात् सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥ 50॥

पति की मृत्यु के उपरान्त योग्य देवरों द्वारा उसके वरण को सहमत, उनकी उपेक्षा करके अपनी रुचि के पुरुष का आश्रय ग्रहण करने वाली द्वितीय प्रकार की 'स्वैरिणी' होती है।

प्राप्ता देशाद्धनक्रीता क्षुत्पिपासातुरा च या।
तवाहमित्युपगता सा तृतीया प्रकीर्तिता॥ 51॥

धन से ख़रीदी गयी, दूसरे देश से आयी हुई, अर्थात् आश्रयविहीन तथा भूख-प्यास से आकुल-व्याकुल स्त्री अपने को शरण देने वाले पुरुष के प्रति कृतज्ञ भाव से समर्पित होने वाली—'आपने मुझे सहारा दिया है, अब मैं आपकी दासी हूं, आपके यथेष्ट भोग के लिए उपस्थित हूं,' इस प्रकार के भावों को प्रकट करने वाली—स्त्री तृतीय प्रकार की 'स्वैरिणी' कहलाती है।

देशधर्मौ निरपेक्ष्य स्त्री गुरुभिर्या प्रदीयते।
उत्प्रभसाहसान्यस्मै अन्त्या सा स्वैरिणी स्मृता॥ 52॥

माता-पिता आदि पूज्य अभिभावकों द्वारा देश-धर्मानुसार उपयुक्त मानकर चुने गये वर की उपेक्षा करके अपने मनोऽकूल जीवनसाथी का आश्रय लेने का दुस्साहस करने वाली स्त्री चतुर्थ प्रकार की 'स्वैरिणी' कहलाती है।

टिप्पणी—माता-पिता के मान-सम्मान तथा लड़के की जाति, धर्म, आयु शिक्षा-दीक्षा, कुल-परिवार तथा सामाजिक स्थिति आदि किसी बात की चिन्ता किये बिना, मन के मीत से प्रेमविवाह करने वाली आजकल की लड़कियों को चतुर्थ प्रकार की 'स्वैरिणी' मानना चाहिए।

पुनर्भुवां विधिस्त्वेष स्वैरिणीनां प्रकीर्तितः।
पूर्वा पूर्वा जघन्यासां श्रेयसी तूत्तरोत्तरा॥ 53॥

पुनर्भू और स्वैरिणी स्त्रियों के स्वरूप और भेदों आदि के वर्णन को यहीं विराम दिया जाता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिए कि पुनर्भू से पूर्व-पूर्व निन्दनीय है, अर्थात् तृतीया—विवाह के उपरान्त पति की अकालमृत्यु हो जाने पर और देवरों के न होने पर पर-पुरुष से विवाह करने वाली की अपेक्षा युवा पति की ओर न लौटने वाली द्वितीया और उसकी अपेक्षा प्रथमा—जीवित पति का परित्याग करने वाली अधिक निन्दनीय है। तृतीया का तो मात्र इतना ही दोष है कि उसने आत्मसंयम को अव्यावहारिक मानकर पुनर्विवाह को ही व्यावहारिक समझा। द्वितीया पुनर्भू यदि अपने को भोगने वाले के प्रति समर्पित हो जाती है, तो उसका

भी दोष इतना ही माना जायेगा कि उसका विवाहित तो कोई और है, उसके प्रति भी उसका कुछ कर्तव्य बनता है, परन्तु इसके लिए अकेली स्त्री को दोषी न मानकर प्रचलित प्रथा की भी निन्दा करनी होगी। इस प्रकार इस द्वितीया की अपेक्षा जीवित पति से समझौता न कर पाने वाली स्त्री को सर्वथा निकृष्ट मानना होगा। विवाह के उपरान्त पुरुष में आये दोष को तो दैवी-विधान समझना चाहिए और विवाह-पूर्व के किसी दोष की भली प्रकार जांच-परख न करने के लिए स्वयं अपने परिवार वालों को और अन्ततः भाग्य को दोषी मानना चाहिए। हां, छल-कपट अथवा धोखा-धड़ी की बात अलग है।

इसी प्रकार चार प्रकार की स्वैरिणी स्त्रियों में उत्तरोत्तर को निकृष्ट माना गया है। पुरुष की नपुंसकता अथवा असमर्थता को जीवन-भर के लिए सहन न कर पाने और पर-पुरुष का आश्रय लेने को स्त्री की विवशता मानना चाहिए और इसके लिए विवाह करने वाले पुरुष को दोषी ठहराना चाहिए। देह की क्षुधा की तृप्ति की इच्छा भी तो जीवन-धर्म है। संयम-नियम का उपदेश देना सरल है, निभाना टेढ़ी खीर है। गुप्त रूप से पर-पुरुष से सम्बन्ध रखने की अपेक्षा, तो दूसरा विवाह कहीं अधिक उचित पग है। हां, इससे पूर्वपति की नाक अवश्य कटती है, उसका पुंसत्व कलंकित होता है, जो होना ही चाहिए।

इस प्रथम स्वैरिणी की अपेक्षा द्वितीय स्वैरिणी—देवरों को धता बताकर मनोऽनुकूल पुरुष का वरण करने वाली—उसकी अपेक्षा तृतीया—आश्रयदाता का वरण करने वाली और उसकी भी अपेक्षा चतुर्था स्वैरिणी—माता-पिता, देश-काल प्रथा, मर्यादा आदि का अतिक्रमण कर प्रेमविवाह करने वाली अधिक निकृष्ट है।

टिप्पणी—हमारे विचार में तो केवल चतुर्थ प्रकार की स्वैरिणी को ही स्वैरिणी कहना उचित है। नपुंसक पति के परित्याग को तो स्वेच्छाचरण नहीं माना जा सकता। द्वितीय स्वैरिणी की भी परिवारजनों के व्यवहार से असन्तुष्ट होकर बाहर जाने की विवशता को समझने पर स्थिति भिन्न हो सकती है। तृतीय स्वैरिणो को तो स्वैरिणी कहना ही सर्वथा अनुचित है। इतिहास में ऐसे अंसख्य उदाहरण मिलते हैं—जहां नदी, कूप आदि से निकालने वाले चोर-डाकुओं, आततायियों तथा दुराचारियों से सम्मान, प्राण आदि की रक्षा करने वाले, भय, आतंक से मुक्त करने वाले वीर एवं उदार पुरुषों के प्रति कृतज्ञतावश अथवा उनके गुणों पर मुग्ध होकर स्त्रियों ने उनसे विवाह कर लिया। ऐसी स्त्रियों को 'स्वैरिणी' कहना तो मानवता का अपमान ही करना होगा।

अपत्यमुत्पादयितुस्तासां या शुल्कतो हृता।
अशुल्कोपहृतायां तु क्षेत्रिकस्येव तत्फलम्॥ 54॥

उपर्युक्त सात प्रकार की स्त्रियां—तीन प्रकार की पुनर्भू और चार प्रकार की

स्वैरिणी, यदि धन देकर ली-दी जाती हैं, तो ऐसी गर्भवती स्त्रियों से उत्पन्न होने वाली सन्तान उत्पादक की होती है। इसके विपरीत बिना शुल्क लिये-दिये विवाह करने वाली स्त्रियों की सन्तान पर वीर्य का आधान करने वाले के स्थान पर क्षेत्र के स्वामी बने पुरुष का ही अधिकार होता है।

क्षेत्रिकस्य यदज्ञातं क्षेत्रे बीजं प्रदीयते।
न तत्र बीजिनां भागः क्षेत्रिकस्यैव तत्फलम्॥ 55॥

वीर्याधान करने वाले किसी भी पुरुष को स्त्री द्वारा गर्भधारण करने की जानकारी होने अथवा न होने पर उत्पन्न सन्तान पर एकमात्र पति का अधिकार होता है, दूसरे पुरुष-यार या द्वितीय पति आदि का नहीं।

अभिप्राय यह है कि महत्त्व वीर्य का नहीं, क्षेत्र (स्त्री, भग) के स्वामित्व का है। बीज किसका है—यह विवादास्पद हो सकता है, परन्तु खेत पर स्वामित्व किसका है—यह तो निश्चित तथ्य होता है।

ओघवाताहृतं बीजं क्षेत्रे यस्य प्ररोहति।
फलभुक्तस्य तत् क्षेत्रं न बीजी फलभाग्भवेत्॥ 56॥

जिस प्रकार ऊपर से अपने खेत में फेंका गया बीज उड़कर दूसरे के खेत में जा पड़ता है, तो उस बीज से उत्पन्न उपज पर खेत के स्वामी का अधिकार होता है, बीज के स्वामी का नहीं, उसी प्रकार वीर्य का आधान करने वाले पुरुष का नहीं, अपितु गर्भ धारण करने वाली स्त्री के स्वामी का ही उत्पन्न सन्तान पर अधिकार होता है।

महोक्षो जनयेद्वत्सान्यस्य गोषु व्रजे चरन्।
तस्य ते यस्य ता गावो मोघं स्पन्दितमार्षभम्॥ 57॥

एक अन्य उदाहरण द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्मृतिकार का कथन है कि जिस प्रकार किसी का वृषभ किसी दूसरे के घर, गोष्ठ अथवा क्षेत्र में खड़ी-विचरण करती गाय से मैथुन कर उसे गर्भवती बनाता है और उस गाय से उत्पन्न होने वाली सन्तान पर गाय के स्वामी ही अधिकार होता है, वृषभ के स्वामी का नहीं—वृषभ का प्रयास केवल यौनतृप्ति माना जाता है—उसी प्रकार पर-स्त्री से भोग करने वाला केवल यौन-सुख का आनन्द लेता है, सन्तान का स्वामित्व प्राप्त नहीं कर सकता।

क्षेत्रिकानुमते बीजं यस्य क्षेत्रे समर्प्यते।
तदपत्यं द्वयोरेव बीजिक्षेत्रिकयोर्मतम्॥ 58॥

क्षेत्र के स्वामी की अनुमति से उसके क्षेत्र में बीज वपन करने पर दोनों—क्षेत्र के स्वामी और वपनकर्ता—का क्षेत्र में उत्पन्न उपज (सन्तान) पर समान अधिकार होता है।

न स्यात् क्षेत्रं विना सस्यं न वा बीजं विनास्ति तत्।
अतोऽपत्यं द्वयोरिष्टं पितुर्मातुश्च धर्मतः ॥ 59 ॥

वस्तुत: क्षेत्र के बिना वीर्याधान नहीं किया जा सकता और वीर्याधान के बिना खेत ख़ाली पड़ा रहता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कृषि-उपज पाने के लिए दोनों—खेत और बीज—के समान महत्त्व के अनुरूप ही स्त्री (खेत) और पुरुष (वीर्य) का अथवा शालीन भाषा में माता-पिता का एक-समान महत्त्व है।

नान्यपत्यं परगृहे संयुक्तस्य स्त्रिया सह।
दृष्टं संग्रहणं तज्जैर्नागतायाः स्वयं गृहे ॥ 60 ॥

दूसरे के घर में जाकर पराई स्त्री से सम्भोग करते हुए पकड़ा जाने वाला पुरुष अवश्य दण्डनीय है, परन्तु अपने घर स्वयं आयी, पराई स्त्री से सम्भोग करते हुए पकड़े गये पुरुष को दण्डित नहीं करना चाहिए।

अदुष्टत्यक्तदारस्य क्लीबस्य क्षयिकस्य च।
सेच्छानुपेयुषो दारामदोषः साहसे भवेत् ॥ 61 ॥

स्त्री के किसी दोष अथवा अपराध के बिना उसका त्याग करने वाले—स्त्री के असुन्दर, अनाकर्षक अथवा मलिन होने के कारण अथवा पुरुष की किसी अन्य स्त्री में अनुरक्ति-आसक्ति के कारण उससे विरक्त—क्लीव तथा असाध्य रोगग्रस्त, अर्थात् उसकी इच्छा से मैथुन करने वाले—पुरुष को दोषी नहीं मानना चाहिए। वस्तुत: ऐसी स्त्री को तृप्त-सन्तुष्ट करना, तो भूखे को भोजन खिलाने और प्यासे को जल पिलाने के समान एक प्रकार का पुण्यकर्म है। यह तो पुरुष का दयाभाव भी हो सकता है।

परस्त्रियां सहाकालेऽदेशे वा भवतोमिथः।
स्थानसम्भाषणामोदास्त्रयः संग्रहणक्रमाः ॥ 62 ॥

असमय—रात के अंधेरे में, अस्थान—निर्जन वन में, घर के एकान्त में अथवा किसी गुप्त स्थान (झाड़ियों के पीछे, सूने पड़े दुर्ग आदि) में, 1. पराइ स्त्री के साथ घूमना, फिरना, उठना-बैठना, 2. बातचीत करना तथा 3. हास्य-विनोद करना अपराध है। इन तीनों क्रियाओं को ही पकड़ा जाना कहा जाता है। ऐसा करते हुए युवक-युवती देखने वालों की दृष्टि में आने से बचने की चेष्टा करते हैं।

नदीनां संगमे तीर्थेस्वारामेषु वनेषु च।
स्त्रीपुंसौ यत्समेयातां तच्च संग्रहणं स्मृतम् ॥ 63 ॥

दूसरों की दृष्टि से बचने के लिए स्त्रियों और पुरुषों का गुपचुप एक-दूसरे से निम्नोक्त स्थानों प्र मिलना भी संग्रहण—पकड़े जाने से बचने का प्रयास—कहलाता है।

1. नदियों का संगम-स्थल प्रयाग आदि, 2. तीर्थ-स्थल (हरद्वार आदि), 3.

उद्यान तथा निर्जन वन। इन स्थानों में परिचितों के मिलने की कम सम्भावना रहती है।

स्मृतिकारों के अनुसार प्रेमी युगल (युवक-युवती) इन स्थानों को अपनी प्रणयलीला के लिए सुरक्षित पाते हैं। इन स्थानों पर सशंक रूप से घूमते हुए युगलों को घर से भागे तथा अनुचित चेष्टारत मानकर पकड़ लेना चाहिए।

दूतीप्रस्थापनैर्वापि लेखसम्प्रेषणैरपि।
अन्यैश्च विविधैर्दोषैर्ग्राह्यं संग्रहणं बुधैः॥ 64॥

बुद्धिमानों को किसी युवक-युवती को एक-दूसरे के पास सन्देशवाहक को भेजते अथवा उसके स्वागत-पत्रों का आदान-प्रदान करते तथा इस प्रकार के अन्यान्य गुप्त एवं दूषित चेष्टाएं देखकर दोनों की एक-दूसरे में अनुरक्ति-आसक्ति समझकर उन्हें पकड़ लेना चाहिए।

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तथा।
परस्परस्यानुमतं सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ 65॥

पुरुष और स्त्री को एक-दूसरे के गुप्त अंगों को स्पर्श करते हुए अथवा एक-दूसरे के द्वारा किये जा रहे स्पर्श का निवारण न करते हुए, अपितु उलटे प्रोत्साहन (आंखें मटकाना, हंसना, मुख से सीटी बजाना, उछलना, गुदगुदाना, गीत गाना, रोमाञ्चित होना तथा सीत्कारना आदि) देते हुए देखकर उन्हें परस्पर अनुरक्त मानते हुए पकड़ा जा सकता है।

उपकारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।
सहखट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ 66॥

प्रसन्न भाव से एक-दूसरे को अंगवस्त्रों का आदान-प्रदान, एक-दूसरे से हास-परिहास तथा उनकी प्रशंसा के बहाने एक-दूसरे के अंगों को छूना तथा दोनों का एक ही आसन पर एक-दूसरे के साथ सटकर बैठना आदि एक-दूसरे के प्रति आकर्षण एवं अनुराग-वृद्धि के लक्षण हैं।

पाणौ यश्च निगृह्णीयाद्वेण्यां वस्त्राञ्चलेऽपि वा।
तिष्ठ तिष्ठेति वा ब्रूयात् सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ 67॥

युवक द्वारा युवती के वस्त्रों व उसकी वेणी आदि को अपने हाथों में हलके से खींचना-झटकना और युवती द्वारा कृत्रिम क्रोध से मुसकराते हुए—ठहर, अभी तुझे मज़ा चखाती हूं—कहना और उसके पीछे भागना आदि चेष्टाएं दोनों की पारस्परिक अनुरक्ति के लक्षण हैं।

वस्त्रैराभरणैर्माल्यैः पानैर्भक्ष्यस्तथैव च।
सम्प्रेष्यमाणैर्गन्धैश्च वेद्यं संग्रहणं बुधैः॥ 68॥

प्रेमी-प्रेमिका को एक-दूसरे के पास वस्त्रों, आभूषणों, पुष्पमालाओं, पेयपदार्थों,

उत्तम भक्ष्य पदार्थों तथा अन्यान्य उपहारों का आदान-प्रदान करता देखकर, उन दोनों की परस्पर अनुरक्ति का अनुमान लगाना चाहिए।

दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत्।
ममेयं भुक्तपूर्वेति तच्च संग्रहणं स्मृतम्॥ 69॥

किसी युवक प्रेमी द्वारा दर्प तथा मोहवश अथवा मिथ्या आत्म-विज्ञान की इच्छा से प्रेरित होकर किसी युवती को अपनी 'भुक्ता' कहने का अर्थ, उसकी उसे पाने की उत्कट अभिलाषा ही समझना चाहिए। युवती को अन्य उपायों से पाने में असफल युवक कभी-कभी उसे अपमानित-कलंकित करने से ही पाना सम्भव मानकर ऐसी ओछी हरकतें करते हैं। वस्तुतः इसे युवक प्रेमी की कुण्ठा और निराशा की परिणति ही समझना चाहिए; क्योंकि वह समझता है कि वश में नहीं आती, तो मिथ्या आरोप लगाने में क्या बुराई है। वैसे, इस प्रकार के हताश प्रेमी को ओछा व्यक्ति ही समझना चाहिए।

सजात्यतिशये पुंसां दण्ड उत्तमसाहसः।
मध्यमस्त्वानुलोम्येन प्रातिलोम्ये प्रमापणम्॥ 70॥

समान वर्ण, जाति और स्थिति के व्यक्तियों द्वारा स्त्रियों पर मिथ्या आरोप लगाकर, उन्हें वश में करने की चेष्टा करने पर युवक को उत्तम साहस का दण्ड और उच्च वर्ण, जाति एवं स्थिति के पुरुष द्वारा अपने से निम्न जाति, वर्ण एवं स्थिति की स्त्री को मिथ्या कलंकित करने पर मध्यम साहस का दण्ड देना चाहिए। निम्न वर्ण-जाति वाले युवक प्रेमी द्वारा अपने से उच्च वर्ण-जाति की युवती को अनुचित रूप से अपमानित करने पर पुरुष को मृत्यु-दण्ड दिया जाना चाहिए।

कन्यायामसकामायां द्वयाङ्गुलस्यावकर्तनम्।
उत्तमार्या वधस्त्वेव सर्वं संग्रहणं तथा॥ 71॥

हीन अथवा समान वर्ण, जाति तथा स्थिति की कन्या की इच्छा के विरुद्ध उसकी योनि को अंगुलि से अथवा लिंग से आहत करने वाले पुरुष के हाथ की दो अंगुलियां काट डालनी चाहिए। अपने से उन्नत वर्ण-जाति की स्त्री से बलात्कार करने वाले से न केवल उसकी सारी सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए, अपितु उसे मृत्यु-दण्ड भी देना चाहिए।

सकामायां तु कन्यायां सङ्गमे नास्त्स्यतिक्रमः।
किन्त्वलंकृत्य सत्कृत्य स एवैनां समुद्वहेत्॥ 72॥

कन्या की इच्छा एवं सहमति से उससे मैथुन करने वाला पुरुष दोषी नहीं माना जाता। हां, पुरुष को अपने द्वारा भोगी गयी कन्या को समुचित आदर देते हुए उसे सजा-धजा कर उससे विवाह कर लेना चाहिए।

टिप्पणी—विवाह-पूर्व प्रेमी से यौन-सम्बन्ध रखने वाली कन्या को तो

असंयत एवं उच्छृंखल ही कहा जायेगा। प्रेमान्ध व्यक्तियों की बात छोड़ दें, तो ऐसी स्त्रियों को युवक प्रायः अपने विलास की सामग्री समझते हैं, उन्हें अपनी अर्धांगिनी कदापि नहीं बनाते।

माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा॥ 73॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या॥ 74॥
असामान्यतमां गत्वा गुरुतल्पग उच्यते।
शिश्नस्योत्कर्तनं तस्य नान्यो दण्डो विधीयते॥ 75॥

निम्नोक्त बीस सम्बन्धियों से सम्भोग करने वाले युवक के लिंग को काट देना ही इस पाप का एकमात्र दण्ड है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई दण्ड नहीं है—

सम्बन्धी स्त्रियां हैं—

1. अपने पिता की पत्नी (माता तथा माता से भिन्न अन्य स्त्री, विमाता आदि), 2. माता की भगिनी (मौसी), 3. सासू मां, 4. मामी, 5. पिता की बहिन, बुआ, 6. चाचा की पत्नी या रखैल, 7. शिष्य की स्त्री, 8. बहिन, चाचा, मामा आदि की लड़की, 10. पुत्रवधू, 11. अपनी पुत्री, 12. आचार्य की पत्नी, 13. अपने गोत्र—दूर के चाचा, भाई आदि की बहिन, पुत्री, बहू आदि, 14. शरण में आयी हुई असहाय स्त्री, 15. रानी, 16. संन्यासिनी, 17. दायी—पालन करने वाली अथवा स्तनपान कराने वाली स्त्री, 18. उत्तमर्ण की पतिव्रता स्त्री, 19. अपने वर्ण से भिन्न वर्ण-जाति की स्त्री तथा 20. भाई की पत्नी।

पशुयोनावतिक्रामन् विनेयः स दमं शतम्।
मध्यमं साहसं गोषु तदेवान्त्यावसायिषु॥ 76॥

स्त्री पशुओं की योनि में लिंग-प्रवेश का दण्ड एक सौ पण है। गाय तथा चाण्डाल स्त्री से सम्भोग का मध्यम साहस दण्ड है।

अगम्यागामिनश्चाति दण्डो राज्ञा प्रचोदितः।
प्रायश्चित्तविधानं तु पापानां स्याद् विशोधनम्॥ 77॥

अगम्या—सम्भोग के लिए वर्जित—विमाता, गुरुपत्नी तथा शिष्या आदि—से मैथुन करने वाला, जहां राजा द्वारा दण्डित होता है, वहां उसे अपनी शुद्धि के लिए शास्त्रों में निर्दिष्ट प्रायश्चित्त भी करना होता है। इसके बिना वह जाति से बहिष्कृत माना जाता है।

स्वैरिण्यब्राह्मणी वेश्या दासी निष्कासिनी च या।
गम्याः स्युरानुलोम्येन स्त्रियो न प्रतिलोमतः॥ 78॥

अपने से निम्न अथवा अपने समान वर्ण की निम्नोक्त स्त्रियों से मैथुन करने

वाले को कोई दोष नहीं होता। ऐसी स्त्रियों के अपने से ऊपर के वर्ण से सम्बन्धित होने पर उनसे सम्बन्ध योजना वर्जित होने से दण्डनीय अपराध है—

1. **स्वैरिणी**—ब्राह्मणी से इतर वर्ण—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, जाति की स्त्री।

2. **वेश्या**—देह-व्यापार से आजीविका चलाने वाली स्त्री।

3. **दासी**—धन के व्यय से ख़रीदी गयी स्त्री तथा

4. **निष्कासिता**—दुराचरण अथवा दुर्व्यवहार अथवा सम्बन्धों की विषमता के कारण घर से निकाली गयी महिला।

आस्वेव तु भुजिष्यासु दोषः स्यात् परदारवत्।
गम्या अपि हि नौपेया यत्ताः परपरिग्रहाः॥ 79॥

अपने वर्ण से ऊपर के वर्ण की स्त्रियों—स्वैरिणी, वेश्या, दासी तथा निष्कासिता—के भोग्या होने पर भी निम्न वर्ण वालों को इनसे सम्भोग नहीं करना चाहिए; क्योंकि मूलतः वे अपने पति की सम्पत्ति हैं। अतः उनका उपभोग परदारमगन-जैसा दण्डनीय अपराध है।

अनुत्पन्नप्रजायास्तु पतिः प्रेयाद् यदि स्त्रियाः।
नियुक्ता गुरुभिर्गच्छेद्देवरं पुत्र काम्यया॥ 80॥

सन्तान को उत्पन्न किये बिना मृत पति की विधवा केवल सन्तान-प्राप्ति के लिए, परिवार के वृद्धजनों की अनुमति से, अपने देवर से सम्बन्ध स्थापित कर सकती है।

स च तां प्रतिपद्येत तथैव पुत्रजन्मतः।
पुत्र जाते निवर्तेत संकरः स्यादतोऽन्यथा॥ 81॥

देवर को भाभी से गर्भधारणपर्यन्त ही देह-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, अन्यथा उन दोनों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली सन्तान वर्णसंकर कहलायेगी।

टिप्पणी—वर्णसंकर का अर्थ भिन्न-भिन्न वर्ण के पुरुष और स्त्री के समागम से उत्पन्न होने वाली सन्तान है। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के वीर्य तथा क्षत्रिया के गर्भ से अथवा क्षत्रिय के वीर्य तथा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान वर्णसंकर कहलायेगी। अतः यदि भाभी के गर्भवती हो जाने के उपरान्त भी देवर उसके साथ सम्भोग में प्रवृत्त रहता है, तो वह अधम आचरण करता है और उत्पन्न सन्तान न पिता की और न ही देवर की कहला सकती है। अतः सन्तान के भविष्य के लिए स्त्री (भाभी) को आत्मसंयम अपनाने की बात कही गयी है।

घृतेनाभ्यज्य गात्राणि तैलेनाविकृतेन वा।
मुखान्मुखं परिहरन् गात्रैर्गात्राण्यसंस्पृशन्॥ 82॥

भाभी से सम्भोग करने वाले देवर को सम्भोग से पूर्व अपने शरीर को घी-तेल आदि से भली प्रकार चुपड़ लेना चाहिए। लिंग-प्रवेश-मैथुन आदि के समय

न तो उसे भाभी के शरीर को मसलना चाहिए और न ही दोनों को एक-दूसरे का चुम्बन करना चाहिए। दोनों को मैथुन को यान्त्रिक क्रिया के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए।

टिप्पणी—इस सम्बन्ध में बोधायन सूत्रकार का कथन सर्वथा उपयुक्त ही है— **मुखचुम्बनगात्रमर्दनादिभिः पुनः पुनः सम्भोगाशा पुत्रजन्मान्तरमपि वर्धते, तत्परिहाराय मुखचुम्बनादि निषिध्यते। इति मन्मतिः।**

अर्थात् मुखचुम्बन तथा शरीर-मर्दन से सम्भोग की इच्छा बढ़ती है, जिसे पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त भी रोक पाना सम्भव नहीं होता, मेरे विचार में इसी कारण से कदाचित् इन क्रियाओं का निषेध किया गया है।

टिप्पणी—हमें तो यह समझ नहीं आता कि सम्भोग-क्रिया में पुरुष द्वारा स्त्री के अंगों—स्तन, जंघा तथा जघन आदि—को स्पर्श-आलिंगन तथा मुख-चुम्बन आदि से बचना कैसे सम्भव है? दो स्वस्थ युवक-युवती का एक बार सम्भोग-सुख को भोगने पर उसे सहसा छोड़ पाना भी कैसे सम्भव है? हमें तो लगता है कि दोनों पुत्रोत्पत्ति को अपने मिलने में बाधक मानकर सन्तान-प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील ही नहीं होंगे। यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि यौन-सुख का परित्याग असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। स्त्री में मातृत्व की इच्छा अवश्य होती है, परन्तु यौन-सुख-भोग की इच्छा उससे भी अधिक प्रबल होती है। जब स्त्री को यह ज्ञात है कि उसके गुरुजन उसके गर्भधारण करते ही उसके नियुक्त देवर से मिलने नहीं देंगे, तो वह गर्भधारण को बहुत समय तक टालती जायेगी। इसके अतिरिक्त उनके गुप्त रूप से मिलने की सम्भावना को भी नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार हम तो प्राचीनकाल में बहुप्रचलित नियोग प्रथा को सर्वथा निर्दोष नहीं मानते। पुत्र-प्राप्ति को ही महत्त्वपूर्ण मानने का अर्थ स्त्री के व्यक्तित्व को कुण्ठित करना तो नहीं होना चाहिए। उसे केवल पुत्र जनने की मशीन तो नहीं बना देना चाहिए।

कुले तदवशेषे हि सन्तानार्थं न कामतः।
स्त्रियं पुत्रवतीं वन्द्यां नीरजस्कामनिच्छतीम्॥ 83॥

परिवार में उपयुक्त पुरुष के अभाव में गुरुजनों को किसी अन्य उपयुक्त व्यक्ति—भले ही आयु में छोटा पुरुष, बड़ी आयु की स्त्री के लिए अथवा आयु में बड़ा, छोटी आयु की स्त्री के लिए—को विधवा को पुत्रवती बनाने के लिए नियुक्त करना चाहिए। जब तक स्त्री रजस्वला न हो, अपनी वंश-परम्परा को चलाने के लिए देवर आदि किसी पर-पुरुष से मिलन को सहमत न हो तथा शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ न हो, तब तक नियुक्त पुरुष को उसे मैथुन के लिए निमन्त्रित नहीं करना चाहिए। कामवासना की तृप्ति के लिए सम्भोग में प्रवृत्त होने वाले स्त्री-पुरुष नरकगामी होते हैं।

न गच्छेद् गर्भिणीं निन्द्यामनियुक्तां च बन्धुभिः।
अनियुक्ता तु या नारी देवराज्जनयेत सुतम्॥ 84॥
जारजातमरिक्थीयं तमाहुर्ब्रह्मवादिनः।
तथानियुक्तो यो भार्यां यवीयाज्ज्यायसो व्रजेत्॥ 85॥

देवर आदि को गर्भवती, लोकनिन्दित तथा बन्धुओं द्वारा अननुमत (अनुमति न दी गयी) अपनी भाभी से कदापि सम्भोग नहीं करना चाहिए। गुरुजनों द्वारा अनियुक्त देवर से पुत्रोत्पन्न करने वाली स्त्री का पुत्र 'जारज'—अवाञ्छनीय व्यक्ति के वीर्य से उत्पन्न—कहलाता है। उसे न तो पिण्डतर्पण आदि देने का और न ही उत्तराधिकारी के रूप में पैतृक सम्पत्ति पाने का अधिकार मिलता है। ऐसा पुत्र भले ही ज्येष्ठ द्वारा छोटी भाभी के उदर से अथवा कनिष्ठ भ्राता द्वारा बड़ी भाभी के उदर से उत्पन्न हुआ हो, दोनों की समान स्थिति है, अर्थात् दोनों ग्राह्य नहीं होते। ऐसा ब्रह्मवादियों का निश्चित मत है। नियोग से उत्पन्न पुत्र तभी ग्राह्य होता है, जब परिवार के प्रामाणिक वृद्धजनों ने दोनों को इस मिलन की पूर्व-अनुमति दे रखी होती है, अन्यथा यह मिलन दुराचार एवं पाप ही कहलाता है और इस मिलन से उत्पन्न सन्तान का भविष्य अन्धकारमय होता है।

यवीयसो वा यो ज्यायानुभौ तौ गुरुतल्पगौ।
नियुक्तौ गुरुभिर्गच्छेदनुशिष्यात् स्त्रियं च सः॥ 86॥

अग्रज तथा अनुज भ्राता द्वारा अपनी भाभी (छोटे भाई अथवा बड़े भाई की पत्नी) के साथ सम्भोग गुरुपत्नी के साथ सम्भोग के समान जघन्य अपराध है। सन्तान-प्राप्ति के लिए परिवार के वृद्धों द्वारा ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ भ्राता को नियुक्त करना—भाभी के साथ समागम की अनुमति देना—तो मात्र एक आपतकालीन व्यवस्था है, निस्सन्तान मृत पुरुष के पिण्डदान, तर्पण आदि के लिए उसके क्षेत्र में उसके उत्तराधिकारी की व्यवस्था का प्रयास है। अतः इसे धार्मिक अनिवार्यता के रूप में ही देखना चाहिए।

पूर्वोक्तेन विधानेन स्नुषां पुंसवने शुचिः।
सकृदागर्भाधानाद्वा कृते गर्भे तथैव सा॥ 87॥

अतः आप्त पुरुषों द्वारा नियुक्त ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ भ्राता को अपनी भाभी से केवल एक बार अथवा गर्भधारणपर्यन्त ही सम्बन्ध रखना चाहिए। उसके उपरान्त तो ज्येष्ठ भ्राता श्वसुर के समान और भ्रातृजाया बहू के समान होती है। इसी प्रकार कनिष्ठ भ्राता पुत्र के समान और भाभी मां के समान होती है। दोनों—स्त्री और पुरुष—को इसी धारणा को लेकर चलना चाहिए।

अतोऽन्यथा वर्तमानः पुमान् स्त्री वापि कामतः।
विनोयौ सुभृशं राज्ञा विप्लवः स्यादतोऽन्यथा॥ 88॥

राजा को स्त्री की गर्भोत्पत्ति (पुत्र-प्राप्ति) के पश्चात् भी भाभी से प्रणय-सम्बन्ध बनाये रखने वाले ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ भ्राता को मृत्युदण्ड देना चाहिए, अन्यथा समाज में अराजकता फैल जायेगी, धर्म-मर्यादा विशृंखलित हो जायेगी और मानव-चरित्र कलंकित हो जायेगा।

ईर्ष्यासूयसमुत्थे तु सम्बन्धे रागहेतुके।
दम्पती विवदीयातां न ज्ञातिषु न राजनि॥ 89॥

परिणय-सूत्र में बंध जाने के उपरान्त पति-पत्नी को आपसी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध अथवा राग आदि के कारण अपने जाति-बन्धुओं तथा राज-पुरुषों के सामने एक-दूसरे को अपमानित नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि किसी कारणवश दोनों को एक-दूसरे के लिए उपयुक्त न समझने पर भी विवाह-बन्धन को दैवी विधान समझकर समझौते का मार्ग अपनाना चाहिए। एक-दूसरे की न्यूनता के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण रखना चाहिए। इसी में गृहस्थ-जीवन की सफलता है।

अन्योन्यं त्यजतोराग: स्यादन्योन्यविरुद्धयोः।
स्त्रीपुंसयोर्निगूढाया व्यभिचारादृते स्त्रियाः॥ 90॥

विवाह के उपरान्त स्त्री-पुरुष के एक-दूसरे से सौमनस्य एवं सौहार्द न बन पाने पर भी, दोनों को एक-दूसरे को सहन करने, दोषों की उपेक्षा करने तथा गुणों को महत्त्व देने का अभ्यास करना चाहिए। यदि स्त्री व्यभिचारिणी अथवा स्वैरिणी नहीं है, तो पुरुष को यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए। किसी साधारण दोष अथवा अपराध अथवा मनमुटाव के कारण पुरुष को स्त्री को छोड़ने का अधिकार नहीं मिल जाता। स्त्री के दुराचारिणी न होने पर, सम्बन्ध-विच्छेद करने पर भी, दोनों को समान रूप से दोषी माना जाता है। समाज दोनों को अपमानित करता है और उन्हें हीन दृष्टि से देखता है।

व्यभिचारे स्त्रियां मौण्ड्यमधः शयनमेव च।
कदन्नं वा कुवासश्च कर्म चावस्करोज्झनम्॥ 91॥

व्यभिचारिणी स्त्री के सम्बन्ध बनाये रखने के आग्रह पर उसे सुधरने के अवसर देने की अवधि में उसका सिर मुंडवा देना चाहिए, उसे रात्रि में धरती पर सोना चाहिए। उसे पहनने के लिए गन्दे वस्त्र और खाने के लिए कुत्सित अन्न देना चाहिए। इसके अतिरिक्त उससे मैला साफ़ करने-जैसे निकृष्ट कार्य कराने चाहिए।

स्त्रीधनभ्रष्टसर्वस्वां गर्भविस्त्रंसिनी तथा।
भर्तुश्च वधमिच्छन्तीं स्त्रियं निर्वासयेत् पुरात्॥ 92॥

स्त्रीधन तथा पुरुष की सम्पत्ति को उजाड़ने वाली, गर्भधारण न कर सकने वाली अथवा बार-बार ओषधि आदि खाकर जान-बूझकर गर्भपात करने वाली तथा पति की हत्या की योजना (विष आदि देकर) बनाने वाली स्त्री को न केवल

घर से, अपितु ग्राम-नगर की सीमा से भी बाहर निकाल देना चाहिए।

अनर्थशीलां सततं तथैवाप्रियवादिनीम्।
पूर्वाशिनीं च या भर्तुः क्षिप्रं निर्वासयेद् गृहात्॥ 93॥

इसी प्रकार नित्य-प्रति कलह-क्लेश करने वाली, प्रतिदिन नये बखेड़े खड़े करके पड़ोसियों के सामने परिवारजनों को अपमानित करने वाली, पति तथा परिवारजनों को सदैव जली-कटी सुनाने वाली, अर्थात् कटुभाषिणी तथा पति के भोजन करने से पूर्व ही भोजन कर लेने वाली स्त्री को घर से निकाल देना चाहिए।

वन्ध्यां स्त्रीजननीं निन्द्यां प्रतिकूलां च सर्वदा।
कामतो नाभिनन्देत कुर्वन्नेवं स दोषभाक्॥ 94॥

वन्ध्या, लड़कियों को ही जनने वाली, समाज में कलंकित तथा पति का अहित-चिन्तन करने वाली स्त्री की सहमति के बिना उससे सम्भोग करने वाला पुरुष दण्डनीय अपराधी होता है।

अनुकूलामवाग्दुष्टा दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्।
त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा॥ 95॥

राजा को निम्नोक्त गुणों से सम्पन्न स्त्री का त्याग करने वाले पुरुष को यथोचित कठोर दण्ड देकर स्त्री को भार्या की मर्यादा पर पुनः स्थापित करना चाहिए, अर्थात् पुरुष को अपनी पत्नी का सम्मान देने के लिए बाध्य करना चाहिए। राज का यह कर्तव्य है कि वह पुरुष को साध्वी एवं निर्दोष स्त्री के साथ अन्याय करने की छूट कदापि न दे तथा मनमानी करने पर पति कहलाने वाले पुरुष को अनुशासन की शिक्षा दे—

1. पति एवं परिवाजनों के सदैव अनुकूल रहने वाली, अर्थात् शालीनता से व्यवहार करने वाली।
2. मधुर एवं शिष्ट भाषण करने वाली।
3. गृहकार्यकुशल।
4. साध्वी, अर्थात् पतिव्रता तथा
5. पुत्रवती।

अज्ञातदोषेणोढा या निर्दोषा नान्यमाश्रिता।
बन्धुभिः साभियोक्तव्या निर्बन्धः स्वयमाश्रयेत्॥ 96॥

विवाह से पूर्व पुरुष के किसी अज्ञात दोष का विवाह के उपरान्त पता चलने पर उस दोष को झेलने अथवा उससे समझौता करने को अप्रस्तुत स्त्री को दूसरे पुरुष का वरण करने के लिए उसके बन्धुओं के पास छोड़ देना चाहिए। बन्धुओं के अभाव में उस स्त्री को स्वयं अपने लिए किसी दूसरे पुरुष की खोज के लिए स्वतन्त्र कर देना चाहिए।

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥ 97॥

निम्नोक्त पांच स्थितियों में स्त्री को वर्तमान पति का परित्याग तथा दूसरे पुरुष के वरण का अधिकार है—

1. पति का सन्तानोत्पादन में असमर्थ होना, अर्थात् उसके शुक्र में सन्तान उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का न होना।

2. पति का असमय में परलोक सिधारना।

3. पति द्वारा गृहत्याग कर विरक्त-संन्यासी बन जाना।

4. पति का नपुंसक सिद्ध होना, अर्थात् उसका यौन-भोग न कर पाना अथवा पत्नी को तृप्त-सन्तुष्ट न कर पाना तथा

5. निन्दित कर्मों के कारण समाज द्वारा अपनी जाति से बहिष्कृत हो जाना।

अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रयेत्॥ 98॥
क्षत्रिया षट् समास्तिष्ठेदप्रसूता समात्रयम्।
वैश्या प्रसूता चत्वारि द्वे वर्षेत्वितरा वसेत्॥ 99॥

पति के विदेश जाने पर उसकी कोई खोज-ख़बर न मिलने पर प्रसूता (सन्तानवती) ब्राह्मणी, क्षत्रिया और वैश्या स्त्री को क्रमशः आठ, छह और चार वर्षों तक उसके लौटने की, सुध-ख़बर देने की तथा निस्सतान ब्राह्मणी, क्षत्रिया और वैश्या को क्रमशः चार, तीन और दो वर्षों तक पति के लौटने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस अवधि तक कुछ भी पता न चलने पर स्त्री दूसरा विवाह करने को स्वतन्त्र है।

न शूद्रायाः स्मृतः काल एष प्रोषितयोषिताम्।
जीवति श्रूयमाणे तु स्यादेष द्विगुणो विधिः॥ 100॥

शूद्रा स्त्री के पति के विदेश जाने पर, उसके लौटने और प्रतीक्षा का कोई समय निर्धारित नहीं है। विदेश गये पति के जीवित होने का निश्चय होने पर वैश्या निर्धारित समय—निस्सन्तान वैश्या के लिए दो वर्ष तथा सन्तानवती वैश्या के लिए चार वर्ष—से दुगुने वर्ष, अर्थात् सन्तानवती शूद्रा को आठ वर्षों तक और सन्तानहीना को चार वर्षों तक अपने पति के लौटने की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

अप्रवृत्तौ तु भूतानां सृष्टिरेषा प्रजापतेः।
अतोऽन्यगमने स्त्रीणामेष दोषो न विद्यते॥ 101

सन्तान के न होने पर आधे समय तक विदेश गये पति की प्रतीक्षा करने के औचित्य का आधार—सन्तान के लिए ही विवाह का किया जाना—है। जब सन्तान ही नहीं है और विदेश गया पति अपने लौटने की खोज-ख़बर ही नहीं देता, तो

फिर सम्बन्ध कैसा? इसी आधार पर स्त्रियों को निर्धारित वर्षों तक प्रतीक्षा के अनन्तर दूसरे पुरुष से सम्बन्ध जोड़ने में कोई दोष नहीं है।

आनुलोम्येन वर्णानां यज्जन्म स विधिः स्मृतः।
प्रातिलोम्येन यज्जन्म स ज्ञेयो वर्णसंकरः॥ 102॥

अनुलोम से उत्पन्न सन्तान, अर्थात् उच्च वर्ण के पुरुष द्वारा समान अथवा निम्न वर्ण की स्त्री से उत्पादित, उदाहरणार्थ, ब्राह्मण के वीर्य से ब्राह्मणी, परन्तु प्रतिलोम—निम्न वर्ण के पुरुष के वीर्य को धारण करने वाली उच्च वर्ण की स्त्री के उदर से उत्पन्न—सन्तान वर्णसंकर (पतित) कहलाती है। उदाहरणार्थ, क्षत्रिय पुरुष के वीर्य और ब्राह्मणी के उदर से उत्पन्न सन्तान अवैध कहलायेगी। अभिप्राय यह है कि भिन्न वर्ण-जाति के स्त्री-पुरुषों की सन्तान के सम्बन्ध में महत्त्व वीर्य का है, क्षेत्र का नहीं।

अनन्तरः स्मृतः पुत्रः एवं एकान्तरस्तथा।
द्व्यन्तरश्चानुलोम्येन तथैव प्रतिलोमतः॥ 103॥

अनुलोम क्रम से ब्राह्मण के वीर्य से चारों वर्णों की स्त्रियों के उदर से उत्पन्न चारों पुत्र सवर्ण कहलाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय के तीन, वैश्य के दो और शूद्र का एक ही पुत्र सवर्ण होता है। इसी प्रकार प्रतिलोम क्रम से शूद्र के तीन पुत्र, वैश्य के दो पुत्र व क्षत्रिय का एक पुत्र असवर्ण होता है।

अतः पारशवश्चैव निषादश्चानुलोमतः।
अम्बष्ठो मागधश्चैव क्षत्ता च क्षत्रियात्मजः॥ 104॥

अनुलोम क्रम से उच्च वर्ण (ब्राह्मण) द्वारा निम्न वर्ण की स्त्रियों—क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा—से उत्पन्न किये गये पुत्र क्रमशः उग्र, पाराशव तथा निषाद कहलाते हैं, अर्थात् ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र 'उग्र' कहलाता है। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय द्वारा वैश्या स्त्री से उत्पादित पुत्र 'पाराशव' कहलाता है तथा ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य द्वारा शूद्रा स्त्री से जना पुत्र 'निषाद' कहलाता है।

इसी प्रकार प्रतिलोम क्रम से 'अम्बष्ठ,' 'मागध' और 'छत्ता' (क्षत्रियवर्ण) कहलाते हैं, अर्थात् शूद्र के वीर्य और वैश्या अथवा क्षत्रिया अथवा ब्राह्मणी स्त्री के उदर से उत्पन्न बालक 'अम्बष्ठ' कहलाता है, वैश्य के वीर्य और क्षत्रिया अथवा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न बालक 'मागध' कहलाता है तथा क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पादित बालक 'छत्ता' कहलाता है।

आनुलोम्येन तत्रैका द्वौ ज्ञेयौ प्रतिलोमतः।
क्षत्राद्याः प्रतिलोमाः स्युरनुलोमास्त्विमे स्मृताः॥ 105॥

प्राचीन दो व्यवस्थाओं—1. उच्च वर्ण की स्त्री, उच्च अथवा समान वर्ण के अतिरिक्त किसी अन्य निम्न वर्ण की भोग्या बन ही नहीं सकती तथा 2. अपने से

एक वर्ण नीचे की स्त्री से सम्बन्ध जोड़ना उचित होने—के आधार पर प्रत्येक वर्ण के पुरुष का अनुलोम से एक-एक पुत्र उत्पन्न होगा और प्रतिलोम से दो-दो पुत्र उत्पन्न होंगे। इस दृष्टि से छत्ता आदि को प्रतिलोम से उत्पन्न माना जायेगा। निम्न वर्ण के पुरुषों द्वारा उच्च वर्ण की स्त्रियों से उत्पादित सन्तान 'अनुलोमज' कहलाती है।

ससंकराः श्वपाकाघास्तेषां त्रिःसप्त वै मताः।
सवर्णो ब्राह्मणोपुत्रः क्षत्रियायामनन्तरः॥ 106॥

संकर पुरुष के वीर्य और संकर स्त्री के उदर से जन्म लेने वाला बालक 'श्वपाक' कहलाता है। इनकी तीन अथवा सात जातियां हैं। इसी प्रकार उग्र पुरुष द्वारा क्षत्ता से जनित बालक 'श्वपाक' तथा वैदेहक द्वारा अम्बष्ठा स्त्री से जनित बालक 'सवर्ण' होता है, परन्तु ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया से जनित बालक को सवर्ण बनाने के लिए उसका अभिषेक करना पड़ता है।

अम्बष्ठोग्रौ तथा पुत्रावेवं क्षत्रियवैश्ययोः।
एकान्तरस्तु चाम्बष्ठो वैश्यायां ब्राह्मणात् सुतः॥ 107॥

इसी प्रकार क्षत्रिय के वीर्य और वैश्या स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बालक 'अम्बष्ठ' और वैश्य के वीर्य और शूद्रा स्त्री के गर्भ से उत्पन्न बालक 'उग्र' कहलाता है।

टिप्पणी—मनु आदि अन्य स्मृतिकारों का मत नारद से कुछ भिन्न है। उनके अनुसार—अनुलोम से, अर्थात् क्षत्रिय द्वारा वैश्या से उत्पन्न पुत्र 'अम्बष्ठ', वैश्य द्वारा क्षत्रिया से उत्पन्न 'मागध' और शूद्र के वीर्य और क्षत्रिया के उदर से उत्पन्न 'क्षत्रा' अथवा 'क्षत्ता' कहलाते हैं।

अम्बष्ठः आनुलोम्येन क्षत्रियस्य वैश्यायां जातः। मागधो वैश्यात् क्षत्रियायां जातः। क्षत्ता शूद्रात् क्षत्रियायां जातः।

शूद्रायां क्षत्रियात्तद्वन्निषादो नाम जायते।
शूद्रा पारशवं सूते ब्राह्मणाद्व्यन्तरं सुतम्॥ 108॥

क्षत्रिय द्वारा शूद्रा स्त्री से प्राप्त बालक 'निषाद' तथा ब्राह्मण द्वारा शूद्रा स्त्री से प्राप्त बालक 'पारशव' कहलाता है। शूद्रा के दोनों पुत्रों में भी यही अन्तर है, अर्थात् शूद्रा ने ब्राह्मण के वीर्य से गर्भधारण किया है, तो उत्पन्न पुत्र 'पारशव' कहलायेगा और यदि उसने क्षत्रिय के वीर्य से गर्भ धारण किया है, तो उत्पन्न होने वाला बालक 'निषाद' कहलायेगा।

आनुलोम्येन वर्णानां पुत्रा ह्येते प्रकीर्तिताः।
सूतश्च मागधश्चैव सुतावायोगवस्तथा॥ 109॥

इसी प्रकार अनुलोम सम्बन्ध, अर्थात् उच्च वर्ण के पुरुष के वीर्य से और निम्न वर्ण की स्त्री के उदर से जन्म लेने वाले 'सूत,' 'मागध' तथा 'अयोगव' अदि कहलाते हैं।

प्रातिलोम्येन वर्णानां क्षत्तृवैदेहकावपि।
अनन्तरः स्मृतः सूतो ब्राह्मण्यां क्षत्रियात् सुतः॥ 110॥

इसी सन्दर्भ में प्रतिलोम सम्बन्ध—निम्न वर्ण के पुरुष द्वारा उच्च वर्ण की स्त्री के उदर से उत्पन्न—बालक 'क्षत्ता' और 'वैदेह' कहलाते हैं। क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी के उदर से प्राप्त बालक 'अनन्तर' कहलाता है।

मागधायोगवौ तद्वद् द्वौ पुत्रौ वैश्यशूद्रयोः।
ब्राह्मण्येकान्तरं वैश्यात् सूते वैदेहकं सुतम्॥ 111॥

वैश्य द्वारा क्षत्रिया से उत्पन्न बालक 'मागध' और शूद्र द्वारा वैश्या से उत्पन्न बालक 'अयोगव' कहलाता है। वैश्य द्वारा ब्राह्मणी से उत्पन्न बालक 'एकान्तर' होता है, उसका दूसरा नाम 'वैदेहक' भी है।

क्षत्तारं क्षत्रिया शूद्रात् पुत्रमेकान्तरं तथा।
द्व्यन्तरः प्रातिलोम्येन पापिष्ठः संकरे सति॥ 112॥

शूद्र के वीर्य को धारण करने वाली क्षत्रिया 'क्षत्ता' नामक एकान्तर पुत्र को जनती है। प्रतिलोम्य में संकर होने पर, अर्थात् उस क्षत्ता द्वारा उच्च वर्ण की स्त्री को गर्भवती बनाने पर उत्पन्न बालक 'पापिष्ठ' कहलाता है।

चाण्डालो जायते शूद्राद् ब्राह्मणी यत्र मुह्यति।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण स्त्रियो रक्ष्यास्तु संकरात्॥ 113॥

अपनी मर्यादा की रक्षा न करने वाली, अर्थात् शूद्र से सम्भोग कराने वाली ब्राह्मणी 'चाण्डाल' को जन्म देती है।

इस प्रकार उच्च वर्ण के पुरुषों और निम्न वर्ण की स्त्रियों अथवा निम्न वर्ण के पुरुषों और उच्च वर्ण की स्त्रियों के समागम से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है, जो सामाजिक विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है। अतः राजा को इस प्रकार के सम्बन्धों को निरुत्साहित करने का वातावरण तैयार करना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का द्वादश प्रकरण समाप्त॥

13. दाय-भाग

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्प्यते।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः ॥ 1 ॥

पुत्रों द्वारा पैतृक-सम्पत्ति का विभाजन 'दाय-भाग' कहलाता है। विद्वानों ने इसे विवादास्पद व्यवहार माना है।

टिप्पणी—याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीकाकार के अनुसार—धन के मूल स्वामी के साथ रक्त सम्बन्ध के कारण स्वामी के धन पर सम्बन्धी के अधिकार के हो जाने का नाम 'दाय' है। इसके दो रूप-भेद हैं—अप्रतिबन्ध तथा सप्रतिबन्ध। दादा का पोते को तथा पिता का पुत्र को मिलने वाला धन अप्रतिबन्ध दाय है। इसके विपरीत चाचा तथा भाई आदि के पुत्र के रूप में, भावी स्वामी के न होने पर, दूसरों को मिलने वाला धन सप्रतिबन्ध है। विभाग का अर्थ है—अनेक स्वामियों का एक साथ बैठकर निर्धारित नियमों के आधार पर पैतृक धन की व्यवस्था का निर्णय लेना—

''**तत्र दायशद्बेन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते। स च द्विविधः अप्रतिबन्धः सप्रतिबन्धश्च। तत्र पुत्राणां पौत्राणां च पुत्रत्वेन पौत्रत्वेन च पितृधनं पितामहधनं च स्वं भवतीत्यप्रतिबन्धो दायः। पितृव्यभ्रातादीनां च पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धो दायः। विभागो नाम द्रव्यसमुदाय विषयाणामनेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।**''

यह विभाजन कब व कैसे करना चाहिए—यह विवाद का विषय है। सामान्यतः मूल स्वामी के मर जाने पर, संन्यास ग्रहण कर लेने पर अथवा स्वामित्व का परित्याग किये जाने पर विभाजन का प्रश्न उत्पन्न होता है। इसी आधार पर दाय शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—स्वामी के उपरत होने पर, उसके द्रव्य का दूसरे के अधिकार में चले जाने का नाम दाय है—''स्वाम्युपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दाय शब्दः।''

पितर्यूर्ध्वं गते पुत्रा विभजेरन्धनं क्रमात्।
मांतुर्दुहितरोऽभावे दुहितॄणां तदन्वयः ॥ 2 ॥

पिता के परलोक सिधारने पर पुत्रों को क्रमानुसार बांटकर लेना चाहिए।

माता के दिवंगत होने पर, उसके स्त्रीधन पर उसकी लड़कियों का और लड़कियों के न होने पर धेवतों—लड़कियों की सन्तान—का अधिकार होता है।

टिप्पणी—यहां 'क्रमात्,' अर्थात् क्रमानुसार शब्द एक विशेष प्रयोजन लिये हुए है। स्मृतिकारों ने औरस, क्षेत्रज आदि बारह प्रकार के पुत्र माने हैं, जिसका अर्थ, पैतृक सम्पत्ति पर सर्वप्रथम अधिकार औरस का, उसके पश्चात् क्षेत्रज का और उसके पश्चात् अन्यान्यों का है, अर्थात् यहां क्रमशः चलना है। हां, दिवंगत पुरुष के इन बारह प्रकार के पुत्रों में, किसी एक के भी न होने पर, उसकी सम्पत्ति पर अन्यान्य सपिण्डी, सगोत्री आदि को अधिकार मिलता है, अन्यथा कदापि नहीं।

मातुर्निवृत्ते रजसि दत्तासु भगिनीषु च।
निवृत्ते वापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे॥ 3॥

निम्नोक्त परिस्थितियों में पिता के जीवनकाल में उसकी इच्छा से (किसी दबाव में आकर किया अथवा कराया गया विभाजन अवैध हो जाता है।) पुत्र विभाजन कर सकते हैं—

1. माता की रजोनिवृत्ति हो जाना, अर्थात् अन्य सन्तान के उत्पन्न होने की किसी सम्भावना का समाप्त हो जाना।

2. सभी बहिनों (भाइयों का भी) का विवाहित हो जाना।

3. पिता का अपनी पत्नी के साथ सम्भोग से उपरत हो जाना तथा

4. पिता द्वारा किसी अन्य स्त्री की स्पृहा न करना, अर्थात् पुनर्विवाह करने की अथवा रखैल बनाने की इच्छा का न होना।

इन परिस्थितियों में पुत्रों के द्वारा किसी आवश्यकता को देखते हुए पिता के जीवनकाल में, उसकी प्रसन्नता से, उसकी सम्पत्ति का विभाजन किया जा सकता है।

पितैव वा स्वयं पुत्रान्विभजेद्वयसि स्थितः।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन यथा वास्य मतिर्भवेत्॥ 4॥

पुत्रों की किसी मांग, अनुरोध आदि के न होने पर पिता अपने जीवनकाल में अपनी इच्छा से अपनी सम्पत्ति का विभाजन करने को स्वतन्त्र है। वह चाहे, तो बड़े बेटे को कुछ अधिक भाग दे सकता है। सत्य तो यह है कि वह अपने पुत्रों को अपनी इच्छानुसार न्यूनाधिक देने को पूर्ण स्वतन्त्र है।

विभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता।
भ्राता शक्तः कनिष्ठो वा शक्त्यपेक्षाः कुले श्रियः॥ 5॥

पिता के परलोक सिधारने पर पैतृक सम्पत्ति का भाइयों में विभाजन अनिवार्य नहीं है। ज्येष्ठ भ्राता भी पिता के समान परिवार का मुखिया बनकर, परिवार के सभी सदस्यों के भरण-पोषण का दायित्व संभाल सकता है। ज्येष्ठ भ्राता के स्थान

पर इस दायित्व को छोटा भाई भी ले सकता है; क्योंकि दायित्व का निर्वहण आयु की अपेक्षा सामर्थ्य पर निर्भर है। समर्थ व्यक्ति ही परिवार में सुख-समृद्धि ला सकता है। अत: कोई भी समर्थ भाई—ज्येष्ठ, मध्यम अथवा कनिष्ठ—परिवार को संयुक्त बनाये रख सकता है। सभी भाइयों के साथ रहने को सहमत होने पर तथा एक-दूसरे से सन्तुष्ट होने पर विभाजन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत्।
त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादी यश्च पैतृकः ॥ 6 ॥

निम्नोक्त चार प्रकार के धन अविभाज्य हैं—एक भाई से दूसरे भाई इस प्रकार के धन के विभाजन की मांग नहीं कर सकते—

1. शौर्य से अर्जित धन—मल्लयुद्ध, धनुर्विद्या अथवा अन्य किसी प्रकार के साहसपूर्ण कार्य से पुरस्कार, पारितोषिक, उपहार तथा वृत्ति आदि के रूप में प्राप्त धन।

आजकल की भाषा में क्रिकेट, हॉकी तथा *चैस* (शतरंज) आदि खेलों में विशिष्टता दिखाने पर मिलने वाला विदेशी धन तथा अर्जुन पुरस्कार आदि के साथ जुड़ा धन।

2. भार्याधन—स्त्री द्वारा अपने मायके से लायी गयी चल-अचल सम्पत्ति तथा उसके द्वारा निजी व्यापार अथवा नौकरी आदि से अर्जित धन।

मनु, याज्ञवल्क्य आदि के स्मृति-ग्रन्थों में निम्नोक्त छह प्रकार के धन को स्त्रीधन कहा गया है—

(i) विवाह में दहेज के रूप में माता-पिता से प्राप्त धन।

(ii) विवाह के उपरान्त विदाई के समय स्त्री के जाति-बन्धुओं द्वारा उसे दिया गया धन।

(iii) विवाह के उपरान्त घर आने पर वर के परिवारजनों द्वारा अपनी नववधू को अपनी प्रसन्नता से दिया गया धन।

(iv) माता-पिता, भाइयों और जाति-बन्धुओं से प्राप्त होने वाला धन।

(v) विवाह के उपरान्त समय-समय पर प्रसन्न हुए पति से प्राप्त धन तथा

(vi) विवाह के उपरान्त स्त्री के भाई, बहिन आदि के विवाह, गृहप्रवेश आदि विशिष्ट मांगलिक अवसरों पर माता-पिता द्वारा गुप्त अथवा प्रकट रूप में दिया गया धन।

3. विद्या-धन—विद्या-प्राप्ति के उपरान्त सेवा-कार्य, पुस्तक लेखन अथवा निजी व्यवसाय—*प्राइवेट प्रैक्टिस,* डॉक्टर, वकील, *चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट,* ज्योतिषी तथा *आर्किटैक्ट* आदि से प्राप्त धन तथा

4. पिता द्वारा अपनी प्रसन्नता से अपनी सम्पत्ति में से दिया गया भाग।

मात्रा च स्वधनं दत्तं यस्मै स्यात् प्रीतिपूर्वकम्।
तस्याप्येष विधिर्दृष्टो मातापि हि यथा पिता॥ 7॥

उपर्युक्त चार प्रकार के धन के समान स्त्रीधन के रूप में प्राप्त एवं सुरक्षित अपनी सम्पत्ति को माता अपनी प्रसन्नता से अपने किसी भी बेटे को सौंपने को स्वतन्त्र है। दूसरे भाई माता द्वारा प्रदत्त उस धन के विभाजन की मांग भी नहीं कर सकते; क्योंकि पिता के समान ही माता को भी अपनी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी को चुनने का पूर्ण अधिकार है।

मध्यग्न्यध्यावहनिकं भर्तुदायस्तथैव च।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ 8॥

देवर्षि नारद ने निम्नोक्त छह प्रकार का स्त्रीधन अविभाज्य बताया है—

1. विवाह-वेदी पर संकल्पपूर्वक माता-पिता द्वारा प्रदत्त।
2. ससुराल में आने पर नव-वधू को प्राप्त धन।
3. अपने पति से प्राप्त धन तथा
4—6. भ्राता, माता और पिता द्वारा प्राप्त धन।

स्त्रीधनं तदपत्यानां भर्तुगाम्यप्रजासु तु।
ब्राह्मादिषु चतुष्वाहः पितृगामीतरेषु च॥ 9॥

स्त्रीधन पर सर्वप्रथम उसकी सन्तान का अधिकार है। सन्तान के अभाव में चार प्रकार—ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव—के विवाहों में से किसी एक के होने पर निस्सन्तान स्त्री के स्त्रीधन पर उसके पति का अधिकार है। सन्तान के न होने पर तथा विवाह के भी उपर्युक्त चार प्रकारों में से किसी एक के न होने पर स्त्रीधन पर उसके मायके वालों का अधिकार होता है।

कुटुम्बं विभृयाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः।
भागं विद्याधनात्तस्मात् स लभेताश्रुतोऽपि सन्॥ 10॥

यदि किसी भाई ने पैतृक धन की सहायता के बिना अपनी प्रतिभा और योग्यता से धन अर्जित किया है और संयोग से उसका भाई अविद्वान् रह गया है, तो विद्वान् भाई अपने अविद्वान् भाई को अपने विद्या से अर्जित सम्पत्ति में से कुछ देने अथवा न देने को पूर्ण स्वतन्त्र है।

वैद्योऽवैद्याय नाकामो दद्यादंशं स्वतो धनात्।
पित्र्यं द्रव्यं समाश्रित्य न चेत्तेन तदाहृतम्॥ 11॥

इसके विपरीत यदि विद्या-प्राप्ति के लिए गये भाई के परिवार का भरण-पोषण अथवा विद्या-प्राप्ति-काल में अपने भाई के भरण-पोषण का दायित्व निभाने वाले भाई के अविद्वान् रह जाने पर भी विद्वान् भाई द्वारा विद्या से अर्जित धन में भाग पाने का उसे अधिकार है।

द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता।
समांशभागिनी माता पुत्राणां स्यान्मृते पतौ॥ 12॥

अपने जीवनकाल में, अपनी सम्पत्ति का, अपने पुत्रों में विभाजन करने वाला अपने लिए दो भाग सुरक्षित रख सकता है। पति की मृत्यु के उपरान्त स्त्री को पति की सम्पत्ति में से पुत्रों के बराबर एक भाग मिलता है।

ज्येष्ठायांशोऽधिको देयः कनिष्ठायावरः स्मृतः।
समांशभाजः शेषाः स्युरदत्ता भगिनी तथा॥ 13॥

विभाजन की एक व्यवस्था यह भी है कि ज्येष्ठ भाई को ज्येष्ठ भाग, मध्यम भाई को मध्यम भाग तथा शेष भाइयों को समान भाग दिया जाता है। इस प्रकार के विभाजन में अविवाहित भगिनी का विवाह सम्पन्न करने के लिए एक भाग अलग रख दिया जाता है।

क्षेत्रजेष्वपि पुत्रेषु तद्वज्जातेषु धर्मतः।
वर्णावरेष्वंशहानिरूढाजातेष्वनुक्रमात् ॥ 14॥

धर्मपूर्वक विभिन्न वर्णों की एकाधिक स्त्रियों से क्षेत्रज आदि पुत्रों के होने पर वर्णों की ऊंच-नीच के अनुसार अंश-हानि होती है। उदाहरणार्थ, एक ब्राह्मण चारों वर्णों की चार स्त्रियों से धर्मपूर्वक विवाह कर सकता है और चारों से एक-एक पुत्र है, तो इस स्थिति में पुरुष को अपनी सम्पत्ति के दस भाग करके चार भाग ब्राह्मणी के पुत्र को, तीन भाग क्षत्रिया के पुत्र को, दो भाग वैश्या के पुत्र को और एक भाग शूद्रा के पुत्र को देना चाहिए।

इसके अतिरिक्त एक ही वर्ण की एकाधिक स्त्रियों के होने पर और सभी स्त्रियों के पुत्रवती होने पर सम्पत्ति का विभाजन विवाह-क्रम से करना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक राजपुरुष ने तीन क्षत्रिया स्त्रियों से विवाह किया है और तीनों के दो-दो पुत्र हैं, तो उसे अपनी सम्पत्ति के नौ भाग करके सर्वप्रथम विवाहिता को चार भाग, दूसरे स्थान पर विवाहिता को तीन भाग और सबसे अन्त में विवाहिता को दो भाग देने चाहिए। अब उन स्त्रियों के पुत्रों को आपस में उस धन के बराबर भाग लेने का अधिकार है। इस प्रकार बहुविवाह की स्थिति में विभाजन का एक आधार वर्ण है और दूसरा आधार वरीयता है।

पित्रैव तु विभक्ता ये हीनाधिकसमैर्धनैः।
तेषां स एव धर्मः स्यात् सर्वस्य हि पिता प्रभुः॥ 15॥

पुत्रों को अपने पिता द्वारा प्रदत्त अधिक अथवा न्यून अथवा समान धन को अन्तिम रूप से मान्य करके ग्रहण करना चाहिए। उस पर आपत्ति अथवा आक्षेप नहीं करना चाहिए; क्योंकि पिता को यह सब करने का पूरा-पूरा अधिकार है।

व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः।
अन्यथाशास्त्रकारौ च न विभागे पिता प्रभुः॥ 16॥

निम्नोक्त विकारों से ग्रस्त पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति का किया गया विभाजन अन्तिम एवं मान्य नहीं होता—1. रोग-ग्रस्त, 2. स्वभाव से क्रोधी और चिड़चिड़ा, 3. विषयी—मदिरासेवन, द्यूत-क्रीड़ा तथा वेश्यागमन आदि विषयों में आसक्त अथवा किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त तथा 4. शास्त्र-मर्यादा का पालन न करने वाला।

कानीनश्च सहोढश्च गूढायां यश्च जायते।
तेषां वोढा पिता श्रेयस्ते च भागहराः स्मृताः ॥ 17 ॥

निम्नोक्त तीन प्रकार के पुत्रों वाली स्त्री, जिस भी पुरुष से विवाह करती है, वे बालक उसकी सम्पत्ति में से अपना भाग पाने के अधिकारी होते हैं, **1. कानीन**—अविवाहिता कन्या द्वारा जना गया, **2. सहोढ़**—पूर्व से गर्भवती स्त्री का विवाह हो जाने के उपरान्त उत्पन्न तथा **3. गूढ़ज**—गुप्त रूप से जना।

टिप्पणी—'विवाह रत्नाकर' ग्रन्थ के लेखक तथा मनु, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि स्मृतिकारों के अनुसार—नाना के पुत्रहीन होने पर 'कानीन' और 'सहोढ़' पुत्रों पर उस (नाना) का ही अधिकार होता है। नाना के पुत्रवान् होने पर उन पुत्रों पर कन्या से विवाह करने वाले का अधिकार होता है। दोनों—नाना (कन्या के पिता) और कन्या से विवाह करने वाले के निपूता होने पर उन दोनों प्रकार के पुत्रों पर दोनों का समान अधिकार है—

"अत्रापुत्रो यदि मातामहस्तदा तस्य पुत्रः कानीनः सहोढश्च। सपुत्रश्चेत्तदा वोढुः उभयोरपुत्रत्वे चोभयोरिति पारिजातः।"

किन्हीं स्मृतिकारों ने वाग्दत्ता, परन्तु अविवाहिता कन्या के गर्भवती हो जाने और विवाह के उपरान्त जन्म दिये जाने वाले पुत्र को कानीन माना है। दोनों में एक अन्य अन्तर यह माना है कि कानीन के पिता का नाम ज्ञात नहीं होता और सहोढ़ के पिता का नाम ज्ञात होता है। अभिप्राय यह है कि वह अपने पिता—गर्भवती स्त्री से विवाह करने वाले—का ही पुत्र होता है। दोनों अपने पर संयम न रख पाने के कारण विवाह से पूर्व रति-भोग में प्रवृत्त हो जाते हैं। कन्या गर्भवती हो जाती है और पुरुष इस गर्भ को अपना ही रक्त जानकर सगर्भा से विवाह कर लेता है।

अज्ञातपितृको यश्च कानीनोऽनूढमातृकः।
मातामहाय दद्यात् स पिण्डं रिक्थं हरेत च ॥ 18 ॥

यदि कानीन पुत्र को जनने वाली कन्या का विवाह नहीं होता और उसका पिता भी उसे ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं होता, अर्थात् वह अपने को प्रकाश में नहीं लाता, तो ऐसा पुत्र नाना का ही पुत्र होता है, वह नाना का ही पिण्डदान करता है और उसकी सम्पत्ति से ही अपना भाग प्राप्त करता है।

जाता ये त्वनियुक्तायामेकेन बहुभिस्तथा।
आरिक्थभाजः सर्वे स्युर्बीजिनामेव ते सुताः ॥ 19 ॥

सन्तान के उत्पन्न करने में असमर्थ पति द्वारा अनियुक्त (अनुमति प्राप्त किये बिना) किसी एक अथवा अनेक पुरुषों के वीर्य को धारण करने वाली स्त्री से उत्पन्न पुत्रों को माता के पति की सम्पत्ति पाने का कोई अधिकार नहीं। वस्तुतः वे अपने पिता के पुत्र न होकर, अपनी मां को गर्भवती बनाने वालों के ही पुत्र होते हैं।

दद्युस्ते बीजिनो पिण्डं माता चेच्छुल्कतोहृता।
अशुल्कोपगतायां तु पिण्डदा वोढुरेव ते॥ 20॥

शुल्क लेकर गर्भवती बनी स्त्री से उत्पन्न पुत्र, स्त्री के पति के पुत्र कहलाते हैं। बिना शुल्क लिये गर्भवती बनायी गयी स्त्री से उत्पन्न पुत्र, अपने जनक के पुत्र होते हैं, माता के पति की सम्पत्ति पर उनका कोई अधिकार नहीं होता।

पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः।
औरसा अपि नैतेंऽशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः॥ 21॥

शुल्क लेकर पुत्रोत्पादन के लिए किसी पुरुष की अंकशायिनी बनने वाली स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों को, अपने पिता (माता के पिता) को पिण्ड देने का और उसकी सम्पत्ति में से भाग पाने का अधिकार होता है। बिना शुल्क लिये पर-पुरुष से जने पुत्रों का अपने जनकों को ही पिण्डदान का तथा उनकी सम्पत्ति से अपना भाग पाने का अधिकार होता है। माता के पति से उनका किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्तान्धपङ्गवः।
भर्तव्याः स्युः कुले चैते तत्पुत्रास्त्वंशभागिनः॥ 22॥

परिवार के निम्नोक्त व असामान्य स्थिति के सदस्यों का पालन-पोषण करना चाहिए और उनकी सामान्य स्थिति के पुत्रों को सम्पत्ति में से यथोचित भाग देना चाहिए—

1. दीर्घकालव्यापी तथा तीव्र कष्ट देने वाले किसी रोग—राजयक्ष्मा, उदरशूल, कैंसर, हृदयरोग, पक्षाघात तथा गुर्दे का क्षरण आदि से आक्रान्त।

2. जड़—अशिक्षित अथवा मन्दबुद्धि।

3. उन्मत्त, मस्तिष्क विकार से ग्रस्त तथा

4. विकलांग—नेत्रविहीन अथवा पंगु अथवा हाथों से काम न कर पाने वाले।

द्विरामुष्यायणा दद्युर्द्वाभ्यां पिण्डोदके पृथक्।
रिक्थादर्धं समादद्युर्बीजिक्षेत्रिकयोस्तथा॥ 23॥

दोनों—वीर्यदान करने वाले और क्षेत्र के स्वामी—के द्वारा अपनाये गये पुत्र को दोनों—जनक और माता के पति के—पिण्डदान का तथा उनकी सम्पत्ति को

पाने का अधिकार है। उनके यदि अन्य पुत्र भी हों, तो ऐसे पुत्र को अपना भाग ही पाने का अधिकार होता है।

संसृष्टानां तु यो भागस्तेषामेव स इष्यते।
अनपत्योंऽशभाग्योऽपि निर्बीजेष्वितरानियात्॥ 24॥

विभक्त होने के उपरान्त पुनः संयुक्त हुए भाइयों में से किसी एक भाई के पुत्रहीन होने पर, उसके भाग पर उसकी पत्नी का अधिकार होता है। पत्नी के भी मरने पर, लड़की-दामाद का उस सम्पत्ति पर अधिकार होता है, परन्तु मृत भाई के निस्सन्तान और पत्नी के भी मर जाने पर, उसके भाग की सम्पत्ति पर सभी भाइयों का समान अधिकार होता है।

भ्रातृणामप्रजाः प्रेयात्कश्चिच्चेत् प्रव्रजेत् वा।
विभजेरन्धनं तस्य शेषास्तु स्त्रीधनं विना॥ 25॥

सन्तान अथवा पुत्रहीन भाई के मर जाने पर अथवा उसके संन्यासी हो जाने पर उसके स्त्रीधन को छोड़कर शेष भाग को सभी भाइयों को बराबर बांट लेना चाहिए।

भरणं चास्य कुर्वीरन् स्त्रीणामाजीवितक्षयात्।
रक्षन्ति शय्यां भर्तुश्चेदाच्छिन्द्युरितरासु च॥ 26॥

मृत भाई की साध्वी एवं आचारपरायण पत्नी का जीवनपर्यन्त भरण-पोषण करना, उसका भाग पाने वाले भाइयों का नैतिक एवं वैधिक (क़ानूनी) दायित्व है। हां, स्त्री के कुलटा होने पर तो उसके पास के धन को भी छीन लेना चाहिए तथा उसे घर से बाहर निकाल देना चाहिए।

या तस्य दुहिता तस्याः पित्र्येंऽशो भरणे मतः।
वासंस्कारं भजेरंस्तां परतो विभृयात् पतिः॥ 27॥

मृत भाई (अथवा विधवा भाभी) की लड़की आदि के भरण-पोषण तथा विवाह आदि संस्कार पर होने वाला व्यय, पैतृक-सम्पत्ति में उसके भाग से पृथक्-सुरक्षित रखना चाहिए। विवाह से पूर्व भतीजी की रक्षा और उसके भरण-पोषण का दायित्व उसके चाचाओं पर होता है। विवाह के उपरान्त इस दायित्व को उसका पति ही वहन करता है।

मृते भर्तर्यपुत्रायाः पतिपक्षः प्रभुः स्त्रियाः।
विनियोगात्मरक्षासु भरणे च स ईश्वरः॥ 28॥

पुत्रहीना स्त्री के विधवा हो जाने पर पति के परिवार वाले—श्वसुर, ज्येष्ठ और देवर आदि—ही उसके स्वामी होते हैं। उसके भरण-पोषण एवं उसकी सुरक्षा का दायित्व निभाने वालों को यह भी अधिकार है कि वह उनकी अनुमति के बिना लेन-देन से सम्बन्धित कोई भी व्यापार आदि न करे; क्योंकि हानि होने पर भुगतान का भार भी उन पर ही पड़ता है।

परिक्षीणे पतिकुले निर्मनुष्ये निराश्रये।
तत्सपिण्डेषु वासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः॥ 29॥

ससुराल पक्ष के आत्मीय बन्धु-बान्धवों और सपिण्डियों—पति के पिता, सहोदर भाई, चाचा, चाचा के पुत्र, पति के पिता के दादा अथवा परदादा के भाई अथवा उन भाइयों के पुत्र-पौत्र (सपिण्डी)—के न रहने से, विधवा स्त्री के सर्वथा आश्रयहीन हो जाने पर उसका मायका ही आश्रयस्थल होता है। अभिप्राय यह है कि पतिगृह में अभाव की स्थिति में ही पितृगृह की ओर देखना चाहिए।

टिप्पणी—'स्मृतिचन्द्रिकाकार' के अनुसार पुत्रहीना विधवा स्त्री को ससुराल और मायके में आश्रय उपलब्ध न होने पर राजा (प्रशासन) को उसकी (ऐसी स्त्रियों की) रक्षा का दायित्व संभालना चाहिए। उसे दर-दर की ठोकरें खाने अथवा अवैध कार्यों में लिप्त होने की खुली छूट नहीं दे देनी चाहिए। राजा को पथभ्रष्ट होने वाली स्त्रियों पर नियन्त्रण भी रखना चाहिए—

पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्त्ता स्मृतः स्त्रियः।
स तस्याः भरणं कुर्यान्निगृह्णीयात्पथश्च्युताम्॥
स्वातन्त्र्याद्धि प्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः।
अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्॥ 30॥

उच्च कुल में उत्पन्न और सुशिक्षित स्त्रियां भी स्वतन्त्र कर दिये जाने पर उच्छृंखल और पथभ्रष्ट हो जाती हैं। यही कारण है कि प्रजापति ब्रह्मा ने स्त्रियों को स्वतन्त्रता न देने का विधान किया है।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रास्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ 31॥

स्त्री को बचपन में पिता के, युवती होने पर पति के और वृद्धा होने पर पुत्र के नियन्त्रण में रहना चाहिए। उसे किसी भी आयु में और किसी भी स्थिति में स्वतन्त्र रहने का कोई अधिकार नहीं है; क्योंकि स्वतन्त्रता स्त्री को पतन के गर्त की ओर ले जाती है।

यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्त्वर्णं पैतृकं च यत्।
भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमनृणी न स्याद्यथा पिता॥ 32॥

भाइयों को पैतृक सम्पत्ति का आपस में विभाजन करने से पूर्व पिता द्वारा किसी से लिए ऋण का भुगतान करके पिता को उऋण बनाना चाहिए।

येषां तु न कृताः पित्रा संस्कारविधयः क्रमात्।
कर्तव्या भ्रातृभिस्तेषां पैतृकादेव ते धनात्॥ 33॥

पैतृक सम्पत्ति के विभाजन से पूर्व असंस्कृत भाइयों के—यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त—विद्याध्ययन आदि पर होने वाले धन के व्यय आदि की व्यवस्था

करनी चाहिए, अर्थात् इस सम्बन्ध में अपेक्षित धन को अलग रखकर ही बंटवारा करना चाहिए।

अविद्यमाने पित्र्यर्थे स्वांशादुद्धृत्य वा पुनः।
अवश्यकार्याः संस्कारा भ्रातृणां पूर्वसंस्कृतैः॥ 34॥

पैतृक सम्पत्ति न होने पर पिता के जीवनकाल में संस्कृत—विद्या प्राप्त—भाइयों को अपने ही साधनों से असंस्कृत भाइयों को संस्कृत करने—शिक्षा-दीक्षा दिलाने—की व्यवस्था करनी चाहिए।

कुटुम्बार्थेषु यश्चोक्तस्तत्कार्यं कुरुते च यः।
भ्रातृभिर्भरणीयोऽसौ ग्रासाच्छादनवाहनैः॥ 35॥

अपने परिवार के यश, अभ्युदय तथा कल्याण के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले भाई के वृत्तिहीन होने पर, उसके दूसरे भाइयों को उसके तथा उसके परिवारजनों के भरण-पोषण की तथा वाहन आदि जुटाने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। यह उनका कर्तव्य-कर्म बनता है।

विभागधर्मसन्देहे दायादानां विनिर्णयः।
ज्ञातिभिर्भागलेख्यैश्च पृथक्कार्यप्रवर्तनात्॥ 36॥

दाय-भाग में किसी प्रकार के सन्देह अथवा पक्षपात की आशंका के उत्पन्न हो जाने पर, आपसी विवाद को निपटाने-सुलझाने के लिए जाति-बन्धुओं को मध्यस्थ बनाना चाहिए अथवा लिखित दस्तावेज़ों के साक्ष्य को आधार बनाना चाहिए।

भ्रातृणामविभक्तानामेको धर्मः प्रवर्त्तते।
विभागे सति धर्मो हि तेषां भवेत् पृथक् पृथक्॥ 37॥

अविभक्त, अर्थात् संयुक्त परिवार के रूप में रहने वाले भाइयों का एक ही धर्म है, अर्थात् परिवार की मर्यादा एवं प्रतिष्ठा की रक्षा करना सभी भाइयों का समान दायित्व है। एक के द्वारा किये गये किसी कर्म का परिणाम सभी सदस्यों को समान रूप से भुगतान पड़ता है।

हां, विभाजन के उपरान्त सभी अपने-अपने किये के उत्तरदायी होते हैं। सबका धर्म पृथक्-पृथक् हो जाता है।

दानग्रहणपश्वन्नगृहक्षेत्रपरिग्रहाः।
विभक्तानां पृथग् ज्ञेयाः पाकधर्मागमव्ययाः॥ 38॥

भाइयों के विभक्त हो जाने के उपरान्त लेन-देन, पशु, धन, अन्न, गृह, क्षेत्र, जमापूंजी, खान-पान तथा आय-व्यय आदि सभी कुछ अलग-अलग और अपना-अपना होता है। एक का लाभ-हानि उसी एक का होता है, दूसरे का नहीं।

साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम्॥ 39॥

बंटवारा हो जाने के उपरान्त, अलग-अलग रहने वाले भाई एक-दूसरे के लेन-देन के साक्षी, प्रतिभू (ज़ामिन—लेने वाले द्वारा समय पर भुगतान न करने पर मैं उसे विवश करूंगा, अन्यथा उसके स्थान पर स्वयं भुगतान करूंगा—ऐसी प्रतिज्ञा ज़मानत कहलाती है और ऐसी प्रतिज्ञा करने वाला ज़ामिन कहलाता है।) लेने वाले और देने वाले बन सकते हैं, परन्तु संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में रहने वाले भाई ऐसा नहीं कर सकते। वे न तो एक-दूसरे से लेन-देन कर सकते हैं और न ही लेन-देन के गवाह अथवा ज़ामिन बन सकते हैं; क्योंकि वे दो न होकर एक ही हैं। विभक्त होने पर वे एक से दो बन जाते हैं।

येषामेताः क्रिया लोके प्रवर्तन्ते स्वरिक्थिनाम्।
विभक्ता भ्रातरस्ते तु विज्ञेया इति निश्चयः॥ 40॥

एक-दूसरे से ऋण का लेन-देन करने वाले तथा एक-दूसरे के साक्षी और ज़ामिन बनने वाले भाइयों को निश्चित रूप से विभक्त हो गया समझना चाहिए।

वसेयुर्ये दशाब्दानि पृथग् धर्माः पृथक् क्रियाः।
विभक्ता भ्रातरस्ते तु विज्ञेया इति निश्चयः॥ 41॥

दस वर्षों से अलग रह रहे, अलग से व्यापार-धन्धा कर रहे तथा अलग से अपने-अपने धर्म-कर्म का निर्वहण कर रहे भाइयों को निश्चित रूप से विभक्त हो गया ही समझना चाहिए।

यद्येकजाता बहवः पृथग्धर्माः पृथक् क्रियाः।
पृथक्कर्मगुणोपेता न ते कृत्येषु सम्मताः॥ 42॥
स्वान्भागान्यदि दद्युस्ते विक्रीणीरन्नथापि वा।
कुर्युर्यथेष्टं तत्सर्वमीशास्ते स्वधनस्य तु॥ 43॥

एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई अपने गुणों और रुचियों के कारण भिन्न-भिन्न व्यवसाय (कोई नौकरी, कोई कृषि, कोई व्यापार और कोई उद्योग आदि) अपनाते हैं, अर्थात् एक साथ मिलकर एक ही कार्य-व्यापार को अपनाने को सहमत नहीं होते, तो पैतृक सम्पत्ति में से उनका भाग उन्हें दे देना चाहिए, भले ही वे अपने भाग में प्राप्त सम्पत्ति को दान में दे दें, बेच दें, गिरवी रख दें अथवा भाड़ में झोंक दें—इस बात की चिन्ता किसी को करनी ही नहीं चाहिए। सबको इस तथ्य को कदापि नहीं भूलना चाहिए कि भाग लेने वाला अपनी सम्पत्ति का स्वामी है और उसे अपनी सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार ख़र्च करने का पूर्ण अधिकार है। अतः किसी सोच-विचार में पड़े बिना, सभी भाइयों को बैठकर अपना-अपना भाग संभाल लेना चाहिए।

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्येमेव हरेद्धनम्।
संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेरन्निति स्थितिः॥ 44॥

पिता के जीवनकाल में सम्पत्ति के विभाजन के उपरान्त उत्पन्न होने वाले बालक को विभक्त हो गये भाइयों से कुछ मांगने का कोई अधिकार नहीं। उसे तो केवल पिता के भाग पर अथवा पिता के साथ रह रहे भाइयों के साथ विभाजन का अधिकार है।

औरसः क्षेत्रजश्चैव पुत्रिकापुत्र एव च।
कानीनश्च सहोढश्च गूढोत्पन्नस्तथैव च॥ 45॥
पौनर्भवोऽपविद्धश्च लब्धः क्रीतः कृतकस्तथा।
स्वयं चोपगतः पुत्रा द्वादशैष उदाहृताः॥ 46॥

निम्नोक्त बारह प्रकार के पुत्र होते हैं—1. औरस, 2. क्षेत्रज, 3. पुत्रिका-पुत्र, 4. कानीन, 5. सहोढ, 6. गूढ़ोत्पन्न, 7. पौनर्भव, 8. अपविद्ध, 9. लब्ध, 10. क्रीत, 11. कृतक तथा 12. स्वयमागत।

एषां षड् बन्धुदायादाः षड्दायादबान्धवाः।
पूर्वः पूर्वः स्मृतः श्रेयाञ्जघन्यो यो य उत्तरः॥ 47॥

उपर्युक्त बारह प्रकार के पुत्रों में प्रथम छह—औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका-पुत्र, कानीन, सहोढ़ और गूढ़ोत्पन्न—पैतृक सम्पत्ति में दाय-भाग पाने के अधिकारी हैं। इसके विपरीत परवर्ती छह—पौनर्भव, अपविद्ध, लब्ध, क्रीत, कृतक तथा स्वयमागत—पैतृक दाय को पाने के अधिकारी नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त बारह में पूर्व-पूर्व, अर्थात् स्वयमागत से कृतक, उससे क्रीत, उसकी अपेक्षा लब्ध, उससे अपविद्ध, उससे पौनर्भव, उससे गूढ़ोत्पन्न, उससे सहोढ़, उससे कानीन, उससे पुत्रिका-पुत्र, उससे क्षेत्रज और उससे भी औरस श्रेष्ठ हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्तरोत्तर—औरस से क्षेत्रज व उससे पुत्रिका-पुत्र आदि जघन्य हैं।

छिन्नभागे गृहक्षेत्रे सन्देहो यत्र जायते।
लेख्येन भोगविद्भिर्वा साक्षिभिर्वा समाहरेत्॥ 48॥

भाइयों में से किसी के भाग के काटे जाने पर अथवा घर और क्षेत्रादि के अधिकार आदि के सम्बन्ध में सन्देह उत्पन्न हो जाने पर जानकार जाति-बन्धुओं के साक्ष्य से तथा उपलब्ध लिखित प्रमाणों से तथ्य को सुनिश्चित करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि यदि पुत्रिका-पुत्र को कानीन मानकर उसे अधिकार से वञ्चित कर दिया जाता है, तो सम्बद्ध बालक को अपनी स्थिति—वह पुत्रिका-पुत्र है, कानीन नहीं, अर्थात् उसकी माता ने वाग्दत्ता होने से पूर्व उसे जन्म दिया था, पश्चात् नहीं—को स्पष्ट करने के लिए जाति-बन्धुओं के साक्ष्य का अथवा जन्मपत्री अथवा पिता द्वारा दिये गये उपहार सम्बन्धी उपलब्ध लिखित प्रमाण का सहारा लेना चाहिए।

क्रमाद्धोते प्रपद्येरन्मृते पितरि वा धनम्।
ज्यायसो ज्यायसोऽलाभे कनीयान्नृक्थमर्हति॥ 49॥

सामान्यतया पिता की मृत्यु के उपरान्त ही उसकी सम्पत्ति का भाइयों में विभाजन होता है। पिता के दिवंगत होने पर सभी भाइयों को ज्येष्ठ भाई को पिता का स्थान देना चाहिए, अर्थात् उसके संरक्षण में संयुक्त परिवार के सदस्य के रूप में पूर्ववत् रहना चाहिए। ज्येष्ठ भ्राता के न होने पर अथवा सहमति न होने पर कनिष्ठों द्वारा विभाजन की मांग की जा सकती है।

पुत्राभावे तु, दुहितातुल्यसन्तानकारणात्।
पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥ 50॥

पुत्र के अभाव में पैतृक सम्पत्ति का स्वामित्व पुत्री को मिलता है; क्योंकि पुत्री भी तो पुत्र के समान ही अपने माता-पिता की सन्तान है।

टिप्पणी—प्राचीनकाल के स्मृतिकारों की मान्यता और तत्कालीन परम्परा के सन्दर्भ में देवर्षि नारद का पुत्री को पुत्र के समकक्ष स्थान देना और उसे सम्पत्ति की अधिकारिणी मानना एक क्रान्तिकारी दृष्टिकोण ही माना जायेगा।

अभावे तु दुहितॄणां सकुल्या बान्धवास्ततः।
ततः सजातिः सर्वेषामभावे राजगामि तत्॥ 51॥

लड़कियों के अभाव में मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसके परिवार के रक्त-सम्बन्धियों—भाई, भतीजा आदि—उनके अभाव में सपिण्डियों—पिण्डदान और तर्पण करने वाले दूर के सम्बन्धी—दादा-परदादा के भाई-भतीजों के पुत्र-पौत्रादि और उनके भी अभाव में जाति-बन्धुओं—का अधिकार होता है। इन सबके अभाव में ऐसी सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता है।

अन्यत्र ब्राह्मणेभ्यः स्याद्राजा धर्मपरायणः।
तत् स्त्रीभ्यो जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः॥ 52॥

ब्राह्मणों की सम्पत्ति पर तो राजा को अधिकार नहीं करना चाहिए, उसे किसी धार्मिक संस्था को सौंप देना चाहिए। शेष वर्ण और जाति वालों के उत्तराधिकारियों के न होने पर मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति को लेने वाले राजा को उस व्यक्ति से जुड़े लोगों—स्त्री, माता आदि—की रक्षा और भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करनी चाहिए। धर्मशास्त्र का यही निर्देश और यही मर्यादा है।

॥ चतुर्थ अध्याय का त्रयोदश प्रकरण समाप्त॥

14. साहस

सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः।
तत् साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते॥ 1॥

अपने बल और अहंकार के आधार पर बलवान् एवं उद्धत व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले—दूसरों का सर्वस्व हरण, चोरी, डाका, लूट, मार, हत्या, अपमान तथा स्त्रियों के शील-भंग आदि—निन्दनीय कार्य '**साहस**' कहलाते हैं। साहस शब्द में सह का अर्थ बल है। इस प्रकार जिस कार्य में बल का अनुचित प्रयोग किया जाता है, वह साहस कहलाता है।

मनुष्यमारणं स्तेयं परदाराभिमर्शनम्।
पारुष्यं द्विविधं ज्ञेयं साहसं च चतुर्विधम्॥ 2॥

साहस पांच प्रकार का होता है—1. मनुष्यों की हत्या कर देना, 2. मनुष्यों की धन-सम्पत्ति को चुराना अथवा उनसे छीन लेना, 3. दूसरे की स्त्री का शील भंग करना, 4. दूसरों की पिटाई करना तथा 5. दूसरों को गाली-गलौच देना और उन्हें अपमानित करना।

टिप्पणी—आजकल साहस का एक अन्य रूप सामने आया है—धन के लिए किसी धनी व्यक्ति का अथवा उसके बेटे-बेटी का अपहरण करके उसे बन्धक बना लेना।

तत् पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तथा।
उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक्॥ 3॥

अपनी उग्रता की दृष्टि से साहस तीन प्रकार का होता है—प्रथम, मध्यम और उत्तम। मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में इन तीनों के पृथक्-पृथक् लक्षण दिये हुए हैं।

फलमूलोदकादीनां क्षेत्रोपकरणस्य च।
भङ्गाक्षेपावमर्दाद्यैः प्रथमं साहसं स्मृतम्॥ 4॥

फलों वाले वृक्षों से भरे उपवनों, मूली-गाजर, शलग़म, आलू, शकरकन्दी आदि साग-सब्ज़ियों को उगाने वाले खेतों तथा जल-स्रोतों—नदी-नालों—का उजाड़ना, रौंदना, इन स्थानों पर कार्य करने वालों को आतंकित करके इन स्थानों को उपजहीन बनाना तथा उपज को चुराना, ज़बरदस्ती छीनना आदि प्रथम स्तर का साहस कहलाता है।

वासःपश्वन्नपानानां गृहोपकरणस्य च।
एतेनैव प्रकारेण मध्यमं साहसं स्मृतम्॥ 5॥

वस्त्रों, गाय-भैंस आदि पशुओं, पक्व धान्य तथा दुग्धादि पेयपदार्थों, आवास-भवनों तथा आजीविका के साधन-भूत उपकरणों को हानि पहुंचना, उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करना मध्यम स्तर का साहस है।

व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम्।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम्॥ 6॥

विष देकर अथवा शस्त्र-प्रहार द्वारा मनुष्यों का वध करना, परस्त्रियों से बलात्कार तथा इस प्रकार के उग्र कर्म उत्तम साहस के अन्तर्गत परिगणित हैं।

तस्य दण्डः क्रियापेक्षः प्रथमस्य शतावरः।
मध्यमस्य तु शास्त्रज्ञैर्दृष्टैः पञ्चशतावरः॥ 7॥

यूं तो साहसिक कार्यों का दण्ड कार्य के परिमाण के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिए, पुनरपि प्रथम साहस का दण्ड कम-से-कम सौ पण और मध्यम साहस का दण्ड पांच सौ पण वसूल करना चाहिए।

उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते।
वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने।
तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे॥ 8॥

उत्तम साहस का दण्ड कम-से-कम हज़ार पण है। इसके अतिरिक्त दुष्टता की गम्भीरता को देखते हुए साहसिक को मृत्यु-दण्ड, देश-निकाला, उसकी सारी सम्पत्ति छीन लेना, उसे कोड़े लगवाना, उसका अंग-भंग करना तथा उसके शरीर को गोदवाना व पापी को सार्वजनिक रूप से अपमानित करना आदि दण्ड भी दिये जाने चाहिए।

अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः।
वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति॥ 9॥

ब्राह्मण द्वारा भी इस प्रकार के निकृष्ट साहसिक कार्य किये जाने पर उसे मृत्यु-दण्ड के अतिरिक्त उसके कार्य के परिणाम के अनुरूप अन्य सभी प्रकार के दण्ड दिये जा सकते हैं। यह सही है कि ब्राह्मण अवध्य है, परन्तु इससे उसे जघन्य कार्यों के करने की छूट नहीं मिल जाती।

शिरसौ मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्।
ललाटे चाभिशस्ताङ्कः प्रयाणं गर्दभेन च॥ 10॥

बाह्मण द्वारा निन्दनीय साहसिक कार्य किये जाने पर उसे निम्नोक्त प्रकार से दण्डित किया जाना चाहिए—

1. उसका सिर मुंडवा देना चाहिए। (प्राचीनकाल में किसी प्रियजन की

मृत्यु पर ही सिर मुंडवाया जाता था और इसे अप्रिय घटना ही माना जाता था। आज भी निष्ठावान् व्यक्तियों में यह प्रथा प्रचलित है।)

2. राजा द्वारा ऐसे नीच ब्राह्मण को अपने राज्य से निर्वासित कर देना।

3. उसके मस्तक पर कुक्कुट, भग आदि का स्थायी चिह्न गोद देना (जिससे वह लोगों के सामने जाने में अपने को अपमानित अनुभव करे और यदि विवेकशील है, तो आत्महत्या कर ले।) तथा

4. उसे गधे पर बिठाकर नगर में घुमाना।

टिप्पणी—वस्तुत: ये चारों दण्ड ब्राह्मण को जीने के योग्य न रहने देने वाले हैं। कोई सर्वथा निर्लज्ज एवं मूर्ख ब्राह्मण ही सार्वजनिक रूप से इस प्रकार अपमानित होकर जीने की कामना करेगा। दूसरी ओर, इस उग्रता की इस रूप में सार्थकता है कि प्रचण्ड दण्ड के भय से कोई ब्राह्मण साहस करने का विचार ही नहीं करेगा। इस सन्दर्भ में यह भी विचारणीय हो जाता है कि समाज के पथ-प्रदर्शक ब्राह्मण से ऐसी अपेक्षा—दुष्कर्म में प्रवृत्त होना—करनी भी नहीं चाहिए। ब्राह्मण को तो सर्वाधिक एवं सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् तथा विवेकशील माना जाता है। अत: उसे पतन से बचाने के लिए किसी भी कठोर दण्ड का विधान सर्वथा समुचित ही माना जायेगा।

स्यातां संव्यवहार्यौ तौ धृतदण्डौ तु पूर्वयोः।
धृतदण्डोऽप्यसम्भाष्यो ज्ञेय उत्तमसाहसे॥ 11॥

प्रथम और मध्यम स्तर के साहस में तो व्यक्ति दण्ड भुगतने और प्रायश्चित्त करने के उपरान्त लोक-व्यवहार करने योग्य हो जाता है, परन्तु उत्तम साहस में दण्डित होने के उपरान्त सम्भाषण करने योग्य, अर्थात् समाज में मुंह दिखाने योग्य नहीं रहता। ऐसे भयंकर एवं आततायी व्यक्ति से दूर रहने में ही लोग अपना हित समझते हैं।

तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र दृश्यते।
आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु॥ 12॥

उत्तम साहस का ही एक भेद स्तेय है, जिसके दो रूप हैं—स्तेय और आधि। छल-कपट से अथवा लुक-छिपकर, गुप्त रूप से दूसरे के द्रव्य-वैभव आदि का हरण 'स्तेय' है और बलपूर्वक दूसरे से उसकी सम्पत्ति—स्वर्ण, नक़दी, वस्तु अथवा अचल सम्पत्ति—भवन, खेत, भूखण्ड आदि को छीनना, व्यक्ति पर आक्रमण करके उसके स्वत्व पर अपना अधिकार जमा लेना 'आधि' कहलाता है। इसे आज की भाषा में 'डाका डालना' कहा जाता है। वस्तुत: यह आधि ही साहस है, स्तेय तो छल-कपट से की गयी कायरतापूर्ण धूर्तता है।

तदपि त्रिविधं प्रोक्तं द्रव्यापेक्षं मनीषिभिः।
क्षुद्रमध्योत्तमानां तु द्रव्याणामपकर्षणात्॥ 13॥

मनीषियों ने द्रव्य के महत्त्व एवं परिमाण तथा मूल्य के परिप्रेक्ष्य में इस आधि के भी तीन—क्षुद्र, मध्यम और उत्तम—भेद बताये हैं। साधारण वस्तु का बलात् ग्रहण क्षुद्र, मध्यम स्तर के पदार्थ का अपहरण मध्यम तथा अत्यधिक मूल्यवान् सम्पत्ति पर बलपूर्वक क़ब्ज़ा उत्तम साहस कहलाता है।

मृद्भाण्डासनखट्वास्थिदारुचर्मतृणादि यत्।
शमीधान्यं कृतान्नं च क्षुद्रद्रव्यमुदाहृतम्॥ 14॥

क्षुद्र पदार्थों के रूप में परिगणित पदार्थ हैं—1. मिट्टी से बने पात्र, 2. आसन-कुर्सी, चौकी आदि, 3. खाट-पलंग, शैया आदि, 4. अस्थि—गज की अस्थि अथवा अस्थि से निर्मित माला आदि, 5. काष्ठ—चन्दन, देवदारु आदि बहुमूल्य वृक्षों की लकड़ी, 6. चर्म—सिंह, व्याघ्र, मृग तथा सर्प आदि की खाल, 7. तृण—बहुमूल्य प्रकार की घास-फूस, 8. शमी वृक्ष की लकड़ी, 9. धान्य—चावल, गेहूं आदि तथा 10. पका भोजन।

टिप्पणी—भारत में शमी वृक्ष की पूजा होती है। विवाह के लिए वधू के घर जाने से पूर्व वर को अपने शस्त्रों के तीखेपन की परख के लिए शमी वृक्ष की लकड़ी को काटना होता था। पाणिनि के साक्ष्य के अनुसार—लड़की को पाने के लिए विभिन्न गुटों में युद्ध-संघर्ष होते रहते थे। अतः वर को अश्वारूढ़ होकर शस्त्र सञ्चालन करना होता था। अतः शस्त्रों—उस युग में द्वन्द्व युद्ध में प्रयुक्त होने वाले खड्ग आदि—की तीव्रता को जांच-परख करना आवश्यक था और इसके लिए शमी वृक्ष की लकड़ी को काटना सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता था। यह प्रथा नाममात्र के लिए ही सही, आज भी प्रचलित है। इसका अर्थ है कि शमी वृक्ष की लकड़ी अन्य लकड़ी से अधिक कठोर होतीं थी।

वासः कौशेयवर्जं च गोवर्जं पशुवस्तथा।
हिरण्यवर्जं लोहं च मध्यं ब्रीहिजवा अपि॥ 15॥

मध्यम साहस के अन्तर्गत निम्नोक्त पदार्थ परिगणित हैं—1. मूल्यवान् सूती और ऊनी वस्त्र, 2. गाय को छोड़कर अन्य पशु—ऊंट, गर्दभ और भैंसा आदि 3. स्वर्ण को छोड़कर अन्य धातुएं—चांदी, तांबा, कांसा तथा लौह आदि तथा 4. धान, जौ आदि।

हिरण्यरत्नकौशेयस्त्रीपुंगोगजवाजिनः।
देवब्राह्मणराज्ञां च विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम्॥ 16॥

उत्तम साहस के अन्तर्गत परिगणित पदार्थ हैं—1. हिरण्य (स्वर्ण), 2. रत्न, 3. कौशेय (रेशमी) वस्त्र, 4. स्त्री, 5. पुरुष (दास), 6. गाय, गज, अश्व आदि पशु तथा 7. देवता, ब्राह्मण अथवा राजा को देय द्रव्य (धन) अथवा पदार्थ-सामग्री आदि।

उपायैर्विविधैः सर्वैः कल्पयित्वापकर्षणम्।
सुप्तप्रमत्तमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः॥ 17॥

मनीषियों के निश्चिन्त होकर सोये हुए व्यक्ति के, अपने सामान की देखभाल न करने वाले व्यक्ति के तथा नशे में डूबे व्यक्ति के सामान के अपहरण को ही 'स्तेय' नाम दिया है। अपहरण में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रयोग इस प्रकार हैं—

1. सन्देश—सामान के स्वामी को किसी के नाम से बुलाने का झूठा सन्देश देना तथा स्वामी द्वारा सामान को छोड़कर जाते ही सामान को उठाकर चलते बनना।

2. कूटलेख्य—पढ़ने की प्रार्थना के बहाने सामान के स्वामी का ध्यान दूसरी ओर बंटाकर अवसर पाते ही सामान को उड़ा लेना।

3. सन्धिच्छेद—अपनी धूर्तता से साथियों को भिड़ाकर उनका ध्यान सामान से हटाकर सामान को उड़ा लेना तथा

4. ग्रन्थिभेद—प्रार्थना से सामान के स्वामी को उलझाना और उसका सामान उड़ा लेना।

सहोढग्रहणात् स्तेयं होढमत्युपभोगतः।
शङ्का त्वसज्जनैकत्वादन्यायव्ययतस्तथा॥ 18॥

निम्नोक्त तथ्यों से 'स्तेय' का अनुमान करना चाहिए—

1. चोरी हुए सामान में से किसी वस्तु का मिलना।

2. व्यक्ति द्वारा विलासिता की वस्तुओं पर अन्धाधुन्ध ख़र्च करना।

3. व्यक्ति का निन्दित व्यक्तियों से मैत्री-सम्बन्ध रखना।

4. व्यक्ति की आय के किसी साधन के न होने पर भी उसका हाथ खुला होना तथा

5. व्यक्ति का दुर्व्यसनों—द्यूत, मदिरा-सेवन, वेश्यागमन आदि में लिप्त होना।

भक्तावकाशदातारः स्तेनानां ये प्रसर्पताम्।
शक्ताश्च य उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः॥ 19॥

निम्नोक्त चारों को भी चोर समझना चाहिए और उन्हें चोरों के लिए निर्धारित दण्ड देना चाहिए—

1. चोरों की जानकारी होने पर भी उनकी उपेक्षा करने वाले, अर्थात् प्रशासन अथवा पड़ोसियों को सूचना न देने वाले।

2. किसी के घर में घुसते अथवा किसी का सामान चुराते चोरों को देखकर भी उनकी रोक-टोक न करने वाले तथा उनके भय से गृह-स्वामियों को सूचित न करने वाले।

3. समर्थ होने पर भी चोरों का सामना न करने वाले तथा

4. चोरों को आश्रय देने वाले अथवा छिपने आदि में उनकी सहायता करने वाले।

उत्क्रोशतां जनानां च ह्रियमाणे धने तथा।
श्रुत्वा ये नाभिधावन्ति तेऽपि तद्दोषभागिनः ॥ 20 ॥

चोर अथवा चोरों को चोरी करते देखकर अथवा उनसे पिटे होने पर सहायता के लिए शोर मचाने वाले स्वामियों के करुण क्रन्दन को सुनकर भी उनकी सहायता के लिए दौड़कर न आने वालों—भय, उपेक्षावृत्ति अथवा किसी पुरानी शत्रुता के कारण मुंह मोड़ने वालों—को भी चोर समझना और दण्डित करना चाहिए।

साहसेषु य एवोक्त स्त्रीषु दण्डो मनीषिभिः।
स एव दण्डः स्तेयेऽपि द्रव्येषु त्रिष्वनुक्रमात् ॥ 21 ॥

जिस प्रकार सामान के मूल्य, महत्त्व और उपयोगिता आदि की दृष्टि से उसकी चोरी के तीन—क्षुद्र, मध्यम तथा उत्तम—स्तर बताये गये हैं और उनके तीन प्रकार के दण्डों का विधान किया गया है, उसी प्रकार चोरों की उपेक्षा अथवा सहायता करने वालों के लिए भी चोरों के स्तर के अनुरूप तीन स्तर और तीन ही प्रकार के दण्डों का विधान समझना चाहिए।

गवादिषु प्रणष्टेषु द्रव्येष्वपहृतेषु वा।
पदस्यान्वेषणं कुर्युरामूलात्तद्विदो जनाः ॥ 22 ॥

गाय, भैंस, अजा और अश्व आदि पशुओं के खो जाने पर तथा दीवार तोड़ (सेंधमार) कर सामान के चोरी हो जाने पर पदचिह्नों की परख रखने में प्रवीण पुरुषों की सहायता से चोरों के ठिकानों पर पहुंचने और उन्हें पकड़ने का प्रयास करना चाहिए।

ग्रामे व्रजे विविक्ते वा यत्र सन्निपतेत् पदम्।
वोढव्यं तद् भवेत्तेन न चेत् सोऽन्यत्र तन्नयेत् ॥ 23 ॥

जिस गांव, गोशाला अथवा शून्य स्थल में आये चोरों के पदचिह्न तो मिलते हों और बाहर निकलते न दीखते हों, वहां न केवल चोरों को छिपा हुआ समझना चाहिए, अपितु उन स्थानों के वासियों को भी चोरों से मिला हुआ समझना चाहिए और दण्डित करना चाहिए।

पदे प्रमूढे भग्ने वा विषमत्वाज्जनान्तिके।
यस्त्वासन्नतरो ग्रामो व्रजो वा तत्र पातयेत् ॥ 24 ॥

चोरों के पैरों के चिह्नों के स्पष्ट दृष्टिगोचर न होने पर अथवा भूमि के ऊंचा-नीचा होने से पैरों के चिह्नों के टूट-फूट जाने पर, चोरों को समीपवर्ती ग्राम में अथवा पशुओं के चरागाह के आस-पास छिपा हुआ समझना चाहिए और उनकी वहीं पर खोज करनी चाहिए।

समेऽध्वनि द्वयोर्यत्र तेन प्रायोऽशुचिर्जनः।
पूर्वापराधैर्दुष्टा वा संसृष्टा वा दुरात्मभिः ॥ 25 ॥

समतल मार्ग पर चोरों के पदचिह्नों के साथ अन्यान्य यात्रियों के पदचिह्नों के भी मिलने पर आसपास के निवासियों को चोरों से मिला हुआ तथा चोरी में सम्मिलित समझना चाहिए। छानबीन करने पर चोरों का वहां छिपा होना निश्चित होता है। चोरों के साथ मिले लोगों को भी यथोचित रूप से दण्डित करना चाहिए।

ग्रामेष्वन्वेषणं कुर्युश्चाण्डालवधिकादयः।
रात्रिसञ्चारिणो ये च बहिः कुर्युर्बहिश्चराः ॥ 26 ॥

स्थान-विशेष पर चोर के विद्यमान होने का पक्का निश्चय हो जाने पर चाण्डाल और व्याध-जैसों को ग्राम-जनपदों के भीतर घुसाकर तथा गांव के बाहर दिन में तथा रात को चौकीदारी (चौकसी) करने वालों को गांव के बाहर सतर्क करके आततायी भगोड़े चोरों को दबोच लेना चाहिए।

स्तेनेष्वलभ्यमानेषु राजा दद्यात् स्वकाद् गृहात्।
उपेक्षमाणो ह्येवस्वी धर्मादर्थाच्च हीयते ॥ 27 ॥

चोरों को ढूंढ़ पाने में असमर्थ राजा (प्रशासन) को लुटे व्यक्ति की हानि की भरपाई निजी सम्पत्ति से करनी चाहिए। इसका अर्थ है कि राजा को चोरों की धर-पकड़ को अत्यन्त गम्भीरता से लेना चाहिए। चोरों की उपेक्षा करने वाला राजा न केवल आर्थिक हानि उठाता है, अपितु धर्म से च्युत तथा प्रजा में अलोकप्रिय भी होता है।

॥ चतुर्थ अध्याय का चतुर्दश प्रकरण समाप्त ॥

15. वाक्पारुष्य एवं दण्डपारुष्य

देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यङ्गसंयुतम् ।
यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारुष्यं तदुच्यते॥ 1॥

व्यक्ति के देश की, उसकी जाति की तथा उसके वंश की निन्दा करना, उसे हीन बताना, उस पर आक्षेप करना, उस पर सच्चे-झूठे आरोप लगाना, उसका अपमान करना तथा उसके प्रति अपशब्दों, दुष्टवाक्यों और निकृष्ट भाषा का प्रयोग करना अथवा उसकी कलंकित एवं क्षुद्र व्यक्तियों से तुलना करना आदि 'वाक्-पारुष्य' कहलाता है।

निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम्।
गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽप्यत्र क्रमाद् गुरुः॥ 2॥

साहस के समान वाक्-पारुष्य के भी तीन भेद हैं—निष्ठुर, अश्लील और तीव्र। इन्हें ही क्रमशः क्षुद्र, मध्यम और उत्तम समझना चाहिए तथा निष्ठुर से अश्लील को गुरु से गुरुतर और अश्लील से तीव्र को गुरुतर से गुरुतम समझना और तदनुरूप दण्ड-विधान समझना चाहिए।

साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलन्यङ्गसंयुतम्।
पातनीयैरुपक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः ॥ 3॥

मनीषियों के अनुसार आक्षेप करना वाक्-पारुष्य है, अपशब्दों—सार्वजनिक रूप से बोलने-सुनने में लज्जा-संकोच उत्पन्न करने वाले—का प्रयोग अश्लील वाक्-पारुष्य है तथा किसी पतन-जैसे अत्यन्त निन्दनीय कर्म से जोड़कर व घोर अपमान कर आक्रोशपूर्वक बोलना तीव्र वाक्-पारुष्य है।

परगात्रेस्वभिद्रोहो हस्तपादायुधादिभिः।
भस्मादीनामुपक्षेपैर्दण्डपारुष्यमुच्यते ॥ 4॥

क्रोध के आवेश में अपने हाथों, पैरों तथा शस्त्रों—डण्डा, लाठी, चाकू, छुरी तथा तलवार आदि के अतिरिक्त रस्सी, पत्थर और लौह-छड़ी—से किसी दूसरे पर प्रहार करना, उसे बुरी तरह घायल करना, उसका अंग-भंग करना, उसकी हड्डी-पसली तोड़ना अथवा उस पर गरम राख फेंकना 'दण्ड-पारुष्य' कहलाता है।

तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं मृदुमध्योत्तमं क्रमात्।
अवगोरण निःशङ्कपातनक्षतदर्शनैः॥ 5॥

दण्ड-पारुष्य के भी तीन प्रकार-भेद हैं—मृदु, मध्यम तथा उत्तम। हाथों (मुक्कों) तथा पैरों से पीटना मृदु दण्ड-पारुष्य है, लाठियों, रस्सियों तथा पत्थरों से पीटना मध्यम तथा चाकू, छुरी और तलवार आदि से क्षत-विक्षत करना उत्तम दण्ड-पारुष्य कहलाता है।

हीनमध्योत्तमानां तु द्रव्याणामपकर्षणात्।
त्रीण्येव साहसान्याहुस्तत्र कण्टकशोधनम्॥ 6॥

जिस प्रकार हीन, मध्यम और उत्तम पदार्थों की छीना-झपटी के आधार पर साहस तीन प्रकार का है, उसी प्रकार अपराध के दण्ड के रूप में 'कण्टकशोधन' कहलाने वाले दण्ड-पारुष्य के भी उपर्युक्त तीन—मृदु, मध्यम तथा उत्तम—भेद हैं।

विधिः पञ्चविधस्तूक्त एतयोरुभयोरपि।
विशुद्धिर्दण्डभाक्त्वं य तत्र संवध्यते यथा॥ 7॥

इन दोनों—साहस और दण्ड-पारुष्य—की समान रूप से पांच विधियां हैं, जिनका परिचय आगे दिया जा रहा है। यहां इतना समझ लेना चाहिए कि दोनों—अपराध और दण्ड—का अभिन्न सम्बन्ध है, अर्थात् अपराध किये जाने पर ही दण्ड-प्रवर्तन होता है, अन्यथा नहीं। निरपराध को दण्डित करना, तो अपराध को जन्म देने-जैसा पाप है। इसके अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि दण्ड का उद्देश्य क्रूरता बरतना कदापि नहीं, अपितु इसका उद्देश्य सुधारना है। यही कारण है कि एक ही अपराध करने वाले विभिन्न स्थितियों के व्यक्तियों को दण्ड देने में अन्तर किया जाता है।

पारुष्यदोषावृतयोर्युगपत्सम्प्रवृत्तयोः ।
विशेषश्चेन्न दृश्येत्तं विनयः स्यात् समस्तयोः॥ 8॥

निर्दोष अथवा निरपराध को क्रोधावेश में आकर भद्दी गालियां देना अथवा उसकी पिटाई करना, दोनों ही समान रूप से दण्डनीय अपराध हैं। इन दोनों में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं करना चाहिए। निर्दोष को मानसिक रूप से (गाली-गलौच द्वारा) तथा शारीरिक रूप से (पिटाई द्वारा) पीड़ित करने वाले को एक समान दण्ड देना चाहिए।

पूर्वमाक्षारयेद् यस्तु नियतं स्यात् स दोषभाक्।
पश्चाद् यः सोऽप्यसत्कारी पूर्वे तु विनयो गुरुः॥ 9॥

तर्जनी आदि से किसी को फटकारने, डांटने-डपटने और डराने में पहल करने वाला तो अपराधी माना ही जाता है, उसकी फटकार को सहन न करके दुगुने वेग से उस पर प्रत्याक्रमण करने वाले को भी सज्जन नहीं माना जा सकता। अभिप्राय यह है कि यदि एक व्यक्ति क्रोधवश उन्मादग्रस्त हो गया है, तो दूसरे को

अपना विवेक नहीं खो देना चाहिए, उसे धैर्य और सहनशीलता का परिचय देना चाहिए। हां, दोनों में अधिक दोष प्रथम व्यक्ति का माना जायेगा और वह अधिक दण्ड का भागी है। दूसरे का क्रोध तो क्रिया की प्रतिक्रिया मात्र है—यह प्रथम विधि है।

द्वयोरापन्नयोस्तुल्यमनुबध्नाति यः पुनः।
स तयोर्दण्डमाप्नोति पूर्वो वा यदि वोत्तरः॥ 10॥

किसी मध्यस्थ द्वारा कलह-विवाद करने वाले दो व्यक्तियों को शान्त कर दिये जाने पर अथवा अपने आप शान्त हो जाने पर, फिर से भड़क उठने वाला व्यक्ति बड़ा अपराधी माना जाता है। ऐसा व्यक्ति परवर्ती—क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में उग्रता बरतने वाला—होने पर भी पूर्ववर्ती—विवाद प्रारम्भ करने वाला माना जाना तथा तदनुरूप दण्डित किया जाना चाहिए—यह दूसरी विधि है। यहां शान्त हो जाने वाले विवादी को दण्ड नहीं दिया जाता।

श्वपाकमेदचाण्डालव्यङ्गेषु वधवृत्तिषु।
हस्तिपव्रात्यदासेषु गुर्वाचार्यातिगेषु च॥ 11॥
मर्यादातिक्रमे सद्यो घात एवानुशासनम्।
नय तद्दण्डपारुष्ये स्तेयमाहुर्मनीषिणः॥ 12॥

मनीषियों के अनुसार निम्नोक्त तुच्छ व्यक्तियों—1. चाण्डाल, 2. पाखण्डी—वेद-विरुद्ध आचरण करने वाले, अशोककालीन एक सम्प्रदाय से सम्बद्ध व्यक्ति, 3. बधिर, आदि विकलांग, 4. व्याध—जीव-हत्या से आजीविका चलाने वाले, 5. महावत—हाथियों का पालन करने वाले, 6. व्रात्य—पतित होने से उपनयन संस्कार के अयोग्य घोषित, आचारभ्रष्ट तथा 7. दास आदि द्वारा अपने पूज्य आचार्यों, स्वामियों, प्रतिष्ठित महानुभावों तथा वृद्ध जनों का अपमान करने पर इनकी बेतों से पिटाई करनी चाहिए। हां, इनके द्वारा अपने आदरणीय सम्बन्धी—चाचा, मामा आदि आचार्य तथा शिष्य की पत्नी—का गमन करने पर इनका तत्काल वध कर देना चाहिए, अन्य किसी दण्ड के विषय में तो सोचना ही नहीं चाहिए। यह तीसरी विधि है।

यमेव ह्यतिवर्त्तेत नीचः सन्तं जनं नृषु।
स एव विनयं कुर्यान्न तद्विनयभाग् नृपः॥ 13॥

समाज के निम्न वर्ग के किसी व्यक्ति द्वारा उच्च वर्ग के किसी व्यक्ति का अपमान किये जाने पर नीच व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार अपमानित होने वाले उच्च वर्ग के व्यक्ति का होना चाहिए, राजा द्वारा इसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए—यह चतुर्थ विधि है।

टिप्पणी—दण्ड की किसी रूपरेखा को निश्चित न करके, उसके स्थान पर

उच्च वर्ग को मनमानी करने की छूट देना तत्कालीन न्यायव्यवस्था की निर्दोषिता के आगे एक प्रश्नचिह्न है। एक व्यक्ति मृदु हो सकता है और दूसरा व्यक्ति निर्मम एवं कठोर हो सकता है। एक ही अपराध के दण्ड में भिन्नता को न्यायसंगत नहीं ठहराया जा सकता और व्यक्ति को दण्ड का अधिकार देने पर दण्ड में एकरूपता नहीं आ सकती।

मला ह्येते मनुष्येषु धनमेषां मलात्मकम्।
अपि तान् घातयेद्राजा नार्थदण्डेन दण्डयेत्॥ 14॥

पद्य संख्या ग्यारह में निर्दिष्ट चाण्डाल, पाखण्डी तथा व्रात्य आदि नीच पुरुष पापकर्मा हैं और उनके द्वारा अर्जित धान भी पापमूलक है। अतः राजा को इनके अपराधों के लिए इन्हें कोड़े मारने-जैसा दण्ड तो अवश्य देना चाहिए, परन्तु इन्हें अर्थ-दण्ड देकर इनसे धन कभी नहीं वसूल करना चाहिए—यह पञ्चम विधि है।

शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽध्यर्धं शतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥ 15॥

ब्राह्मण को अपमानित करने वाले क्षत्रिय से सौ पण और वैश्य से डेढ़ सौ पण दण्ड के रूप में वसूल करने चाहिए तथा ऐसा दुस्साहस करने वाले शूद्र को बांधकर जेल में डाल देना चाहिए।

पञ्चाशद् ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने।
वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः॥ 16॥

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अपमानित करने के लिए ब्राह्मण से क्रमशः पचास, पच्चीस और बारह पण दण्ड के रूप में वसूल करने चाहिए।

समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्॥ 17॥

समान वर्ण वाले द्वारा समान वर्ण वाले का, अर्थात् ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मण का तथा क्षत्रिय द्वारा क्षत्रिय का अपमान करने का दण्ड बारह पण है। अपने से निम्न वर्ण के व्यक्ति द्वारा उच्च वर्ण के व्यक्ति का, अर्थात् क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण का, वैश्य द्वारा क्षत्रिय का और शूद्र द्वारा वैश्य का अपमान किये जाने का दण्ड दुगुना, अर्थात् चौबीस पण है।

टिप्पणी—इससे यह भी संकेतित होता है कि वैश्य द्वारा ब्राह्मण का और शूद्र द्वारा क्षत्रिय का, अर्थात् अपने से उच्च का ही नहीं, अपितु उच्चतम वर्ण का अपमान करने का दण्ड तिगुना, अर्थात् छत्तीस पण होगा। शूद्र द्वारा ब्राह्मण के अपमान का दण्ड तो कारावास है—यह पहले ही निर्दिष्ट किया जा चुका है।

काणमप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन्दण्ड्यो राज्ञा कार्षापणावरम्॥ 18॥

विकलांग—काणा, लंगड़ा, लूला तथा बहरा आदि—को विकलांग कहने, अर्थात् चिढ़ाने वाले से कम-से-कम एक कौड़ी दण्ड के रूप में वसूली जा सकती है। इसका अर्थ है कि अधिक दण्ड भी दिया जा सकता है।

न किल्विषेणापवदेच्छास्त्रतः कृतपावनम्।
न राज्ञा धृतदण्डं च दण्डभाक् तद्व्यतिक्रमात्॥ 19॥

अपराधी द्वारा अपने अपराध का राजा द्वारा निर्दिष्ट दण्ड भुगतने तथा प्रायश्चित्त करने के उपरान्त, किसी को भी उसके अपराध के लिए उसकी निन्दा करने का कोई अधिकार नहीं मिलता। ऐसा करने वाला दण्ड का भागी होता है। दण्ड भुगतने और प्रायश्चित्त करने पर अपराध को समाप्त हुआ ही समझना चाहिए।

लोकेऽस्मिन् द्वाववक्तव्याववध्यौ च प्रकीर्तितौ।
ब्राह्मणश्चैव राजा च तौ हीदं विभृतो जगत्॥ 20॥

इस संसार के पालक और रक्षक होने के कारण ब्राह्मण और राजा की उनके द्वारा किये किसी अपराध के लिए न तो निन्दा की जा सकती है और न ही उन्हें दण्ड दिया जा सकता है। वस्तुतः मान्यता यह है कि राजा और ब्राह्मण कभी कुछ ग़लत करते ही नहीं है।

टिप्पणी—इंग्लैण्ड में भी राजा के विषय में यह सर्व-सम्मत धारणा है—"King does no sin" अर्थात् राजा तो कभी कोई पापकर्म करता ही नहीं है।

पतितं पतितेत्युक्त्वा चौरं चौरेति वा पुनः।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विर्दोषतां व्रजेत्॥ 21॥

पतित व्यक्ति को पतित और चोर को चोर कहकर अपमानित करने वाला भी उनके समान दोषी होता है। निर्दोष पर दोषारोपण करने वाला दुगुने दोष का भागी बनता है। अभिप्राय यह है कि बिना पुष्टि के न तो किसी पर दोषारोपण करना चाहिए और न ही किसी को 'अपराधी' कहकर निरर्थक अपमानित ही करना चाहिए।

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा दारुणया क्षिपन्।
जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः॥ 22॥

शूद्र द्वारा वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के प्रति तीखे, कड़वे, अश्लील और विषैले वचन बोलकर उनका अपमान करने पर उसकी जिह्वा काट डालनी चाहिए। नीच-जन्मा शूद्र के ऐसे दुस्साहस को तो असह्य व्यवहार और अक्षम्य अपराध ही समझना चाहिए।

टिप्पणी—शूद्र को 'जघन्य-प्रभव,' अर्थात् नीच स्थान से उत्पन्न मानने के विरुद्ध मध्यकालीन कवियों की उक्तियां दर्शनीय हैं—

नानक—'एक मूल से सब उत्पन्ना, को ब्राह्मण को शूद्रा।'

कबीर—'जे तू बाम्हन बाम्हनि जाया, और बाट ते काहे न आया।'

नामजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।
निखेयोऽयोमयः शङ्कु ज्वलन्नास्ये दशाङ्गुलः ॥ 23 ॥

द्विजातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—के नाम और जाति का अवज्ञापूर्वक उच्चारण करने वाले शूद्र के मुख में अग्नि में तपे दस अंगुल लम्बे लौहदण्ड को घुसेड़ देना चाहिए।

टिप्पणी—आज भी किसी सिख को 'सिखड़ा' कहना अपराध माना जाता है।

धर्मोपदेशं दर्पेण द्विजानामस्य कुर्वतः।
तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ 24 ॥

राजा को अपनी विद्वत्ता, प्रतिभा अथवा योग्यता के अहंकार से ग्रस्त होकर द्विजातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—को ज्ञानोपदेश देने का दुस्साहस करने वाले शूद्र के मुख में और कानों में उबलता हुआ तेल डाल देना चाहिए।

येनाङ्गेनावरोवर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात्।
तदङ्गं तस्यच्छेत्तव्यमेवं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ 25 ॥

शूद्र अपने जिस किसी अंग—हाथ, पैर, मुख आदि से—ब्राह्मण पर प्रहार करता है, उसके उस अंग को काट देना ही उसका दण्ड है, यही उसका प्रायश्चित्त है। इसी से उसकी शुद्धि होती है। उससे जुर्माना (अर्थ-दण्ड) वसूल करने का कोई औचित्य ही नहीं है।

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यावकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचौ वास्यावकर्तयेत् ॥ 26 ॥

निम्न वर्ण के व्यक्तियों द्वारा उच्च वर्ण के व्यक्तियों के साथ—शूद्रों द्वारा वैश्यों के साथ, वैश्यों द्वारा क्षत्रियों-ब्राह्मणों के साथ आदि—बैठने की चेष्टा करने पर अर्थात् अपने को उनके बराबर समझने पर राजा को जलती लौहशलाका से उनकी कमर को दाग़कर और उनके दोनों पार्श्वों को काटकर उन्हें अपने देश से निर्वासित कर देना चाहिए।

अवनिष्ठीवतो दर्पाद् द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः।
अवमूत्रयतः शिश्नमेवशब्दयतो गुदम् ॥ 27 ॥

राजा को अहंकारवश उच्च वर्ण के सभ्य पुरुषों पर थूकने वाले निम्न वर्ण-जाति वाले लोगों के दोनों होठों को और मूत्र फेंकने वालों के लिंग को काट देना चाहिए। उच्च वर्ण के लोगों के साथ मैथुन करने वालों की गुदा में तप्त लौहदण्ड घुसेड़ देना चाहिए।

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।
पादयोर्दाढिकायां तु ग्रीवायां वृषणेषु च ॥ 28 ॥

राजा को बिना सोच-विचार किये, तत्काल उच्च वर्ण-जाति के लोगों की मूछों, दाढ़ी, ग्रीवा, बालों, पैरों, अण्डकोषों तथा दाढ़ी आदि में हाथ डालने (पकड़ने) वाले शूद्रादि निम्न जाति के लोगों के हाथों को काट डालना चाहिए।

त्वक्छेदकः शतं दण्ड्यो लोहितस्य च दर्शकः।
मांसभेत्ता तु षन्निष्कान् प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः॥ 29॥

राजा को निम्न वर्ण-जाति के लोगों द्वारा उच्च वर्ण-जाति के लोगों का चर्मच्छेदन करने तथा रक्त बहाने पर अपराधियों से सौ पण तथा मांस-छेदन करने पर छह कनिष्क दण्ड के रूप में वसूल करने चाहिए। उच्च वर्ण-जाति वालों की हड्डी-पसली तोड़ने वाले निम्न वर्ण-जाति के लोगों को देशनिर्वासन का दण्ड देना चाहिए।

उपकृश्य तु राजानं कर्मणि स्वे व्यवस्थितम्।
जिह्वाछेदाद्भवेच्छुद्धः सर्वस्वहरणेन वा॥ 30॥

अपने कर्तव्य का भली-भांति निर्वाह करने वाले राजा की निन्दा करने वाले अथवा उसके विरुद्ध अण्टशण्ट बकने वाले की जिह्वा काट दी जाती है और उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जाती है।

राजनि प्रहरेद्यस्तु कृतागस्यपि दुर्मतिः।
शूले तमग्नौ विपचेद् ब्रह्महत्याशताधिकम्॥ 31॥

अपराध करने वाले राजा पर प्रहार करने वाले दुर्बुद्धि नीच व्यक्ति को या तो जीवित आग में जला देना चाहिए या फिर फांसी के फन्दे पर लटका देना चाहिए; क्योंकि राजा पर प्रहार सैकड़ों ब्रह्महत्याओं से भी कहीं अधिक भारी और निन्दनीय पापकृत्य है।

पुत्रापराधे न पिता नाश्वे न शुनि दण्डभाक्।
न मर्कटे च तत्स्वामी तेनैव प्रहितो न चेत्॥ 32॥

पिता द्वारा प्रेरणा-प्रोत्साहन पाये बिना, पुत्र द्वारा किये अपराध के लिए पिता को दण्डित नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार स्वामी के किसी प्रकार से लिप्त अथवा योग देने वाला न होने पर उसके पालतू पशु—अश्व, कुत्ता तथा वानर आदि—द्वारा किये गये उत्पात के लिए स्वामी को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

॥ चतुर्थ अध्याय का पञ्चदश प्रकरण समाप्त ॥

16. द्यूत-समाह्वय प्रकरण

अक्षबध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्।
पणक्रीडा वयोभिश्च पदं द्यूतसमाह्वयम्॥ 1॥

पण लगाकर और छल-कपट का प्रयोग करते हुए अक्षों—लकड़ी से बनी गोटियों (पासों) से वध्रों—चमड़ी से बनी पट्टियों से अथवा शलाकाओं—हाथी-दांत आदि से बनी कौड़ियों से खेलना अथवा दांव लगाकर पक्षियों—कबूतर, तोता, मैना, बटेर आदि को भिड़ाना और पशुओं—बैल, भैंसा, ऊंट तथा अश्व आदि को—दौड़ाना अथवा लड़ाना-भिड़ाना आदि द्यूत-समाह्वय कहलाता है।

सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत हृतम्।
दशकं च शतं वृद्धिस्तस्य स्याद् द्यूतकारिणः॥ 2॥

द्यूत-क्रीड़ा का संयोजक और नियन्त्रक सभिक कहलाता है, जो राजा द्वारा नियुक्त होता है और इस नियुक्ति के बदले वह राजा को निर्धारित कर का भुगतान करता है। द्यूतशाला में पराजित खिलाड़ी से धन लेकर और विजेता को देना सभिक का कर्तव्य होता है और इस सारी व्यवस्था के लिए वह विजेता से विजित राशि का दस प्रतिशत वसूल करता है।

द्विरभ्यस्ताः पतन्त्यक्षा गृहे यद्यक्षदेविनः।
जयं तस्यापरस्याहुः कितवस्य पराजयम्॥ 3॥

अक्षों-पासों से जुआ खेलने वाले के अक्ष के दो बार घोषित अथवा कल्पित अथवा निर्धारित अंक के अनुरूप सही पड़ने पर, अक्ष फेंकने वाला विजेता और अक्ष फेंकने की अनुमति-सहमति देने वाला पराजित माना जाता है।

कितवेष्वेव तिष्ठेरत् कितवाः संशयं प्रति।
त एव तस्य द्रष्टारस्त एव स्युस्तु साक्षिणः॥ 4॥

फेंके गये अक्ष के कल्पित अंक के अनुरूप पड़ने-न पड़ने के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देह अथवा विवाद के निराकरण के लिए दर्शकों के प्रत्यक्षदर्शी होने के कारण उनके वचन को प्रमाण मानना चाहिए।

अशुद्धः कितवो नान्यदाश्रयेद् द्यूतमण्डलम्।
प्रतिहन्यान्न सभिकं दापयेत्तम् स्वमिष्टतः॥ 5॥

एक द्यूतशाला में पराजित घोषित व्यक्ति को किसी दूसरी द्यूतशाला में द्यूतक्रीड़ा की अनुमति नहीं मिलती। द्यूत में पराजित व्यक्ति द्वारा धन देने से मुकरने की आशंका को समाप्त करने के लिए दोनों खिलाड़ियों से पहले ही दांव में लगायी धनराशि रखवा ली जाती है। इसी प्रकार विजेता द्वारा सभिक को उसका भाग देने से नकारने की आशंका को निर्मूल करने के लिए सभिक द्वारा अपना भाग पहले से काटकर शेष राशि विजेता को सौंपी जाती है।

कूटाक्षदेविनः पापान्निर्हरेद् द्यूतमण्डलात्।
कण्ठेऽक्षमालामासज्य स ह्येषु विनयः स्मृतः॥ 6॥

द्यूत-क्रीड़ा में बेईमानी तथा छल-कपट अथवा धोखा करने वाले के गले में अक्षमाला डालकर उसे द्यूतशाला से बाहर निकाल देना चाहिए। यही धूर्तता का दण्ड है।

अनिर्दिष्टस्तु यो राजा द्यूतं कुर्वीत मानवः।
न स तं प्राप्नुयात् काम विनयं चैव सोऽर्हति॥ 7॥

राजा से अनुमति (*लायसैंस*) प्राप्त किये बिना द्यूतशाला चलाने वाले को द्यूत खेलने वालों से कमीशन लेने का कोई अधिकार नहीं बनता। सत्य तो यह है कि राज-कर की चोरी करने वाला ऐसा व्यक्ति दण्ड का पात्र होता है।

अथवा कितवा राज्ञे दत्त्वा भागं यथोदितम्।
प्रकाशं देवनं कुर्युरेवं दोषो न विद्यते॥ 8॥

इसके विपरीत राजा से अनुमति-प्राप्त द्यूतशाला का सञ्चालक सभिक यदि विजेता से प्राप्त राशि में से कुछ अंश का भुगतान राजा को भी करता है, तो उसे खुले में भी खिलाड़ियों को द्यूत खिलाने की छूट होती है। इसके लिए उसे दोष नहीं दिया जाता।

॥ चतुर्थ अध्याय का षोडश प्रकरण समाप्त॥

17. प्रकीर्णक

प्रकीर्णके पुनर्ज्ञेयो व्यवहारो नृपाश्रयः।
राज्ञामाज्ञाप्रतीघातस्तत् कर्म करणं तथा॥ 1॥

प्रकीर्णक प्रकरण में राजा द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों से सम्बन्धित विषयों का विवेचन है। इसी के साथ राजा की आज्ञा के प्रतिपालन और उसके उल्लंघन के परिणाम पर भी विचार किया गया है।

पुरप्रदानं सम्भेदः प्रकृतीनां तथैव च।
पाषण्डनैगमश्रेणीगणधर्मविपर्ययः ॥ 2॥
पितापुत्रविवादश्च प्रायश्चित्तव्यतिक्रमः।
प्रतिग्रहविलोपश्च कोप आश्रमिणामपि॥ 3॥
वर्णसंकरदोषश्च तद्वृत्तिनियमस्तथा।
न दृष्टं यच्च पूर्वेषु ततसर्वं स्यात् प्रकीर्णके॥ 4॥

पूर्व प्रकरणों में अचर्चित निम्नोक्त विषयों पर प्रस्तुत प्रकीर्णक प्रकरण में विचार किया जा रहा है—

1. उपनगर (कालोनी) के निर्माण के लिए राजाज्ञा तथा राजकीय आर्थिक अनुदान।

2. प्रजाजनों का (आर्थिक, वर्ण-गत, जाति-गत, धर्म-गत, सम्प्रदाय-गत तथा व्यवसाय-गत आदि) विभिन्न आधारों पर विभागीकरण।

3. वेद-विरुद्ध सम्प्रदायों—पाखण्ड, नैगम, श्रेणी और गण आदि—के सम्बन्ध में दृष्टिकोण और व्यवहार-नियम आदि।

4. पिता-पुत्र के मध्य उत्पन्न विवाद और उसका निपटारा।

5. प्रायश्चित्त के उल्लंघन का दण्ड।

6. आश्रमवासियों को दी जाने वाली सुविधाओं को प्रतिबन्धित करना, स्वीकृत अनुदान का प्रत्यावर्तन (रोक लगाना) तथा उनके विरुद्ध कार्यवाही करना।

7. वर्णसंकरों द्वारा नियम, मर्यादा का अतिक्रमण तथा

8. वर्णसंकरों की वृत्ति के स्रोत आदि।

इन विषयों पर पहले चर्चा नहीं की जा सकी, परन्तु इससे इन विषयों का

महत्त्व कम नहीं हो जाता। ये विषय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होने के कारण विचारणीय हैं। अतः प्रकीर्णक प्रकरण में इन्हीं पर विचार किया जा रहा है।

राजा त्ववहितः सर्वानाश्रमान् परिपालयेत्।
उपायैः शास्त्रविहितैश्चतुर्भिः प्रकृतीस्तथा॥ 5॥

राजा को अत्यन्त सावधान रहते हुए चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों से अपने लिए शास्त्रोक्त तथा लोक-परम्परा से प्रचलित विधानों-नियमों का पालन कराना चाहिए। इसके अतिरिक्त राजा को अपनी प्रजा के लोगों को राजनीति के चार—साम, दान, भेद तथा दण्ड—उपायों से विनीत एवं अनुशासित बनाना चाहिए।

यो यो वर्णोऽपहीयेत यो च उद्रेकमाप्नुयात्।
तं तं दृष्ट्वा स्वतो मार्गात् प्रच्युतं स्थापयेत् पथि॥ 6॥

राजा को अपने वर्ण-धर्म से स्खलित होने वालों को तथा अपने वर्ण-धर्म से भिन्न आचरण करने वालों को कठोरतापूर्वक अपने वर्ण-धर्म के आचरण में प्रवृत्त करना चाहिए। मार्ग-भ्रष्टों को सही मार्ग पर लाना राजा का धर्म-कर्म है, इसीलिए उसे दण्डित करने का अधिकार भी दिया गया है।

अशास्त्रोक्तेषु चान्येषु पापयुक्तेषु कर्मसु।
प्रसमीक्ष्यात्मना राजा दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥ 7॥

राजा को अशास्त्रोक्त अथवा शास्त्रविरुद्ध अथवा अन्यान्य पापकर्मों में लिप्त लोगों को समझा-बुझाकर न्याय-पथ पर लाना चाहिए। समझाने-बुझाने पर काम न चलने पर, राजा को दुष्टों को दण्डित करने में संकोच नहीं करना चाहिए। वस्तुतः दण्ड की उपयोगिता ही शास्त्रमर्यादा को व्यवस्थित करना है।

श्रुतिस्मृतिविरुद्धं यद् भूतानामहितं च यत्।
न तत् प्रवर्तयेद्राजा प्रवृत्तं च निवर्तयेत्॥ 8॥

राजा को शास्त्र-विरुद्ध, लोकाचार-विरुद्ध अथवा परम्परा-विरुद्ध अथवा जन-साधारण के हित के विरुद्ध आचरण करने वालों की किसी भी रूप में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि थोड़ी-सी छूट पाते ही दुष्ट कई बार इतने उद्धत हो जाते हैं कि उनका दमन करना एक समस्या बन जाती है। राजा को तो जनहितविरोधी गतिविधियों में लिप्त लोगों को ऐसी कठोरता से दबाना चाहिए कि दूसरे उसमें प्रवृत्त होने का साहस ही न जुटा सकें।

न्यायापेतं यदन्येन राज्ञाऽज्ञानकृतं भवेत्।
तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत्॥ 9॥

राजा को जाने-अनजाने ग़लत पथ का अनुसरण करने वाले अपने प्रजाजनों को सभी सुलभ साधनों से न्याय-मार्ग पर लाना चाहिए। सत्य तो यह है कि इस ओर ध्यान न देने वाले राजा को राजा बनने अथवा कहलाने का अधिकार ही नहीं।

आयुधान्यायुधीयानां शिल्पद्रव्याणि शिल्पिनाम्।
वेश्यास्त्रीणामलंकारं वाद्यातोद्यादि तद्विदाम्॥ 10॥
यच्च यस्योपकरणं येन जीवन्ति कारवः।
सर्वस्वहरणेऽप्येतान्न राजा हर्तुमर्हति॥ 11॥

गलत राह पर चल रहे लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए दण्ड-स्वरूप सुधारने का प्रयास करते राजा को लोगों से उनकी आजीविका के साधन कभी नहीं छीनने चाहिए। उदाहरणार्थ, शस्त्रों के व्यापारियों (आयुधजीवियों से उनके शस्त्र तथा शस्त्र-निर्माण में सहायक सामग्री, शिल्पियों से उनके शिल्प-कर्म में प्रयुक्त होने वाला सामान, वेश्याओं से उनके आभूषण तथा वादकों—गाने-बजाने से आजीविका चलाने वालों—से उनके वाद्ययन्त्र बाजा, ढोलक, तुरही तथा बांसुरी आदि।

अनिर्देश्यावनिन्द्यौ च राजा ब्राह्मण एव च।
दीप्तिमत्वाच्छुचित्वाच्च यदि न स्यात् पथश्च्युतः॥ 12॥

अपने कर्तव्य-कर्म के निर्वहण में कोताही न करने वाले तथा अत्यन्त सावधानी से प्रजा का रञ्जन-पालन करने वाले राजा की और विद्वान्, आचारनिष्ठ एवं वेदपाठी ब्राह्मण की निन्दा अथवा अवज्ञा कभी नहीं करनी चाहिए। वस्तुतः न्यायपूर्वक प्रजापालन से ही राजा तथा दीप्तिमान् व शुद्ध आचरण से ही ब्राह्मण पवित्र एवं पूज्य बनता है।

राज्ञा प्रवर्तितान् धर्मान् यो नरो नानुपालयेत्।
दण्ड्यः स पापो वध्यश्च कोपयन् राजशासनम्॥ 13॥

धर्मनिष्ठ राजा द्वारा प्रवर्तित नियमों का पालन न करके, उनकी अवज्ञा करने वाले प्रजाजन अपने को दण्डनीय एवं वध के योग्य बनाते हैं। वस्तुतः राजा के आदेशों का पालन न करना राजा को कुपित करने-जैसा पाप है और इसके लिए कोई भी दण्ड कम है।

यदि राजा न सर्वेषां वर्णानां दण्डधारणम्।
कुर्यात् पथो व्यपेतानां विनश्येयुरिमाः प्रजाः॥ 14॥

पथभ्रष्टों के साथ कठोर व्यवहार करना तथा उन्हें दण्डित करना तो राजा की विवशता है; क्योंकि इस विषय में राजा के द्वारा थोड़ी-सी छूट दिये जाने का परिणाम भी अत्यन्त भयंकर होता है। बुराई अपना विस्तार इस प्रकार कर लेती है कि फिर उसे मिटाना कठिन हो जाता है। सुधार के लिए निरन्तर सावधान रहना पड़ता है। पतन का मार्ग तो सदैव खुला रहता है।

ब्राह्मण्यं ब्राह्मणो जह्यात् क्षत्रियः क्षात्रमुत्सृजेत्।
शूले मत्स्यानिवाश्नीयुर्दुर्बलान् बलवान्नराः॥ 15॥

राजा के द्वारा धर्म की स्थापना के लिए सावधान न रहने पर ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के लोग, न केवल अपने नियत-धर्म के पालन में शिथिल एवं उदासीन हो जाते हैं, अपितु 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' न्याय के अनुसार जंगल का राज्य स्थापित हो जाता है और फिर बड़ी मछली छोटी मछली को निगलने में देर नहीं करती।

स्वकर्म जह्याद्वैश्यस्तु शूद्रः सर्वं विशेषयेत्।
राजानश्चेन्नाकरिष्यन् प्रजानां दण्डधारणम्॥ 16॥

राजा द्वारा प्रजाजनों को धर्मनिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण बनाने के प्रति ढील बरतने पर तो वैश्य अपने व्यवसाय को और शूद्र द्विजों की सेवा-कर्म को छोड़ देते हैं। बलवान् लोग कांटे में मछलियों को पकड़ने के समान दुर्बलों को सताने लगते हैं।

सतामनुग्रहो नित्यमसतां निग्रहस्तथा।
एष धर्मः स्मृतो राज्ञामर्थश्चामित्रपीडनात्॥ 17॥

राजा को यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि सज्जनों पर अनुग्रह करना, दुष्टों का निग्रह करना तथा शत्रुओं का वध करना न केवल उनका धर्म है, अपितु राज्य का आर्थिक विकास भी राजा के इसी कर्तव्यपालन पर आधृत है।

न लिप्यते यथा वह्निर्दहन्शश्वदपि प्रजाः।
न लिप्यते तथा राजा दण्डं दण्ड्येषु पातयन्॥ 18॥

जिस प्रकार असंख्य भवनों को दग्ध करने पर भी अग्नि की न तो कोई निन्दा करता है और न ही कोई उसके बहिष्कार की कभी सोचता है, उसी प्रकार दुष्टों को दण्ड देने वाला राजा भी, न निन्दा का पात्र बनता है और न ही पाप का भागी होता है।

प्रज्ञा तेजः पार्थिवानां सा च वाचि प्रतिष्ठिता।
ते यद्ब्रूयुरसत्सद्वा स धर्मो व्यवहारिणाम्॥ 19॥

राजा के द्वारा दिये जाने वाले आदेशों-निर्देशों में ही उसके विवेक और तेज के दर्शन होते हैं। जिस राजा के आदेश का प्रजा श्रद्धापूर्वक आंख मूंदकर पालन करती है, वही राजा बुद्धिमान् और प्रतापी माना जाता है।

राजेति सञ्चरत्येष भूमौ साक्षात् सहस्रदृक्।
न तस्याज्ञामतिक्रम्य सन्तिष्ठेरन् प्रजाः क्वचित्॥ 20॥

राजा इस पृथ्वी पर साक्षात् सहस्राक्ष (इन्द्र) है, वह अपने हज़ारों नेत्रों से सर्वत्र सञ्चार करता और सभी कुछ देखता है। उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने से तो प्रजाजनों में शान्ति स्थापित हो ही नहीं सकती।

रक्षाधिकारादीशत्वाद् भूतानुग्रहदर्शनात्।
यदेव कुरुते राजा तत्प्रमाणमिति स्थितिः ॥ 21 ॥

असहायों-दुर्बलों के जीवन, सम्मान और वैभव आदि की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से दूसरों को दण्ड देने आदि के रूप में राजा के द्वारा किये सभी कार्यों को न्यायसंगत व उचित ठहराकर प्रमाण-रूप में ही ग्रहण किया जाता है।

निर्बलोऽपि यथा स्त्रीणां पूज्य एव पतिः सदा।
प्रजानां विगुणोऽप्येवं पूज्य एव प्रजापतिः ॥ 22 ॥

जिस प्रकार स्त्री के लिए शारीरिक अथवा मानसिक रूप से दुर्बल एवं अल्पबुद्धि होने पर भी पति पूज्य होता है, उसी प्रकार राजा में किसी दोष के दृष्टिगोचर होने पर भी वह प्रजाजनों के लिए आराधनीय होता है।

राज्ञामाज्ञाभयाद् यस्मान्नच्यवेरन् पथः प्रजाः।
व्यवहारादतो ज्ञेयं संवृत्तं राजशासनम् ॥ 23 ॥

राजा की आज्ञा के अतिक्रमण से जुड़े दण्ड-भोग के भय से ही प्रजाजन न्याय का परित्याग और अन्याय का अभिनन्दन नहीं करते। इसी सन्दर्भ में राजा की आज्ञा—सरकारी आदेश-निर्देश—के पालन को प्रजाजनों के लिए सर्वोत्तम धर्म तथा प्राथमिक कर्तव्य-कर्म मानना पड़ता है।

स्थित्यर्थं पृथिवीपालैश्चरित्रविषयाः कृताः।
चरित्रेभ्योऽस्य तत्प्राहुर्गरीयो राजशासनम् ॥ 24 ॥

महाराज मनु द्वारा प्रस्तुत धर्म के लक्षण—श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा निजी विवेक के सन्दर्भ में देवर्षि नारद का कथन है कि यद्यपि वेद, शास्त्र, महापुरुषों का आदर्श तथा व्यक्ति का अपना विवेक आदि भी न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित तथा सत्य-असत्य के निर्णायक तत्त्व माने गये हैं, पुनरपि राजा द्वारा विशेषज्ञों से परामर्श के उपरान्त निर्धारित नियम (राजाज्ञा) का महत्त्व सर्वाधिक है।

तपः क्रीताः प्रजा राज्ञा प्रभुरासां ततो नृपः।
ततस्तद्वचसि स्थेयं वार्ता चासां तदाश्रया ॥ 25 ॥

राजा को पूर्वजन्मों की तपस्या के पुरस्कार-स्वरूप ही प्रजाओं पर शासन करने का अधिकार प्राप्त होता है। राजा द्वारा संरक्षण प्राप्त होने से प्रजा का व्यापार, कृषि-कर्म तथा वाणिज्य आदि सही ढंग से चलते हैं, अर्थात् सुख, शान्ति और समृद्धि का पथ प्रशस्त होता है। अतः राजा के अनुशासन में रहना व उसकी आज्ञा का पालन करना प्रजा के अपने हित में है।

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौ जसः।
अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च ॥ 26 ॥

राजा पांच देवों—अग्नि, इन्द्र, सोम, यम तथा कुबेर—का अंशधारी होने से

पृथिवी पर इनका प्रतिनिधि होता है और इसीलिए उसका तेज अपरिमित होता है।

कारणादनिमित्तं वा यदा क्रोधवशं गतः।
प्रजा दहति भूपालस्तदाग्निरभिधीयते॥ 27॥

अकारण क्रुद्ध होकर निर्दोष, निरपराध एवं असहाय प्रजाजनों को पीड़ित करने वाला राजा अग्नि-रूप कहा जाता है।

यदा तेजः समालम्ब्य विजिगीषुरुदायुधः।
अभियाति परान् राजा तदेन्द्रः स उदाहृतः॥ 28॥

अपनी तेजस्विता का स्मरण कर और आयुधों से सन्नद्ध होकर शत्रुओं के दमन करने को कटिबद्ध राजा इन्द्र-रूप कहलाता है।

विगतक्रोधसन्तापो हृष्टरूपो यदा नृपः।
प्रजानां दर्शनं याति सोम इत्युच्यते तदा॥ 29॥

क्रोध, शोक और सन्ताप आदि का परित्याग कर प्रसन्नचित्त होकर उल्लसित भाव से प्रजाजनों से भेंट करने वाला राजा सोम-रूप कहलाता है।

धर्मासनगतः श्रीमान्दण्डं धत्ते यदा नृपः।
समः सर्वेषु भूतेषु तदा वैवस्वतः स्मृतः॥ 30॥

न्यायाधीश के रूप में न्यायपीठ पर विराजमान होकर तटस्थ भाव से विवादों को सुनने और वास्तविक अपराधी को दण्ड देने के लिए उद्यत तथा सभी प्रजाजनों के प्रति समदृष्टि रखने वाला राजा विवस्वान् (यम) कहलाता है।

यदा त्वर्थिगुरुप्राज्ञभृत्यादीन् पृथिवीपतिः।
अनुगृह्णाति दानेन तदा स धनदः स्मृतः॥ 31॥

आवश्यकता वालों, अभावग्रस्तों, भृत्यों, याचकों, गुरुजनों और विद्वानों को दान-मान आदि देकर अनुग्रह प्रकट करने वाला राजा कुबेर-रूप होता है।

तस्मात्तं नावजानीयान्नाक्रोशेच्च विशेषतः।
आज्ञायां चास्य तिष्ठेत् मृत्युः स्यात्तद्व्यतिक्रमात्॥ 32॥

इस प्रकार पांच देवों के अंशधारी पांच रूपों वाले राजा की आज्ञा का पालन करना प्रजाजनों को अपने लिए अनिवार्य धर्म मानना चाहिए। राजाज्ञा के अतिक्रमण का दण्ड तो निश्चित रूप से मृत्यु ही है।

तस्य धर्मः प्रजारक्षा वृद्धप्राज्ञोपसेवनम्।
दर्शनं व्यवहाराणामुत्थानं च स्वकर्मसु॥ 33॥

राजा अनेक रूपों में प्रजा का बहुत उपकार करता है—

1. वह प्रजा के प्राण, सम्मान और सम्पत्ति आदि की रक्षा करता है। राजा जागता है, तभी प्रजाजन निश्चिन्त होकर सोते और अपना व्यापार-धन्धा करते हैं।

2. राजा साधनहीन वृद्धों और विद्वानों को आर्थिक अनुदान प्रदान करके

उनका पालन-पोषण करता है।

3. राजा ही प्रजाजनों में उठने वाले विवादों (व्यवहारों) को सुनता है, सत्य-असत्य का निर्णय करता है तथा अपराधी को दण्ड देता है।

4. राजा ही प्रजाजनों की आर्थिक समृद्धि के लिए विविध योजनाएं बनाता है और उन योजनाओं की पूर्ति के लिए साधन जुटाता है तथा धन की व्यवस्था करता है।

ब्राह्मणानुपसेवेत नित्यं राजा समाहितः।
संयुक्तं ब्राह्मणैः क्षात्रं मूलं लोकाभिवृद्धये॥ 34॥

राजा को ब्राह्मणों के सम्मान की रक्षा के लिए नित्य-प्रति अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। उसे यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि ब्राह्मणों की कृपा बने रहने पर ही राजा अपने क्षत्रिय-धर्म का सफलतापूर्वक निर्वाह कर सकता है। ब्राह्मणों के रुष्ट होने पर तो राजा के लिए अपनी सत्ता को बचा पाना ही सम्भव नहीं होता।

ब्राह्मणस्यापरीहारो राजन्यासनमग्रतः।
प्रथमं दर्शनं प्रातः सर्वेभ्यश्चाभिवादनम्॥ 35॥

विचारक के रूप में न्यायपीठ पर बैठते समय राजा को ब्राह्मणों—बुद्धिजीवी शास्त्रज्ञ विद्वानों—को अपने से ऊंचे आसन पर बिठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त राजा को प्रतिदिन प्रातःकाल राज्यसभा में जाने से पूर्व ब्राह्मणों का दर्शन, उन्हें प्रणाम करना और उनका आशीर्वाद लेना चाहिए।

अग्रं नवभ्यः सप्तभ्यः मार्गदानं च गच्छतः।
भैक्षहेतोः परागारे प्रवेशस्त्वनिवारितः॥ 36॥

राजमार्ग, नौकायन तथा अन्य वाहन मार्गों पर संकरा मार्ग आ जाने पर ब्राह्मणों—भले ही वह सात हों अथवा नौ, अर्थात् अधिक संख्या में ही क्यों न हों और इसके लिए दूसरे यात्रियों को असुविधा, कष्ट और विलम्ब ही क्यों न होता हो—को पहले जाने देना चाहिए। इसके अतिरिक्त भिक्षा मांगने वाले ब्राह्मण को किसी भी घर में प्रवेश करने से नहीं रोकना चाहिए।

समित्पुष्पोदकादानेष्वस्तेयं स्वपरिग्रहम्।
अनपेक्षः परमेभ्यः सम्भाषणश्च परस्त्रिया॥ 37॥

अपने यज्ञ-भोग तथा पूजा-पाठ के लिए समिधाएं, पुष्प और जल आदि इनके स्वामी से बिना पूछे अपने आप लेने वाले ब्राह्मण पर चोरी का आरोप नहीं लगाया जा सकता। इसी प्रकार परमुखापेक्षी न बनने की इच्छा से पर-स्त्री से भाषण करने वाले ब्राह्मण की विरोधियों द्वारा भी निन्दा नहीं की जा सकती; क्योंकि आचारनिष्ठ और चरित्रवान् होना तो ब्राह्मणत्व का प्रथम लक्षण है।

नदीष्ववेतनस्तारः पूर्वमुत्तारणं तथा।
तरेष्वशुल्कदानं च वाणिज्यायां भवेत् स्थितिः॥ 38॥

नदी पार कराने पर ब्राह्मण से शुल्क नहीं लेना चाहिए और उसे नौका में सबसे पहले उत्तम स्थान पर बिठाना और सबसे पहले उतारना चाहिए। ब्राह्मण द्वारा वाणिज्य-व्यापार की वस्तुओं की ख़रीद पर भी उससे सीमा-शुल्क तथा बिक्रीकर आदि वसूल नहीं करने चाहिए।

वर्तमानोऽध्वनि श्रान्तो गृहान्ननशनः स्वयम्।
ब्राह्मणो नापराधी स्याद् द्वाविक्षू द्वे च मूलके॥ 39॥

मार्ग चलते और थकने से विश्राम करते ब्राह्मण द्वारा क्षुधा-निवृत्ति के लिए समीपस्थ खेत से फल, मूल, कन्द आदि ले लेने पर उसे अपराधी नहीं मानना चाहिए।

नाभिशस्तान्न पतितान्न द्विषो नापि नास्तिकात्।
नावसन्नान्निर्निमित्तं दातारं न प्रपीड्य च॥ 40॥

राजा को निम्रोक्त व्यक्तियों को पीड़ित एवं भयभीत नहीं करना चाहिए—

1. लोक में निन्दित व अपने चरित्र के कारण दूषित।

2. पतित, अर्थात् भ्रष्ट आचरण के कारण जाति से बहिष्कृत।

3. घोषित एवं सर्वजनविदित शत्रु।

4. नास्तिक, अर्थात् वेदों की अपौरुषेयता तथा ईश्वर की सत्ता में विश्वास न रखने वाला।

5. अवसन्न, अर्थात् एक के बाद दूसरे संकट, शोक और दुःखादि का शिकार बना व्यक्ति तथा

6. विशेष निमित्त के बिना, अर्थात् प्रतिदिन दान करने वाला उदार मनस्वी।

इन लोगों पर लगे सच्चे-झूठे, छोटे-मोटे अपराध के लिए इन्हें पीड़ित करने से राजा कलंकित हो जाता है।

अर्थिनां भूरिभावाच्च देयत्वाच्च महात्मनाम्।
श्रेयान् परिग्रहो राज्ञां सर्वेषां ब्राह्मणादृते॥ 41॥

राजा को याचकों को प्रतिदिन दान देने वाले उदार धनिकों, महात्माओं तथा ब्राह्मणों को छोड़कर शेष सभी प्रजाजनों से कर वसूल करने और धन लेने का पूरा-पूरा अधिकार है।

ब्राह्मणश्चैव राजा च द्वावप्येतौ दृढव्रतौ।
नानयोरन्तरं किञ्चित् प्रजा धर्मेण रक्षतोः॥ 42॥

अपने-अपने धर्म और कर्तव्य का दृढ़ता से पालन करने वाले तथा निर्दिष्ट मार्ग से कभी च्युत न होने वाले दोनों—राजा और ब्राह्मण—अभिनन्दनीय होते हैं। इन्हीं दोनों पर प्रजा की रक्षा का और प्रजा को समुचित मार्ग दिखाने का दायित्व

होता है। अपने इस दायित्व को निभाने वाले ये दोनों ही श्रेष्ठ होते हैं।

धर्मज्ञस्य कृतज्ञस्य रक्षार्थं शासतोऽशुचीन्।
मेध्यमेव धनं प्राहुस्तीक्ष्णस्यापि महीपतेः ॥ 43 ॥

धर्मनिष्ठ, कर्तव्यपालक, दीन-दुखियों की सेवा-सहायता के प्रति समर्पित, दुर्बलों-असहायों के रक्षक तथा दुष्ट-अपराधियों का दमन करने वाले राजा के धन जुटाने व कर वसूल करने में उग्र होने पर भी उसका धन पवित्र होता है।

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः।
स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ 44 ॥

लोभवश शास्त्र-मार्ग को छोड़कर राजा से छल-कपट, द्रोह एवं मक्कारी करने वाला दुष्ट व्यक्ति क्रमानुसार इक्कीस नरकों की यातना को झेलता है।

शुचीनामशुचीनां च सन्निपातो यथाम्भसाम्।
समुद्रे समतां याति तद्वद्राज्ञो धनागमः ॥ 45 ॥

जिस प्रकार पवित्र अथवा दूषित जल समुद्र में गिरकर समुद्र का भाग, अर्थात् पवित्र बन जाता है, उसी प्रकार सज्जन से अथवा दुर्जन से, पापकर्मा व्याध से अथवा वधिक से वसूल किया गया धन राजकोष में जाते ही पवित्र हो जाता है।

टिप्पणी—लगता है कि नारदस्मृति की रचनाकाल तक गंगा का महत्त्व स्थापित नहीं हो पाया था, अन्यथा हिन्दी के कृष्णभक्त कवि सूरदास की पंक्तियां 'नारदस्मृति' में प्रतिध्वनित होतीं—

प्रभु जी मेरे औगुन चित्त न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो चाहो तो पार करो ॥

अपने कथन का समर्थन सूरदास इन शब्दों में करते हैं—

इक नदी एक नार (नाला) कहावत, मैला ही नीर भर्यो।
गंग में मिलि दोउ गंग भयो है, भेद कछू न रह्यो ॥

यथा ह्यग्नौ स्थितं दीप्ते शुद्धिमायाति काञ्चनम्।
एवं धनागमाः सर्वे शुद्धिमायान्ति राजसु ॥ 46 ॥

जिस प्रकार अग्नि में डालने पर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार राजकोष में आने पर सभी प्रकार का (काला अथवा सफ़ेद) धन शुद्ध-पवित्र हो जाता है।

य एव कश्चित् स्वद्रव्यं ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति।
तद्राज्ञाप्यनुमन्तव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ 47 ॥

ब्राह्मणों को दान-पुण्य करने वाले उदार धनिकों को इसके लिए राजा से पूर्व अनुमति लेनी चाहिए और राजा को इसकी सहर्ष स्वीकृति देनी चाहिए—यही सनातन व्यवस्था है।

टिप्पणी—आज की भाषा में, यदि धनिक अपने काले धन को ब्राह्मणों को

दान आदि देने के रूप में सफ़ेद करना चाहता है और कर में छूट पाने का इच्छुक है, तो उसे प्रशासन द्वारा दानियों को आयकर में छूट की अनुमति-प्राप्त संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

अन्यप्रकारादुचिताद् भूमेः षड्भागसंज्ञितात्।
बलिः स तस्य विहितः प्रजापालनवेतनम्॥ 48॥

भूमि की उपज का षष्ठांश (1/6वां भाग) भूमि-कर के रूप में राजा को चुकाना किसानों-भू-स्वामियों का कर्तव्य-कर्म है। वस्तुतः प्रजापालन करने में तथा राजा की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति पर व्यय होने वाले धन की पूर्ति प्रजा को ही तो करनी होती है।

शक्यं तत् पुनराहर्तुं यन्न ब्राह्मणसात्कृतम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तु यद्दत्तं न तस्याहरणं पुनः॥ 49॥

ब्राह्मणों को देने का संकल्प करके उन्हें न देने वालों से संकल्पित धन ब्राह्मणों को दिलाया तो जा सकता है, परन्तु एक बार ब्राह्मणों को दिया गया धन किसी भी स्थिति में वापस नहीं लिया जा सकता।

दानमध्ययनं यज्ञः कर्मास्योक्तं त्रिलक्षणम्।
याजनाध्यापने वृत्तिस्तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥ 50॥

वेदों का अध्ययन, यज्ञ-यागादि सम्पन्न करना तथा दान देना ब्राह्मण के नित्यकर्म हैं। इसमें इच्छा-अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। ये तीनों तो अनिवार्य रूप से ब्राह्मण को प्रतिदिन करने ही हैं। हां, यज्ञ करना, विद्या-अध्यापन तथा दान लेना—ये तीनों उसकी वृत्ति से जुड़े हैं। इन तीनों को अपनी सुविधा, आवश्यकता और रुचि के अनुरूप अपनाने-न अपनाने को वह पूर्ण स्वतन्त्र है।

स्वधर्मे ब्राह्मणस्तिष्ठेद्वृत्तिमाहारयेन्नृपात्।
नासद्भ्यः परिगृह्णीयाद्वर्णेभ्यो नियमे सति॥ 51॥

यदि अपने व्रत-नियम का पालन करने वाले आचारवान् ब्राह्मण का सज्जनों के दान आदि से निर्वाह नहीं हो पाता, तो उसे राजा से वृत्ति पाने के लिए प्रयास करना चाहिए, परन्तु किसी असद्वृत्ति वाले—काला धन्धा करने वाले—व्यक्ति से कभी धन ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण को केवल धर्म और न्याय से अर्जित धन का ही दान लेना चाहिए। जीवन-निर्वाह के लिए ऐसे धन के अपर्याप्त होने पर नौकरी कर लेनी चाहिए, परन्तु किसी भी रूप में दूषित धन को ग्रहण करने के लिए उद्यत नहीं होना चाहिए।

अशुचिर्वचनाद् यस्य शुचिर्भवति मानवः।
शुचिश्चैवाशुचिः सम्यक् कथं राजा न दैवतम्॥ 52॥

जिस राजा के कथन पर अपवित्र व्यक्ति पवित्र और पवित्र व्यक्ति अपवित्र माना जाता है, ऐसे राजा को भला देवता कैसे नहीं मानना चाहिए।

टिप्पणी—राजा जिसे सम्मानित-पुरस्कृत करता है, लोक और समाज उसे यशस्वी और प्रतिष्ठित मानकर सिर आंखों पर बिठाता है। इसके विपरीत प्रशासन द्वारा अपमानित अथवा दण्डित व्यक्ति समाज में मुख दिखाने के योग्य नहीं रहता। समाज को राजा की कार्यवाही पर विश्वास रहता है। इस प्रकार प्रजाजनों के सम्मान-अपमान, यश-अपयश के आधारभूत राजा को देवस्वरूप माना जाता है।

2. आज तो 'राजा' की संस्था नेपाल, भूटान आदि तथा दो-चार मुस्लिम देशों में ही जीवित है। अधिकांश देशों ने तो अन्यान्य शासन-प्रणालियां अपना ली हैं।

विदुर्य एव देवत्यं राज्ञो ह्यमिततेजसः।
तस्य ते प्रतिगृह्णन्तो न लिप्यन्ते कथञ्चन॥ 53॥

राजा को अमित तेजस्वी तथा देव-स्वरूप मानने वाले व्यक्ति उसकी अवज्ञा करने अथवा उसे धोखा देने की कभी कल्पना तक नहीं करते।

लोकेऽस्मिन्मङ्गलान्यष्टौ ब्राह्मणो गौर्हुताशनः।
हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाष्टमः॥ 54॥

इस संसार में निम्नोक्त आठ द्रव्यों को अत्यन्त पवित्र, पूज्य एवं मंगलसूचक माना जाता है—1. ब्राह्मण, 2. गाय, 3. अग्नि, 4. सुवर्ण, 5. घृत, 6. सूर्य, 7. जल तथा 8. राजा।

इन आठों की अवज्ञा घोर पाप है।

एतानि सततं पश्येन्नमस्येदर्चयेत् स्वयम्।
प्रदक्षिणं च कुर्वीत यथास्यायुः प्रवर्धते॥ 55॥

अपनी आयु-वृद्धि, सुख-समृद्धि तथा स्वास्थ्य-शान्ति को सुनिश्चित करने के लिए इन आठों का नित्यप्रति दर्शन, अर्चन व नमन करने के अतिरिक्त इनकी प्रदक्षिणा, अर्थात् पूजन भी करना चाहिए।

॥ चतुर्थ अध्याय का सप्तदश प्रकरण समाप्त॥

18. परिशिष्ट

भांति-भांति के तस्करों के प्रकार

द्विविधास्तस्करा ज्ञेयाः परद्रव्यापहारिणः।
प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्च तान् विद्यादात्मवान्नृपः॥ 1॥

दूसरे के द्रव्य का अपहरण करने वाले तस्कर—चोर, डाकू—कहलाते हैं। विवेकशील राजा को जान लेना चाहिए कि ये तस्कर दो प्रकार के होते हैं—1. गुप्त अथवा प्रच्छन्न तस्कर तथा 2. प्रकाश-तस्कर, अर्थात् सर्वजनविदित।

प्रकाशवञ्चकास्ते तु कूटमानतुलाश्रिताः।
उत्कोचकाः साहसिकाः कितवाः पण्ययोषितः॥ 2॥

प्रकाश-तस्करों के कुछ रूप-भेद इस प्रकार हैं—

1. माप-तौल में छल-कपट द्वारा न्यूनाधिक करना।

2. किसी कार्य को पूरा करने-कराने के लिए घूस लेना।

3. किसी उचित-अनुचित कार्य को करने के लिए दूसरे को विवश करना, अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना, साहसिक पग उठाना, अर्थात् वध करने व अंग भंग करने-जैसी धमकी देकर काम निकालना।

4. द्यूत-क्रीड़ा में लिप्त होना तथा हेरा-फेरी करना।

5. वेश्या—सम्पन्न युवकों को चरित्रभ्रष्ट करने वाली—नगरवधू।

6. अपनी बौद्धिक चातुरी से नक़ली वस्तु को असली बताकर बेचना तथा

7. भोले-भाले लोगों के हितचिन्तक बनकर उन्हें ठगना, मूर्ख बनाना और इस प्रकार अपनी आजीविका चलाना।

प्रतिरूपकराश्चैव मङ्गलादेशवृत्तयः।
इत्येवमादयो ज्ञेयाः प्रकाशलोकतस्कराः॥ 3॥

निम्नोक्त ढंग से चोरी-हेराफेरी करने वाले धूर्त व्यक्ति प्रच्छन्न-तस्कर (छिपे चोर-डाकू—गुप्त रूप से काम-धन्धा करने वाले) कहलाते हैं।

1. स्वयं घर, दुकान आदि के बाहर रहकर, दूसरों को भीतर घुसाकर अथवा दूसरों को बाहर रखवाली के लिए खड़ा कर स्वयं भीतर प्रविष्ट होकर चोरी करना।

2. स्वामी की अनुपस्थिति में अथवा उसका ध्यान बंटाकर अथवा उसकी

दृष्टि बचाकर दूसरे के सामान को उड़ा लेना।

3. देश, ग्राम अथवा भवन में गुप्त रूप से तोड़-फोड़ करना, आग लगाना तथा सेंध मारना आदि।

4. यज्ञ-विध्वंस करना।

5. तारों, रज्जुओं आदि के जोड़ों (गाठों) को क्षति पहुंचाना तथा

6. असावधान अथवा सोये हुए लोगों पर आक्रमण करना, उन्हें धर-दबोचना अथवा गुप्त रूप से हत्याएं करना आदि।

अप्रकाशाश्च विज्ञेया बहिरभ्यन्तराश्रिताः।
मुष्यां प्रसस्ताश्च नरा मुष्णन्त्याक्रम्य चैव ते॥ 4॥

देशग्रामगृहघ्नाश्च यज्ञघ्ना ग्रन्थिमोचकाः।
इत्येवमादयो ज्ञेयाः अप्रकाशाश्च तस्कराः॥ 5॥

न त्वहोढान्विताश्चौरा वध्या राज्ञा ह्यनागसः।
सहोढान् स्तेयकरणात् क्षिप्रं चौरान् प्रशासयेत्॥ 6॥

चोरी हुए सामान के न मिलने पर सन्देह में पकड़े गये चोर को दण्डित नहीं करना चाहिए तथा चोरी के सामान के साथ पकड़े गये चोर को दण्डित करने में किसी प्रकार की ढील नहीं करनी चाहिए।

स्वदेशघातिनो ये स्युस्तथा यज्ञावरोधिनः।
तेषां सर्वस्वमादाय भूयो निन्दां प्रकल्पयेत्॥ 7॥

अपने देश में तोड़-फोड़ करने वालों, अराजकता फैलाने वालों तथा यज्ञ-यागादि में विघ्न-बाधा डालने वालों का सर्वस्व (सारी सम्पत्ति) छीनकर उन्हें सार्वजनिक रूप से निन्दित-अपमानित करना चाहिए।

आज की भाषा में सार्वजनिक स्थान पर उनके फ़ोटो सहित इश्तहार लगवाने चाहिए, जिसमें उनके कारनामों का वर्णन रहना चाहिए। समाचार-पत्रों में उनकी निन्दा प्रकाशित करवानी चाहिए। इस प्रकार उन्हें समाज में मुंह दिखाने योग्य नहीं रहने देना चाहिए।

अहोढान्विमृशेच्चौरान् गृहीतान् यदि शङ्कया।
भयोपधाभिश्चिन्ताभिर्ब्रूयुस्तथा यथा कृतम्॥ 8॥

चोरी के सामान को अपने पास न रखने वाले धूर्त एवं चतुर व्यक्ति को डरा-धमकाकर तथा पिटाई करके उससे सत्य उगलवाना चाहिए।

देशं कालं दिशं जातिं नामं वा सम्प्रतिश्रयम्।
कृतं कर्मकरा वा स्युः प्रष्टव्यास्ते विनिग्रहे॥ 9॥

चोर से सत्य उगलवाने के लिए निम्नोक्त रूप से प्रश्न पूछने चाहिए—

1. चोरी के समय तुम कहां थे?

2. चोरी का स्थान तुम्हारे निवास से कितनी दूर है?

3. क्या चोरी के समय तुम चोरी के स्थान की दिशा में थे अथवा किसी अन्य दिशा में थे?

4. तुम्हारा वास्तविक नाम क्या है? क्या तुम सभी स्थानों पर इसी नाम से जाने जाते हो?

5. तुम्हारी जाति क्या है?

6. तुम्हें आश्रय देने वाले कौन-कौन से लोग हैं और तुम्हारा उनसे क्या सम्बन्ध है?

7. तुम्हारे नौकर-चाकर कौन-कौन से हैं और कहां हैं?

इसके अतिरिक्त चोर पर दबाव बनाये रखने के लिए उसके बन्धु-बान्धवों तथा नौकर-चाकरों को बांधकर रखना चाहिए।

वर्णस्वराकारभेदात् संसदि त्वनिवेदनात्।
अदेशकालदृष्टत्वाद्वासस्याप्यविशोधनात् ॥ 10 ॥
असद्व्ययात् पूर्वचौर्यादसत्संसर्गकारणात्।
लेख्यैरप्यवगन्तव्या न होढेनैव केवलम्॥ 11 ॥

चोरी के सामान के मिलने के अतिरिक्त निम्नोक्त अन्य लक्षणों से व्यक्ति के चोरी में लिप्त होने का अनुमान लगाना चाहिए—

1. चेहरे के रंग का उड़ना, फीका व पीला पड़ना।
2. स्वर का बदलना, कांपना, घबराहट होना।
3. चेहरे का ऊपर न उठा पाना, अर्थात् अपराध-बोध से ग्रस्त होना।
4. सभा में बोल न पाना, जिह्वा का लड़खड़ाना, वाणी का अवरुद्ध हो जाना।
5. ग़लत स्थान—सुनसान, खण्डहर, जंगल, बाग़, क़िला, श्मशान आदि में ग़लत समय—गरमी की दोपहरी या रात के अंधेरे में घूमता-भटकता दीखना।
6. भद्दी हंसी हंसना।
7. अनाप-शनाप और बेकार की वस्तुओं पर ख़र्च करना।
8. व्यसनों—जुआ, शराब, वेश्यागमन—में ग्रस्त होना।
9. कलंकित (बदनाम) चोरों के साथ सम्बन्ध रखना तथा
10. चोरी से सम्बद्ध किसी लेख का मिल जाना।

दस्युवृत्ते यदि नरे शङ्का स्यात्तस्करेऽपि वा।
यदि स्पृशेत लेशेन कार्यः स्याच्छपथं ततः ॥ 12 ॥

राजा को समाज के किसी भी व्यक्ति से चोरी-डाके से सम्बन्धित व्यक्ति के

विरुद्ध उपलब्ध किसी भी साक्ष्य अथवा प्रमाण को अत्यन्त गम्भीरता से लेना चाहिए तथा सन्दिग्ध व्यक्ति से शपथपूर्वक गहरी पूछताछ करनी चाहिए।

चौराणां भक्तदा ये स्युस्तथाप्युदकदायकाः।
आवासदा देशिकाश्च तथैवोत्तरदायकाः॥ 13॥
क्रेतारश्चैव भाण्डानां प्रतिग्राहिण एव च।
समदण्डाः स्मृतास्ते तु ये च प्रच्छादयन्ति तान्॥ 14॥

1. चोरों को अन्न, जल तथा आवास जुटाने वालों।
2. चोर से पूछे प्रश्नों का उसकी ओर से उत्तर देने वालों।
3. चोरी के सामान का क्रय-विक्रय करने वालों।
4. चोरों अथवा चोरी के समान को छिपाने वालों तथा
5. चोरों को उसकी खोज के लिए सरकार द्वारा उठाये जा रहे पगों की सूचना देने वालों को भी चोर समझना तथा चोरों के लिए निर्धारित दण्ड से दण्डित करना चाहिए।

राष्ट्रेषु राष्ट्राधिकृताः सामन्ताश्चैव चोदिताः।
अभ्याघाते तु मध्यस्था यथा चौरास्तथैव ते:॥ 15॥

राजा द्वारा चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त तथा सूचना मिलने पर त्वरित कार्यवाही न करने वाले सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों को, चोरी की जानकारी रखने वाले चोरों के पड़ोसियों को तथा चोरी का पता चलने पर 'बचाओ' की गुहार सुनने पर वहां से भाग खड़े होने वालों को भी चोर समझना और चोर के लिए निर्धारित दण्ड देना चाहिए।

गोचरे यस्य मुष्येत तेन चौराः प्रयत्नतः।
मृग्या दाप्योऽप्यथवा मोषं पदं यदि न निर्गतम्॥ 16॥

गोचारण क्षेत्र में हुई चोरी के लिए उस क्षेत्र की नाकाबन्दी कर देनी चाहिए, अर्थात् चोर को बाहर निकलने-भागने ही नहीं देना चाहिए। यदि चोर भागने की चेष्टा नहीं करता है, चोरी का सामान स्वामी को लौटा देता है और अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करता है, तो उसकी प्रताड़ना करने के पश्चात् उसे छोड़ देना चाहिए।

निर्गते तु यदा यस्मिन्नष्टेऽन्यत्र न पातयेत्।
सामन्तान्मार्गपालांश्च दिक्पालांश्चैव दापयेत्॥ 17॥

चोर के गोचारण क्षेत्र से बाहर निकलकर भाग जाने पर आस-पास चारों ओर नियुक्त रक्षकों को चोर को ढूंढ़ने का दायित्व सौंपना चाहिए। रक्षकों के विफल होने पर उनसे ही चोरी के सामान की भरपाई करानी चाहिए।

गृहे वै मुषिते राजा चौरग्राहांस्तु दापयेत्।
आरक्षकान् राष्ट्रिकांश्च यदि चौरो न लभ्यते॥ 18॥

घर में हुई किसी चोरी के अपराधी चोर के न पकड़े जाने पर गृहस्वामी को चोर को पकड़ने के लिए व चोरी न होने देने के लिए नियुक्त सिपाहियों—चौकीदारों, सीमा पर नियुक्त प्रहरियों तथा राज्य-रक्षा के लिए नियुक्त अधिकारियों—से चोरी के सामान की भरपाई करानी चाहिए।

यदि वा दोषकर्तैष तस्मिन्मोषे तु संशयः।
मुषितः शपथं दाप्यो मोषे वै शुद्धिकारणात्॥ 19॥

चोरी की रिपोर्ट के झूठा होने का सन्देह उत्पन्न होने पर रिपोर्ट लिखाने वाले को आड़े हाथों लेना चाहिए और सत्य की गहरी छानबीन करनी तथा सम्बद्ध व्यक्ति से शपथपत्र (*ऐफ़िडेविट*) लिखवाना चाहिए। रिपोर्ट के झूठा सिद्ध होने पर सम्बद्ध व्यक्ति को अभियुक्त मानकर दण्डित करना चाहिए।

अचौरे बोधितो मोषं चौरो वै शुद्धकारणात्।
चौरे लब्धे लभेयुस्ते द्विगुणं प्रतिपादिताः॥ 20॥

चोर न होने पर, सन्देह के कारण चोरी के आरोप में पकड़े गये व्यक्ति को अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए प्रमाण जुटाना पड़ता है। वास्तविक चोर के पकड़े जाने पर सन्देह में पकड़े गये व्यक्ति को क्षतिपूर्ति के रूप में चुराये द्रव्य के मूल्य का दुगुना दिया जाता है।

चौरहृतं प्रपद्यैव सरूपं प्रतिपादयेत्।
तदभावे तु मूल्यं स्याद्दण्डं दाप्यश्च तत्समम्॥ 21॥

चोरी का माल जिस रूप में पकड़ा जाता है, उसी रूप में सरकार के सामने प्रस्तुत करना चाहिए। चोर के पकड़े जाने पर, परन्तु चोरी के माल के न मिलने पर चोर से चोरी के माल का दाम और उतना ही जुर्माना वसूल करना चाहिए।

काष्ठकाण्ड तृणादीनां मृण्मयानां तथैव च।
वेणुवैणवभाण्डानां वेतसस्यास्थिचर्मणोः॥ 22॥
शाकहरितमूलानां हारणे तृणपुष्पयोः।
गोरसेक्षुविकाराणां तथा लवणतैलयोः॥ 23॥
पक्वान्नानां कृतान्नानां मद्यानामामिषस्य च।
सर्वेषामल्पमूल्यानां मूल्यात् पञ्चगुणो दमः॥ 24॥

निम्नोक्त अल्पमूल्य वस्तुओं की चोरी करने वालों के पकड़े जाने पर उनको चुरायी वस्तु के दाम का पांच गुना अर्थ-दण्ड (जुर्माना) के रूप में चुकाना पड़ता है—

1. लकड़ी, 2. घास-फूस, 3. कुश और काना—लेखनी के रूप में प्रयोग में

आने वाला मज़बूत तिनका, 4. मिट्टी के बरतन, मूर्तियां, खिलौना आदि, 5. बांस अथवा बांस से बनी टोकरी, पिटारी, कुर्सी आदि, 6. बेंत, 7. चमड़ा अथवा चमड़े से बना सामान—जूता, मशक आदि, 8. शाक तथा हरी सब्ज़ियां—गाजर, आलू, मूली, शकरकन्दी आदि, 9. फल-फूल, 10. दूध, 11. गन्ना तथा उसके रस से बना गुड़ आदि, 12. नमक, 13. तेल, 14. पका भोजन, 15. गेहूं, 16. मदिरा तथा 17. मांस आदि।

तुलाधरिममेयानां गणिमानां च सर्वतः।
एभ्यस्तूत्कृष्टमूल्यानां मूल्यादष्टगुणो दमः ॥ 25 ॥

उपर्युक्त अल्पमूल्य के सत्रह पदार्थों से अपेक्षाकृत अधिक मूल्य वाले निम्नोक्त पदार्थों को चुराने वाले चोर से सामान के मूल्य का आठ गुना दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिए—

तराज़ू, पलड़े, बाट, मापने का फ़ीता, गज़ आदि तथा गिनने का सामान-कौड़ियां आदि।

धान्य दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः।
न्यूनं वैकादशगुणं दण्डं दाप्योऽब्रवीन्मनुः ॥ 26 ॥

मनु के अनुसार दस मटकों से अधिक परिमाण में धान्य चुराने वाले को शारीरिक दण्ड देना चाहिए। इससे कम परिमाण के धान्य की चोरी के लिए चुराये गये अन्न के मूल्य का ग्यारह गुना जुर्माने के रूप में वसूल करना चाहिए।

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्।
रत्नानां चैव मुख्यानां शतादभ्यधिके वधः ॥ 27 ॥

सुवर्ण, रजत, उत्तम वस्त्रों, मुख्य रत्नों—हीरा, पन्ना, पुखराज—आदि की चोरी करने वाले से इन मूल्यवान् पदार्थों के दाम का सौगुना अर्थ-दण्ड वसूल करना चाहिए।

पुरुषं हरतः पात्यो दण्ड उत्तमसाहसः।
सर्वस्वं स्त्रीं तु हरतः कन्यां तु हरतो वधः ॥ 28 ॥

पुरुष के अपहरण का दण्ड उत्तम साहस, स्त्री (विवाहिता) के अपहरण का दण्ड अपहर्ता के सर्वस्व पर अधिकार तथा कन्या के अपहरण के लिए मृत्यु-दण्ड देना चाहिए।

महापशूंस्तु नयतो दण्ड उत्तमसाहसः।
मध्यमो मध्यमपशून् पूर्वः क्षुद्रपशुं हरन् ॥ 29 ॥

गधा, भेड़, बकरी आदि छोटे पशुओं, गाय, बैल और भैंस आदि मध्यम स्तर के पशुओं तथा अश्व, ऊंट और हाथी आदि बड़े पशुओं को चुराने का क्रमशः पूर्व साहस, मध्यम साहस तथा उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए।

चतुर्विंशावरः पूर्वः परं षण्णवतिर्भवेत्।
चतुःशतपरो यश्च मध्यमो द्विशतावरः ॥ 30 ॥
सहस्त्रं तूत्तमो ज्ञेयः परः पञ्चशतावरः।
त्रिविधः साहसेष्वेवं दण्डः प्रोक्तः स्वयम्भुवा ॥ 31 ॥

महर्षि मनु द्वारा अपनी स्मृति में किये गये निर्देश-उल्लेख के अनुसार—नक़द 24-96 पणों (रुपयों) की (सौ पणों तक की), 200-400 पणों की तथा 500-1000 पणों की चोरी करने वाले को क्रमशः पूर्व साहस, मध्यम साहस तथा उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए।

प्रथमे ग्रन्थिभेदानामङ्गुल्यङ्गुष्ठयोर्वधः।
द्वितीये चैव तज्ज्ञेयं दण्डः पूर्वस्तु साहसः ॥ 32 ॥

पहली बार जेब काटने का दण्ड चोर की अंगुलि और उसके अंगूठे को काट देना है। इस अपराध को दुहराने वाले, अर्थात् दूसरी बार जेब काटने वाले को पूर्व साहस दण्ड देना चाहिए।

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु स्थूरायाश्छेदनं भवेत्।
दासीं तु हरतो नित्यमर्धपादविकर्तनम् ॥ 33 ॥

ब्राह्मणों के स्वामित्व वाली गायों के हरण करने का दण्ड चोर के दोनों घुटनों को नकारा कर देना है तथा ब्राह्मणों के स्वामित्व वाली दासी के अपहरण का दण्ड चोर के पैरों को अधकटा बना देना है।

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते।
तत्तदेवास्यच्छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥ 34 ॥

चोर अपने जिस-जिस अंग से चोरी करता है, उसके उस-उस अंग को काट देना ही उसके अपराध का दण्ड है। यही मनु की भी व्यवस्था है।

गरीयसि गरीयांसमगरीयसि वा पुनः।
स्तेने निपातयेद्दण्डं न यथा प्रथमे तथा ॥ 35 ॥

देश-काल के अनुसार अपराध की गुरुता और लघुता के अनुरूप ही राजा को गुरु तथा लघु दण्ड का विधान करना चाहिए। उदाहरणार्थ, सुभिक्ष में अन्न की चोरी के लिए जिस दण्ड का विधान है, दुर्भिक्ष में उसी अपराध के लिए वही दण्ड न्यायोचित नहीं है।

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युर्ब्राह्मणस्त्वक्षतः सदा ॥ 36 ॥

मनु ने तीन—क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—वर्णों के लोगों के द्वारा चौर्यादि के लिए दण्ड का विधान किया है। ब्राह्मण को तो सर्वथा अदण्ड्य माना है। तीनों वर्णों के अपराधियों के निम्नोक्त दस अंगों पर प्रहार किया जाना चाहिए।

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ 37॥

दस प्रहरणीय अंग है—1. लिंग (जननेन्द्रिय), 2. उदर, 3. जिह्वा, 4. दोनों हाथ, 5. दोनों पैर, 6. चक्षु, 7. नासिका, 8. दोनों कान, 9. धन तथा देह।

टिप्पणी—यहां चूतड़ों, टांगों और पीठ का उल्लेख नहीं हुआ। प्राय: बेतों का प्रहार इन्हीं तीन अंगों पर किया जाता है। 'देह' से स्मृतिकार का अभीष्ट स्पष्ट नहीं है।

लिंग, आंख, नाक, कान तथा नासिका आदि कोमल अंगों पर तो प्रहार वर्जित होना चाहिए।

अपराधं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वत:।
सारानुबन्धावालोक्य दण्डानेतान् प्रकल्पयेत्॥ 38॥

देश और काल के सन्दर्भ में अपराधी की मानसिकता तथा उसके चरित्र आदि की समीक्षा करने के उपरान्त ही उपर्युक्त दस स्थानों पर दण्ड देने का आदेश देना चाहिए। उदाहरणार्थ, सुशिक्षित एवं सच्चरित्र व्यक्ति द्वारा प्रयत्न करने पर भी नौकरी न पाने से निराश तथा अपने भूखे बच्चे को बिलखता न देख सकने के कारण चोरी करने को विवश होने पर उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिए। आंख मींचकर दण्ड संहिता का पालन करना उचित नहीं।

न मित्रकारणाद्राज्ञा विपुलाद्वा धनागमात्।
उत्सृष्टव्य: साहसिकस्त्यक्तात्मा मनुरब्रवीत्॥ 39॥

मनु महाराज का यह भी स्पष्ट कथन है कि पकड़े गये चोर-डाकू के राजा का सम्बन्धी होने पर अथवा उसके द्वारा भारी घूस का प्रस्ताव किये जाने पर, उसे किसी भी स्थिति में छोड़ नहीं देना चाहिए। पक्षपात करने वाला राजा अथवा राज्यकर्मचारी नरकगामी होते हैं।

यावानबध्यस्य वधे तावान् बध्यस्य मोक्षणे।
भवत्यधर्मो नृपतेर्धर्मस्तु विनियच्छत:॥ 40॥

जिस प्रकार अवध्य का वध करना और वध्य का वध न करके उसे छोड़ देने से राजा को महापाप लगता है, उसी प्रकार विचारपूर्वक घोषित अपराधी मनोवृत्ति के चोर-डाकू के प्रति पक्षपात करने, उसके प्रति अनुग्रह दिखाने पर भी राजा पाप का भागी होता है। जिस प्रकार निरपराध को दण्ड देना पाप है, उसी प्रकार अपराधी को दण्ड न देना भी पाप है।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
निर्वास्यं कारयेत् काममिति धर्मो व्यवस्थित:॥ 41॥

राजा को किसी भी प्रकार के छोटे-बड़े अपराध करने पर ब्राह्मण को कभी

दण्ड नहीं देना चाहिए। राजा को अधिक-से-अधिक किल्वषी (पापकर्मा) ब्राह्मण को अपने देश से निर्वासित कर देना चाहिए।

सर्वस्वं वा हरेद्राजा चतुर्थं वाऽवशेषयेत्।
एतेभ्योऽनुस्मरन्धर्मं प्राजापत्यमिति स्थितिः ॥ 42 ॥

राजा को प्रयत्न करने पर भी न सुधरने वाले और देश से निकलने को असहमत ब्राह्मण की सम्पत्ति छीन लेनी चाहिए अथवा उसकी सम्पत्ति का चौथा भाग उसके निर्वाह के लिए छोड़कर शेष पर अपना अधिकार कर लेना चाहिए। ऐसा करते समय राजा को दुखी मन से यह कहना चाहिए कि प्रजापति द्वारा विहित धर्म की रक्षा के लिए, उसे न चाहते हुए भी ऐसा करना पड़ रहा है—देवता उसे क्षमा करें।

ब्राह्मणस्यापराधेषु चतुर्ष्वङ्को विधीयते।
गुरुतल्पे सुरापाने स्तेयं ब्राह्मणहिंसने ॥ 43 ॥

ब्राह्मण द्वारा सुरापान, गुरुपत्नी-गमन, स्तेय तथा ब्रह्महत्या आदि निकृष्ट एवं जघन्य कार्यों के किये जाने पर भी उसके शरीर पर इन अपराधों के सूचक चार प्रकार के चिह्नों को अंकित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे अन्य किसी प्रकार का आर्थिक अथवा शारीरिक दण्ड नहीं देना चाहिए।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने ध्वजः स्मृतः।
स्तेये तु श्वपदं कृत्वा शिशिपित्तेन पूरयेत् ॥ 44 ॥

सुरापान करने वाले ब्राह्मण के मस्तक पर ध्वजा का, गुरुपत्नी-गमन करने वाले के मस्तक पर भग का तथा चोरी करने पर कुत्ते के पद का चिह्न बनाना चाहिए। कुरेदे हुए चिह्न के भीतर मोरपित्त—मोरपंख की राख—भर देनी चाहिए, जिससे ऐसा चिह्न कभी मिट अथवा लुप्त न हो सके, अपितु स्थायी रूप से सबको दीखता रहे, ताकि लोग उसका बहिष्कार करने में भूल-चूक न कर सकें।

अशिराः पुरुषः कार्यो ललाटे ब्रह्मघातिनः।
असम्भाष्यश्च कर्त्तव्यस्तन्मनोरनुशासनम् ॥ 45 ॥

ब्रह्महत्या करने वाले ब्राह्मण के मस्तक पर उसके इस पाप के सूचक मस्तकविहीन (सिरकटे) पुरुष का चिह्न अंकित किया जाता है। महाराज मनु का स्पष्ट निर्देश है कि इन चारों प्रकार के अपराधी ब्राह्मणों का सामाजिक बहिष्कार कर देना चाहिए। यहां तक कि उनके साथ बातचीत भी नहीं करनी चाहिए।

राजा स्तेनेन गन्तव्यो मुक्तकेशेन धावता।
आचक्षणेन तत्स्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ 46 ॥
अनेना भवति स्तेनः स्वकर्मप्रतिपादनात्।
राजा तत्स्पृशेदेनमुत्सृजेत्तु ह्यकिल्विषम् ॥ 47 ॥

यदि चोरी करने पर चोर पश्चात्ताप की आग में जलता हुआ व मुक्तकेश अवस्था में चारों ओर दौड़ता हुआ, उच्च स्वर में अपने पाप को सार्वजनिक रूप से घोषित करता है और रुदन करता हुआ राजा के पास जाता है तथा दण्ड के लिए अपने आपको प्रस्तुत करता है, तो ऐसे चोर को सुधरने का अवसर देना चाहिए। अपने मुख से ही अपने पाप को स्वीकार करने, अपने कृत्य पर लज्जित होने; दण्ड के लिए अपने को प्रस्तुत करने वाले के प्रति राजा को सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए उसे क्षमा कर देना चाहिए तथा अपने हाथ के स्पर्श से उसे पवित्र बना देना चाहिए।

टिप्पणी—राजा के हाथ का स्पर्श पतित को पवित्र बनाने वाला माना गया है।

राजाभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ 48॥

यदि पापाचारी व्यक्ति अपने पापों के लिए प्रायश्चित्त करते हैं, राजा के समक्ष अपने आपको दण्ड के लिए प्रस्तुत करते हैं तथा राजा द्वारा प्रदत्त दण्ड को सहर्ष स्वीकार करते हैं, तो वे भी पापमुक्त एवं शुद्ध होकर सन्तों के समान मरणोपरान्त स्वर्गलोक में जाने के अधिकारी बन जाते हैं।

शासनाद्वा विमोक्षाद्वास्तेनो मुच्यति किल्विषात्।
अशासनात्तु तद्राजा स्तेनस्याप्नोति किल्विषम्॥ 49॥

राजा द्वारा अपने सामने उपस्थित चोर पर अनुग्रह करने, अर्थात् बिना दण्ड दिये मुक्त करने अथवा समुचित दण्ड देने पर चोर पाप-मुक्त हो जाता है। राजा को यह नहीं भूलना चाहिए कि चोर को दण्ड दिये बिना छोड़ देने पर, अर्थात् किसी प्रकार का पश्चात्ताप करने पर चोर के पाप का फल स्वयं राजा को भुगतना पड़ता है।

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अतः प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः॥ 50॥

विवेकहीन सज्जनों के शासक तो उनके गुरुजन होते हैं और दुष्ट आततायियों पर राजा का ही शासन रहता है। अभिप्राय यह है कि बुद्धिमान् व्यक्तियों द्वारा अपराध हो जाने अथवा किये जाने पर गुरुओं द्वारा उन्हें समझाना पर्याप्त होता है। वे प्रबोधन से ही अपराधवृत्ति का त्याग कर सन्मार्ग ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु दुष्ट व्यक्ति समझाने-बुझाने की भाषा को नहीं समझते—'लातों के भूत बातों से नहीं मानते'—उन्हें सन्मार्ग पर लाने का एकमात्र उपाय दण्ड ही है और यह कार्य राजा ही कर सकता है।

इन दोनों—प्रकट सज्जनों और प्रकट दुर्जनों—के अतिरिक्त, भीतर से दुर्जन,

परन्तु ऊपर से सज्जन बने, अर्थात् प्रच्छन्न धूर्तों को सुधारने का दायित्व तो विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यमराज ही करते हैं, अर्थात् वे ही ऐसे दुष्ट-कपटी जनों को अनेक प्रकार की नरक यातनाएं देकर उन्हें सचेत करते रहते हैं।

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
द्विरष्टापाद्यं वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य तु॥ 51॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्ठीत्येवं स्वायम्भुवोऽब्रवीत्।
विद्यापि च विशेषेण विद्वत्स्वभ्यधिकं भवत्॥ 52॥

महर्षि मनु के अनुसार मूर्खों द्वारा किये गये अपराध का दण्ड समझदारों द्वारा किये जाने वाले अपराध के दण्ड की तुलना में कम होता है। मूर्ख तो मूर्ख है। उसके द्वारा किया अपराध मूर्खता है। उसे तो अच्छे-बुरे की परख ही नहीं, परन्तु विवेकशील व्यक्ति भी मूर्खों के समान आचरण अथवा उनका अनुसरण करता है, तो निश्चित है कि उसे अधिक दण्ड मिलना चाहिए। मूर्खों द्वारा किये अपराध का तो कोई समर्थन नहीं करता, परन्तु विवेकशील व बुद्धिमानों द्वारा किया ग़लत-सही कार्य तो दूसरों के लिए उदाहरण बन जाता है। यही कारण है कि मनु महाराज ने एक ही अपराध के लिए विभिन्न वर्णों के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न दण्ड की व्यवस्था दी है। उदाहरणार्थ, चोरी के लिए शूद्र से चोरी के सामान का आठ गुणा, वैश्य से सोलह गुणा, क्षत्रिय से बत्तीस गुणा और ब्राह्मण से चौंसठ गुणा दाम दण्ड के रूप में वसूल करना चाहिए; क्योंकि विद्या-विवेकसम्पन्न बुद्धिमानों का अपराध और दण्ड अधिक ही होता है।

शारीरश्चार्थदण्डश्च दण्डस्तु द्विविधः स्मृतः।
शारीरं दशधा प्रोक्तमर्थदण्डस्त्वनेकधा॥ 53॥

अपराध के लिए दिये जाने वाले दण्ड के दो रूप हैं—1. शारीरिक तथा 2. आर्थिक। शारीरिक दण्ड के दस और आर्थिक दण्ड के अनेक रूप-भेद हैं।

काकिण्यादिस्त्वर्थदण्डः सर्वस्वान्तस्तथैव च।
शारीरः सन्निरोधादिर्जीवितान्तस्तथैव च॥ 54॥

बन्दी बनाने से लेकर मृत्यु-दण्ड देने तक मारना-पीटना आदि यातनाएं शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत आती हैं तथा कौड़ी से लेकर सर्वस्व (सारी सम्पत्ति) का हरण आर्थिक दण्ड है।

काकिण्यादिस्तु यो दण्डः स तु भाषावरः स्मृतः।
भाषावराद् योऽयं प्रोक्तः कार्षापणपरस्तु सः॥ 55॥

उत्तर भारत में लेन-देन में काकिणी अथवा वराटिका (कौड़ियों) का प्रचलन है, परन्तु दक्षिण भारत में लेन-देन के रूप में प्रचलित मुद्रा कार्षापण (लोहे का सिक्का) कहलाती है। वैसे काकिणी से अधिक मूल्य की मुद्रा माष और माष से

भी अधिक मूल्य की मुद्रा कार्षापण है। एक प्रकार से कार्षापण का मूल्य साठ अथवा अस्सी काकिणी है।

कार्षापणावराद् यस्तु चतुः कार्षापणावरः।
द्व्यवरोऽष्टापरश्चान्यस्त्र्यवरो द्वादशोत्तरः॥ 56॥

इस प्रकार विभिन्न अपराधों के लिए निर्दिष्ट एक, दो, तीन तथा चार कार्षापणों से क्रमशः बीस, चालीस, अस्सी तथा एक सौ साठ काकिणी समझना चाहिए। कार्षापण के मूल्य में न्यूनाधिकता मान्य होने के कारण अपराध-विशेष के लिए निर्दिष्ट दण्ड कार्षापण का सवाया अथवा ड्योढ़े, 2 का 2½, 3, 4 का 5, 6 तथा 8 का 12 किया जा सकता है, इससे अधिक नहीं।

कार्षापणो दक्षिणस्यां दिशि रौप्यः प्रवर्तते।
पणैर्निबद्धः पूर्वस्यां विंशतिस्तु पणाः स तु॥ 57॥

दक्षिण भारत (आन्ध्र, कर्नाटक, तमिलनाडु तथा केरल) में कार्षापण का मूल्य चांदी का एक रुपया है। पूर्व भारत (बिहार, बंगाल, उड़ीसा तथा असम) में सवा रुपया (बीस आने) को (बीस-पच्चीस वर्ष पूर्णदशमलव पद्धति नहीं अपनाये जाने पर रुपये के सोलह आने और तौल में सेर की सोलह छटांकें मान्य एवं प्रचलित थीं) कार्षापण माना जाता है।

माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य तु।
काकिणी तु चतुर्भागी माषस्य च पणस्य च॥ 58॥

कार्षापण का बीस आना मूल्य मानने पर उसके बीसवें भाग को माष (आना) कहा जाता है और एक माष की चार काकिणी (पैसे) होते हैं।

पञ्चनद्याः प्रदेशे तु संज्ञा या व्यावहारिकी।
कार्षापणप्रमाणं तु निबद्धमिह नेतया॥ 59॥

पञ्चनद प्रदेश—आज तो पूर्वी पंजाब के पाकिस्तान में चले जाने से पांच नदियों का प्रदेश तीन नदियों वाला रह गया है। इसके अतिरिक्त उसके भी तीन भागों—पंजाब, हरियाणा तथा हिमाचल हो गये हैं—में तो सोलह आने मूल्य के कार्षापण का लोकव्यवहार में पर्याप्त प्रचलन है। इसलिए उसे लिपिबद्ध करना आवश्यक नहीं समझा गया।

कार्षापणोऽन्तिका ज्ञेया ताश्चतस्त्रस्तु धानकः।
तद्द्वादश सुवर्णस्तु दीनारण्यः स एच च॥ 60॥

सबसे बड़ा सिक्का कार्षापण है, चार कार्षापणों के योग का नाम धानक है। बारह धानकों का योग सुवर्ण कहलाता है और इसी सुवर्ण का नाम दीनार है।

वार्ता तु यां चाप्यथ दण्डनीतिम्
राजाऽनुवर्त्तेत सदाऽप्रमत्तः।

हन्यादुपायैर्निपुणैर्गृहीतान्
तथैव शास्तावनिगृह्य पापान्॥ 61॥

राजा को विवेक से कार्य लेते हुए प्रयोगों और अनुभवों से सुपरीक्षित एवं व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी सिद्ध दण्डात्मक उपायों से पापियों तथा अपराधियों को पकड़कर व बन्धन में डालकर रखना चाहिए तथा देश में वार्ता—कृषि, वाणिज्य और पशुपालन—के विकास के अवसर जुटाकर प्रजा को समृद्ध बनाना चाहिए।

देश की समृद्धि एवं सम्पन्नता में सहायक सिद्ध होने वाली दण्ड-नीति का प्रयोक्ता राजा ही प्रजा का अनुराग तथा सम्मान, यश एवं प्रतिष्ठा पाने में सफल होता है।

॥ नारदस्मृति समाप्त॥

श्लोकानुक्रमणिका

अ

ख

ग

ध

न

प

फ

ब

भ

स

ह

***

DYNAMIC

Read Dynamic !

To Be Dynamic !!

Dynamic's Precious Series
For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Religious Series		
.... मनु स्मृति*	महर्षि मनु	180.00
.... छान्दोग्य उपनिषद्*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... वेदान्त दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... सांख्य दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	60.00
.... न्याय दर्शन*	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... नारद स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	90.00
.... याज्ञवल्क्य स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... पाराशर स्मृति*	रामचन्द्र वर्मा	50.00
.... योग वासिष्ठ*	रामचन्द्र वर्मा	100.00
.... बृहत कर्म काण्ड रत्नाकर*	राजबली पाण्डेय	100.00
Dynamic Personality Series		
.... सरदार पटेल : व्यक्तित्व के अनछुए पहलू*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00
Dynamic Sports Series		
.... क्रिकेट वर्ल्ड कप*	यशपाल सिंह	50.00
.... खेलों के नियम*	गंगेश गुंजन	50.00
Dynamic Cookery Series		
.... स्वादिष्ट सूप-सलाद	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट व्यंजन	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट दालें एवं सब्जियां	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वीट डिश एवं पेय पदार्थ	अंजू गर्ग	50.00
.... स्वादिष्ट स्नैक्स*	अंजू गर्ग	50.00

Dynamic's Precious Series
For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Career Series		
.... कैरियर के नये आयाम	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... कैरियर के हजार सवाल	पुष्पेन्द्र कुमार	70.00
.... विदेशों में कैरियर के अवसर	पुष्पेन्द्र कुमार	60.00
.... युवतियों के लिए स्मार्ट कैरियर्स*	डा. मोनिका जैन	60.00
.... Career Excellence*	Col Aditya Parida	100.00
.... Career - A Turning Point*	Pushpendra Kumar	70.00
.... Interview (A Meeting of Two Minds)*	A. K. Gandhi	100.00
Dynamic Pleasure Series		
.... सर्वश्रेष्ठ नज़्में	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ गज़लें	पराग पुष्प	50.00
.... सर्वश्रेष्ठ शेर	पराग पुष्प	50.00
.... शेर-ओ-शायरी	पराग पुष्प	50.00
.... हास्यमेव जयते	पराग पुष्प	50.00
.... पॉपुलर कलाम*	पॉपुलर मेरठी	70.00
.... पहली बारिश*	डॉ. नवाज़ देवबन्दी	100.00
.... जीवन सार*	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Essence of Life*	Pushpendra Kumar	50.00
Dynamic Literature Series		
.... कौटिल्य अर्थ शास्त्र*	आचार्य कौटिल्य	225.00
.... घर-बाहर*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... नौका डूबी*	रवीन्द्र नाथ टैगोर	60.00
.... आँख की किरकिरी*	रवीन्द्र नाथ टैगार	60.00

DYNAMIC

Dynamic's Precious Series
For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Tourism Series		
.... भारत की सैर	पुष्पेन्द्र कुमार	100.00
Dynamic Astrology Series		
.... मुखाकृति विज्ञान	पं० नवीन सेमवाल	50.00
.... ज्योतिष ज्ञान	डॉ० नरेश त्यागी	70.00
.... अंक ज्योतिष	आचार्य वादरायण	70.00
.... हस्त रेखा शास्त्र	पं. नवीन सेमवाल	150.00
.... हस्त रेखाओं के गोपनीय रहस्य	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... हस्त रेखा शास्त्र का वैज्ञानिक विवेचन*	विलियम जी. बेनहम्	180.00
.... हस्त रेखा विज्ञान: एक अध्ययन*	कामटे सी.डी. सेण्ट जर्मेन	150.00
.... Numerology*	Acharya Vaadrayan	70.00
.... Geo-Energy*	Dr. V. K. Saxena	200.00
.... Feng-Shui*	Dr. V. K. Saxena	200.00
Dynamic Informative Series		
.... बच्चों के सर्वश्रेष्ठ नाम	डॉ० मोनिका जैन	50.00
.... हमारे प्रिय जीव-जन्तु	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... The Second World War	A.K. Gandhi	50.00
.... Some Great Mathematicians of the 19th Century	J.N. Kapur	150.00
.... भारत के क्रांतिवीर	डॉ० ताराचन्द पाल बेकल	50.00
.... रंग और आप	सत्यार्थ सूत्र	50.00
.... आश्चर्यजनक जानकारियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... मेरा संघर्ष*	हिटलर की आत्म कथा	100.00
.... भारतीय संस्कृति के पाँच हजार वर्ष*	डा. रवीन्द्र कुमार	50.00

14549

Dynamic's Precious Series
For Everyone's Life

Name of The Book	Author	Price
Dynamic Children Choice Series		
.... सर्वश्रेष्ठ बालगीत	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... बच्चों की सर्वश्रेष्ठ कहानियां	पुष्पेन्द्र कुमार	50.00
.... Why Devils have Horns*	Folk Tales-1	30.00
.... The Mustached Man*	Folk Tales-2	30.00
.... The Magic Hubble-Bubble*	Folk Tales-3	30.00
.... The Talking Tree*	Folk Tales-4	30.00
.... Paoli Tales*	Folk Tales-5	30.00
.... Vikram and Baital*	Indian Classics-1	30.00
.... Tenali Rama*	Indian Classics-2	30.00
.... Akbar Birbal*	Indian Classics-3	30.00
.... Ramayana*	Indian Classics-4	30.00
.... Panchatantra*	Indian Classics-5	30.00
.... Little Red Riding Hood*	Fairy Tales-1	30.00
.... Cinderella*	Fairy Tales-2	30.00
.... The Emperor's New Clothes*	Fairy Tales-3	30.00
.... Snow White and the Seven Dwarfs*	Fairy Tales-4	30.00
.... Gulliver's Travels*	Fairy Tales-5	30.00
.... Horns on the King's Head *	Fancy Tales-1	30.00
.... Tree on the Shoulder*	Fancy Tales-2	30.00
.... Snake in the pit*	Fancy Tales-3	30.00
.... One-Eyed Groom*	Fancy Tales-4	30.00
.... The Lion Goes Young*	Fancy Tales-5	30.00
.... Sindbad the Sailor (First Voyage)*	Arabian Nights -1	30.00
.... Sindbad the Sailor (Second Voyage)*	Arabian Nights-2	30.00
.... Sindbad the Sailor (Third Voyage)*	Arabian Nights-3	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fourth Voyage)*	Arabian Nights-4	30.00
.... Sindbad the Sailor (Fifth Voyage)*	Arabian Nights-5	30.00

* हमारे नवीनतम प्रकाशन

नारदस्मृति

'आज उपलब्ध स्मृतियों में 'नारद स्मृति' का अपना अलग ही महत्व है। इसमें जैसा संक्षिप्त, तर्कसंगत, उपयोगी, व्यावहारिक एवं आवश्यक विवेचन हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नारदस्मृति में वर्णित आचार-संहिता, व्यवहार-पद, दण्ड-प्रणाली तथा राजधर्म का उत्कृष्ट, वैज्ञानिक, तर्कयुक्त, युक्तिसंगत, सरल एवं संक्षिप्त परिचय अपने आप में अनुपम एवं अद्वितीय है।'

मूल्य: 90/-

ISBN 81-7933-116-4

9788179331163

DYNAMIC

डायनेमिक पब्लिकेशन्स (इण्डिया) लि.